सेवा की है। सर्वसाधारण को इस संस्था की पुस्तकें लेकर इसकी सहायता करनी चाहिए।"

—मदनमोहन मालवीय

मुद्रक
जीतमल लूणिया
सस्ता-साहित्य-प्रेस, अजमेर।

एशिया की क्रान्ति

Light is breaking
Thrones are quaking
Hark! the Trumpet
of the Free!

लेखक
श्री सत्यनारायण

प्रकाशक
सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर

मूल्य एक रुपया बारह आना

लगानेवाले अपनी ओर मिलाये रहते हैं इसलिए अख़बारों की नीति भी इन्हीं की नीति रहती है। इस प्रकार का प्रत्येक साम्राज्यवादी राष्ट्र संसार के आर्थिक और राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने के लिए पूर्ण रूप से बड़े-बड़े बैंकों की पूँजी पर निर्भर करता है। ये साम्राज्यवादी राष्ट्र किसी देश के राजनैतिक यंत्र पर क़ब्जा करने की उतनी परवा नहीं करते जितनी वहाँ के आर्थिक श्रोतों पर अधिकार करने की करते हैं। वे अपनी पूँजी भेजकर दूसरे देशों के आर्थिक जीवन पर अधिकार कर लेते हैं और उससे बहुत अधिक फ़ायदा उठाते हैं। आज से छब्बीस वर्ष पहले अंग्रेज़ी निर्यात केवल १८० लाख पौंड था। उस समय तैयार माल ही अधिक भेजा जाता था परन्तु अब जब तैयार किये हुए माल की अपेक्षा अनेक गुने बड़े पैमाने में पूँजी भेजी जाती है तब बाहर लगी हुई पूँजी के सूद की आमदनी ही नौ करोड़ हो गई है। चीन की रेलों में अंग्रेज़ी पूंजी तेरह करोड़ बीस लाख डालर और हांगकांग-शंघाई बैंकों की पूंजी और जमा मिलकर क्रमशः दस करोड़ और एक अरब दस करोड़ डालर है।

पूंजीपतियों के एकाधिकार का समय १८६०-७० से आरम्भ होकर बढ़ता ही गया और आगे चलकर उसी का रूप 'फाइनेंस कैपिटल' हो जाता है। इस अध्याय के आरम्भ में ही हम लोगों ने यह भी देखा था कि यही समय है जब से संसार के बटवारे की प्रतिद्वंद्विता दिन-पर-दिन जटिल होती गई इसलिए यह बात निःसन्देह सिद्ध हो जाती है कि संसार के बटवारे के कार्य में मुख्य हाथ फाइनेंसकैपिटल का ही है। उन्हीं थोड़े-

में वैध शासन-तंत्र हो गया। मुसलमानों का मुसलमानपन छूट गया। वहां के शासन-सुधार से देश-विदेश दोनों ही स्थानों के लोग तरुण तुर्कों के विपक्ष में हो गये। रूस और आस्ट्रिया को भय होने लगा कि तुर्क बलवान हो जायँगे तो इन लोगों का कुस्तुन्तुनियां और सिलोनिका पर अधिकार नहीं हो सकेगा। जर्मनी मेसोपोटामिया तक अपना आर्थिक और राजनैतिक प्रभुत्व जमाना चाहता था। इटली की आंख ट्रिपोली पर थी। अंग्रेजों को मिश्र और साइप्रस छिन जाने का भय था। इसलिए ये शक्तियां सुधार की विरोधी थीं।

तरुण तुर्कों में धार्मिक कट्टरपन का भाव बहुत ही कम था। उन्होंने राष्ट्रीयता के ही भाव से प्रेरित होकर ईसाइयों को मुसलमान बनाने का उद्योग किया। उनका विचार था कि सब के एक-मत हो जाने से शक्ति बढ़ जाती। उन्होंने यदि ईसाई लोगों पर अत्याचार भी किया तो उसी समय जब उन्होंने देखा कि वे लोग युरोपियन राष्ट्रों से मिलकर उनके प्रदेशों पर अधिकार जमाने की चेष्टा में लगे हैं। वे लोग धर्म को राजनीति से बिल्कुल ही अलग रखना चाहते थे। यदि उन्होंने विद्रोही ईसाइयों पर अत्याचार किया तो वैसा ही विरोधी मुसलमानों पर भी किया।

अब्दुल हमीद को सिंहासन से उतार कर तरुण तुर्कों ने नवीन परिस्थिति का उपयोग करना चाहा। उन्होंने अनेक पुरानी प्रथाओं को दूर करने का प्रयत्न किया और प्रजा से कर तथा सैनिक मांगने लगे। तुर्क-साम्राज्य में बसनेवाली युरोपियन प्रजाएँ इससे नाराज होगईं। क्योंकि पहले उनपर टैक्स नहीं लगता था; इस समय लगने को था। परन्तु तरुण तुर्कों को सफलता नहीं

सम्पादकीय

संसार के इतिहास में, समय-समय पर जो क्रांतियाँ हुई हैं मानव-समाज के विद्यार्थी के लिए उनका एक अपना महत्व है। जब शासन-व्यवस्था या अनाचार से समाज के जीवन की गति रुकने लगती है; जब जीवन के प्रवाह के लिए कोई दिशा, कोई क्षेत्र नहीं रह जाता; जब प्रमाद-वश उसे रोकने का प्रयास मदान्ध धर्माध्यक्ष या शासक करते हैं तब मानव-प्रकृति ठोकर खाकर एक प्रचण्ड ववण्डर की तरह उठती है और वातावरण को घोर आतंक से पूर्ण कर देती है। जैसे प्रकृति-विरुद्ध अमिताचार से शरीर से फूट कर बीमारी निकलती है वैसे ही समाज की रुद्ध गति से क्रांति का जन्म होता है।

यह जीवन की गति रुद्ध करने के प्रयत्नों पर मानव-प्रकृति का विद्रोह संसार के इतिहास की मनोरंजक सामग्री है और अध्ययन करें तो हमें इससे समाज एवं देश की अनेक समस्याओं को हल करने में सहायता मिल सकती है।

यों देखें तो संसार में समय-समय पर अनेक क्रांतियाँ हुई हैं। पर समाज की धारा को मोड़ने में उनके प्रभाव की मात्रा अलग-अलग है। इस दृष्टि से कुछ तो समाज-शास्त्र एवं इतिहास के विद्यार्थी के लिए बिलकुल ही नगण्य हैं। जिनके कारण समाज पर एक स्थायी प्रभाव पड़ा है या जिन्होंने देश, समाज एवं साहित्य की दिशा बदल दी है उनमें युरोप की—विशेषतः हालैण्ड की मध्ययुगीन धार्मिक क्रांति, इटली का रिनैसाँ, फ्राँस की राज्य-क्रांति, अमेरिका एवं रूस की क्रान्तियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इन क्रान्तियों ने समय-समय पर समाज में नवीन विचार-धारा को जन्म दिया है और लकवा-पीड़ित रोगी-से समाज-जीवन को एक ज़बर्दस्त प्रेरणा से आगे बढ़ाया है।

राजशक्ति को अपने हाथों में रख सकेगा। उसने दिखलाया है कि राजशक्ति सदा से ही अल्पसंख्यक लोगों के ही हाथों में रहती आई है। वे अल्पसंख्या में रहनेवाले लोग इस कुशलता से कार्य-संपादन करते हैं कि दूसरे लोग उनका विरोध ही नहीं कर पाते। रूस में कम्युनिस्ट पार्टी (साम्यवादी दल) अल्प संख्या में है फिर भी अपने त्याग तथा आदर्शों के बल पर राज्य-कार्य चलाती आई है। लोग उसका विरोध नहीं करते क्योंकि वे समझते हैं कि उसके हाथों से राजशक्ति निकल जाने से उनकी अवस्था ख़राब हो जायगी।

रूस का अनुकरण

रूस के इस कार्य का एशियायी राष्ट्रों पर बहुत ही गहरा असर पड़ा है। सभी ने रूस की ही नक़ल करने की कोशिश की है। उन लोगों ने अनुकरण किया है परन्तु परिस्थिति के अनुसार उनमें रूस की कार्य-प्रणाली से थोड़ा-बहुत विभेद होता गया है। चीन में रूस का इस प्रकार से नक़ल करना बहुत ही स्पष्ट रूप में दिखलाई देता है। डा० सनयातसेन को १९११ की क्रान्ति में सफलता हुई; उस समय राजशक्ति लोगों की दृष्टि में गिर गई थी इसलिए विदेश से लौटे हुए और अन्य विद्यार्थियों ने उसे उखाड़ फेंका परन्तु वह दल स्थायी नहीं रह सका। चीन की अवस्था युवानशिकाई के सभापतित्व में बहुत कुछ मंचू राजाओं के समय की ही जैसी होती जारही थी। सनयातसेन १९११ की क्रान्ति में सफलता प्राप्त कर लेने पर भी विफल हुए। उन्हें इधर-उधर भटकते रहना पड़ा। चीन को वे जिस अवस्था में लाना चाहते थे वह उस अवस्था में नहीं आया। इस समय उन्होंने रूस की

बीसवीं शताब्दी के कुछ ही वर्षों में एशिया में जो जागृति हुई है वह इतनी आकस्मिक और अपूर्व है कि उसे भी क्रांति ही कहना चाहिए; यद्यपि गंभीर आलोचना की कसौटी पर तो वह विकास और क्रांति के बीच की चीज़ है। पर चूंकि इन परिवर्तनों ने एशिया के जीवन को नवीन प्राणोन्मेष से भर दिया है और एक अपूर्व एवं असाधारण गतिशीलता के साथ विभिन्न देशों को हिला रहे हैं इसलिए उनको 'एशिया की क्रांति' के एक समष्टिगत नाम से पुकारने में आपत्ति नहीं की जा सकती।

फिर ध्यान से देखें तो आधुनिक युग की क्रांतियाँ परस्पर ऐसी सम्बद्ध हैं कि एक को समझने के लिए दूसरे पर भी प्रकाश पड़ना आवश्यक है। जैसे रूस की क्रांति ने एशिया के परिवर्तनों पर अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है इसलिए एशिया की क्रांति की दिशा को समझने के लिए रूस की क्रांति का अध्ययन भी आवश्यक है।

इस प्रकार की क्रांतियों एवं उनसे होने वाले सामाजिक, राजनैतिक एवं साहित्यिक परिवर्तनों के अध्ययन से हमें इतिहास की घटनावलियों एवं समाज-विकास की श्रृंखला को समझने में बड़ी सहायता मिलती है; उनमें आई विषम कठिनाइयों एवं उन पर विजय पाने वाली शक्तियों से हम बहुत-कुछ ग्रहण कर सकते हैं।

हिन्दी में इस प्रकार के साहित्य का बहुत अभाव है। इसलिए मण्डल ने इस दिशा में आगे क़दम बढ़ाने का निश्चय किया है।

'हालैण्ड की राज्यक्रान्ति' पर हम पहले एक पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं। 'एशिया की क्रान्ति' इस दिशा में मण्डल की दूसरी भेंट है।

इसके बाद हम फ्रांस या रूस की राज्यक्रान्ति पर कोई उच्चकोटि का मौलिक ग्रन्थ लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। पर इस दिशा में हमारी सफलता बहुत-कुछ ग्राहकों की अनुकम्पा पर निर्भर है। आशा है अपनी सहायता से वे हमें उत्साहित करेंगे।

—सम्पादक

एशियायी लोगों का है,' इस बात का भी रूस पक्का पक्षपाती है। सनयातसेन ने रूसी लोगों से बहुत-कुछ लाभ उठाया। बोरोडिन की सहायता कुओमिंगटांग के उत्कर्ष के लिए बड़ी मूल्यवान सिद्ध हुई। सारे राष्ट्र में आन्दोलन का भाव फैलाने के लिए सनयात-सेन शिक्षक और विद्यार्थियों में काम कर रहे थे। उनकी जहाँ तक चलती थी, स्कूलों में कुओमिंगटांग के सदस्यों को ही शिक्षक का-कार्य देते थे।

सनयातसेन क्रान्ति के लिए देश में उपयुक्त वायुमण्डल तैयार करने के ये सब प्रयत्न कर रहे थे; दूसरी ओर साम्राज्य-वादी राष्ट्र अपना मतलब साधने की धुन में लगे हुए थे। जापान मंचूरियन तुखन चांग-सो-लिन की सहायता करता ही था, साथ ही उसने ईसाई जेनरल फेंग-यू-हिशांग की भी सहायता पेकिंग पर दखल जमाने के समय की थी। जापानी सिद्ध करके दिखला देना चाहते थे कि जापान उनका परम मित्र है इसीलिए १९२४ में शांटुंग में विद्रोह हो जाने पर जब इंग्लैंड आदि राष्ट्र चीनी रेलवे पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार जमाना चाहते थे उस समय जापान ने उनका सख्त विरोध किया था और चीन को अपमानित होने से बचाया था। जापानी यह भी नहीं चाहते थे कि पेकिंग की सरकार कैंटन सरकार से मिली रहे। पेकिंग सरकार ने दक्षिणी चीन से मेल करने के लक्षण प्रदर्शित किये, इसलिए उन्होंने चांग-सो-लिन को फिर भड़काया और उसे पेकिंग पर चढ़ाई कर देने के लिए कहा। १९२६ के आरम्भ में ही ईसाई सेनापति की हार हुई और उन्हें भाग कर कहीं दूसरी जगह चला जाना पड़ा।

प्रकाशक की ओर से—

क्या जन-संख्या और क्या भूमि की लम्बाई-चौड़ाई—सभी दृष्टियों से एशिया संसार का सबसे बड़ा महाद्वीप है। अर्वाचीन और प्राचीन जितने महान् धर्मों ने मनुष्य की आत्मा को ऊँचा उठाने एवम् मनुष्य-जाति को उच्च आदर्शों की ओर अभिमुख होने को प्रेरित किया, उन सबका जनक यही भू-खण्ड है। यह संसार की संस्कृति का आदि-निर्माता है। जिस समय सम्पूर्ण संसार अज्ञान और असभ्यता रूपी घोर अंधकार में भटक रहा था—जिस समय सर्वत्र हिंसा, क्रूरता, अन्याय, मनमानी, उच्छृङ्खलता तथा पशुता का साम्राज्य फैला हुआ था—उस समय सर्व-प्रथम एशिया ने ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-संस्कृति, सदाचार-पवित्रता, कला-कौशल और धर्म-नीति के दीपक को आलोकित करके अखिल विश्व का पथ-प्रदर्शन किया।

लेकिन एशिया की वह प्राचीन उच्चता और भव्यता आज कहाँ है? उत्तर स्पष्ट है। उसका वह अलौकिक तेज और गौरव लुप्त हो चुका है। वह अवनति के गड्ढे में गिरा हुआ है। उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आसीन होने के पश्चात् उसने अवनति की ओर क़दम बढ़ाया और आज स्थिति यह है कि वह युरोप के सत्ता-लोलुप एवं स्वार्थान्ध राष्ट्रों के चंगुल में फँसा हुआ है और उनके उपहास का पात्र बना हुआ है। पर यह स्थिति भी अधिक दिनों टिकनेवाली नहीं है। एशिया की निद्रा टूट

रही है। यूरोप के स्वार्थी और ख़ूँ-ख्वार राष्ट्रों ने यहाँ के राष्ट्रों के साथ जो लज्जाजनक और अनीतिमूलक व्यवहार किया है उससे एशिया के आत्म-सम्मान को गहरा धक्का लगा है। उसे अब अपनी निर्बलता का भान हो गया है और वह अपनी उन्नति करने में सचेष्ट है। उसकी अधोगति रूपी रात्रि का अवसान हो चुका है और उसका अभ्युदय-सूर्य अपनी प्रखर ज्योति उसके कोने-कोने में व्याप्त कर रहा है।

इस दृष्टि से एशिया की जागृति और क्रान्ति—युरोप के ख़िलाफ़ उसका विद्रोह—संसार की एक विशेष महत्व रखनेवाली घटना है। इस क्रान्ति के परिणाम और प्रभाव दूर-दूर तक असर डालनेवाले हैं। ये संसार के इतिहास में एक नवीन अध्याय का निर्माण करेंगे। युरोप भौतिकता का पुजारी है। सांसारिक सुखोपभोग ही उसके जीवन का मूल-मंत्र है। इस दृष्टि से वह औद्योगिकवाद और पूँजीवाद का दास है। पूँजीवाद साम्राज्यवाद का जनक है। और साम्राज्यवाद की विकरालता और भीषणता क्या चीज़ है, यह किसी भारत-सन्तान को बताने की आवश्यकता नहीं है। वह उसके दैनिक अनुभव की वस्तु बन गई है। संक्षेप में कहा जाय तो साम्राज्यवाद उस मनोवृत्ति का नाम है जिसके अनुसार कोई व्यक्ति अथवा राष्ट्र अपने लाभ, अपने सुख और अपने स्वार्थ के सामने दूसरे मनुष्यों अथवा राष्ट्रों के लाभ-हानि, हिताहित, सुख-दुःख की कोई पर्वा न करे। इतना ही नहीं, दूसरों को कष्ट पहुँचाकर, दूसरों से परिश्रम करवाकर, उन्हें पीड़ित करके—यहाँ तक कि उनके प्राणों का बलिदान करके भी—निजी सुखों और लाभों को प्राप्त करना साम्राज्यवाद का एक ख़ास सिद्धान्त है। युरोप आज इसी प्रकार का

साम्राज्यवादी है। वह अपने सुख और लाभ के लिए एशिया के करोड़ों मनुष्यों को नारकीय यन्त्रणायें पहुँचा रहा है। फलतः अधिकांश एशिया आज युरोप का गुलाम बना हुआ है, और उसके अत्याचार की चक्की में पिस रहा है। लेकिन जिस प्रकार पूँजीवाद की औषधि साम्यवाद है, उसी प्रकार साम्राज्यवाद की दवा राष्ट्रीयता—राष्ट्रवाद—है। साम्राज्यवाद से पीड़ित राष्ट्र राष्ट्रीयता में ही अपना त्राण देखते हैं। अतएव, एशिया में राष्ट्रीयता का वेग इस समय बड़े ज़ोरों से प्रवाहित हो रहा है। राष्ट्रीय एशिया साम्राज्यवादी यूरोप की गुलामी को अपने ऊपर से उतार फैंकना चाहता है। वह स्वतंत्र और स्वाभिमानी जीवन व्यतीत करना चाहता है। राष्ट्रवादी एशिया और साम्राज्यवादी यूरोप का यह द्वंद्व—यह संघर्ष—प्रत्येक भारतवासी के अध्ययन करने की वस्तु है। यह युद्ध राम-रावण युद्ध है। संसार में विजय सर्वदा सत्य की हुआ करती है। इसलिए पाठकों को यह अन्दाज़ लगाने में ज़रा भी देर न लगनी चाहिए कि इस संघर्ष में कौन विजयी होगा। इस पुस्तक के अगले पन्नों में यूरोप के अत्याचारों के विरुद्ध एशिया ने जो संघर्ष छेड़ रक्खा है—उसके अन्दर जो विद्रोह की ज्वाला धधक रही है—उसका परिचय पाठकों को मिलेगा। भारत एशिया से जुदा नहीं है। वह भी यूरोप के साम्राज्यवाद से यन्त्रणा पा रहा है। यहाँ इङ्गलैण्ड उसको पद-दलित कर रहा है। हमारे देश का उद्देश्य भी आज़ादी हासिल करना—गुलामी के कलंक को अपने ललाट से पोंछ डालना है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के हमारे प्रयत्नों का निरूपण भी पाठक इस ग्रन्थ में पावेंगे। जो लोग अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति तथा भारतीय स्वाधीनता के संग्राम में ज़रा भी दिलचस्पी रखते हैं, उन्हें

यह पुस्तक एक बार अवश्य पढ़ लेना चाहिए। तब वे स्वयं देख लेंगे कि उनकी तत्सम्बन्धी जानकारी में कितनी अधिक वृद्धि हुई है।

अन्त में दो-एक शब्द इस पुस्तक के लेखक के सम्बन्ध में लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है। श्रीयुत सत्यनारायण शास्त्री काशी विद्यापीठ (बनारस) के इतिहास, अर्थ-शास्त्र और राजनीति के एक अत्यन्त तेजस्वी और प्रखर बुद्धि-सम्पन्न विद्यार्थी थे। सन् १९२९ में वे उक्त विद्यापीठ की सर्वोच्च परीक्षा में उत्तीर्ण हुए और उन्हें शास्त्री की पदवी प्रदान की गई। लेकिन उनके युवकोचित उत्साह और साहस ने उनको इतने पर ही चैन नहीं लेने दिया। उन्हें समाजवाद (Sociology) और विशेषतः साम्यवाद (*Socialism*) का गहरा अध्ययन करने की धुन समाई हुई थी। अतः वे सन् १९३० के आरम्भ में भारत से यूरोप को रवाना हो गये। वहाँ उन्होंने फ्रैंकफुर्ट (जर्मनी) के विश्वविद्यालय में प्रवेश किया। यहाँ पर भी उनकी प्रतिभा चमक उठी। लगभग दो वर्ष यहाँ अध्ययन करने के बाद आप वहाँ की परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो गये और आपको पी० एच-डी० की उपाधि मिली। अब भी आप जर्मनी में ही हैं, और दूसरे विषयों का अनुसन्धान करने में संलग्न हैं।

ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न लेखक की यह कृति आज पाठकों के भेट की जा रही है। पुस्तक के गुण-दोषों के सम्बन्ध में विशेष कुछ लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। पाठक जैसे-जैसे इसमें गहरे उतरेंगे, वैसे-वैसे, उसी मात्रा में, उन्हें लेखक की तेजस्विता और निष्णात-बुद्धि का परिचय मिलता जायगा।

—मंत्री

भूमिका

आज एशिया में स्वातंत्र्य-युद्ध चल रहा है। उसके कोने-कोने में स्वतंत्रता की लहर फैल गई है। प्रत्येक एशियायी राष्ट्र युरोपीय अथवा अमेरिकन साम्राज्यवाद के चंगुल में रहना अपमान समझने लगा है। और प्रत्येक राष्ट्र इसे अपने जीवन-मरण का प्रश्न समझकर इस संग्राम में जूझ रहा है। यहाँ के वायु-मण्डल में इतनी शीघ्रता से परिवर्तन हो रहा है कि उसके कारणों को समझते जाना भी एक कठिन कार्य हो गया है। पिछले दस वर्षों के परिवर्तन ने इतिहासज्ञों को आश्चर्य में डाल दिया है।

एशिया की इस जागृति का श्रेय आर्थिक साम्राज्यवाद को है। यदि इसका चक्र नहीं चला होता तो एशियायी राष्ट्रों में न तो राष्ट्रीयता का भाव जागृत होता, न वे आधुनिक जगत् की झलक देखते और न उनमें धधकती हुई अग्नि का प्रचंड रूप ही दिखलाई पड़ता। इसलिए एशियायी क्रान्ति को समझने के लिए आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र को समझना अत्यन्त आवश्यक है। इसी के आतंकपूर्ण कार्यों के परिणाम-स्वरूप आज सारा एशिया शक्ति-मद से भरा-पूरा होकर मनुष्यता को बचाने, संसार में शांति स्थापित करने तथा मनुष्य-जीवन को सुखी बनाने के उद्देश से क्रान्ति के मैदान में घोर नाद कर विजय पर विजय करता हुआ आगे बढ़ता जा रहा है।

सारे एशिया में आन्दोलनों का कोलाहल ऐसा मचा हुआ है कि कौन किसके खिलाफ लड़ना चाहता है इसे समझने के लिए भी थोड़ा रुकना पड़ता है। पूर्वी देश लड़ने के लिए पाश्चात्य पद्धति का ही अनुकरण करते हैं इससे कभी-कभी यह शंका भी होने लग जाती है कि प्राच्यराष्ट्र पश्चिम के ही रंग में रँग जाना चाहते हैं परन्तु वास्त-

विक बात कुछ दूसरी ही है। प्राच्यराष्ट्र पाश्चात्य राष्ट्रों का अनुकरण कर रहे हैं, इसका यह कारण नहीं है कि वे पाश्चात्य जगत् को श्रेष्ठ समझते हैं बल्कि वे प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपने अपको बाह्य परिस्थिति के अनुकूल बनाने का उद्योग कर रहे हैं। एशियायी राष्ट्र एशियायी ही बने रहना चाहते हैं, वे अपना अस्तित्व मिटाना नहीं चाहते। उन्होंने बड़ी ही बुद्धिमानी का कार्य किया है। किसी बलवान शत्रु के विरोध का सबसे अच्छा उपाय यही है कि स्वयं भी उसके ही अनुसार बलवान बन जायँ। एशियायी राष्ट्रों का आधुनिक इतिहास इस प्रकार के राष्ट्रों का इतिहास है जो अपनी कमज़ोरियों को समझते हैं और अपने आपको साम्राज्यवादियों के शिकार बनने से रोकने के लिए और बल में उनकी बराबरी करने के हेतु युरोप की नकल करने लग गये हैं।

सभी एशियायी राष्ट्र अपनी प्राचीन सभ्यता के गर्व में फूले हुए थे। दूसरे देशों के नये-नये आविष्कारों की तथा उनके द्वारा राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में किये गये परिवर्तनों को जानते रहने की वे आवश्यकता नहीं समझते थे। निकटवर्ती देशों के विषय में भी उनके भीतर पूरा अज्ञान फैला हुआ था। उनकी उन्नति तो रुक ही गई थी, साथ ही वे दिन-दिन नीचे गिरते जा रहे थे। यह समय एशिया के लिए घोर निशा का समय था लेकिन युरोप के लिए यही सबसे लाभदायक काल कहा जा सकता है। वहां के राष्ट्रों ने इसे बहुत ही उपयुक्त अवसर समझ कर सारे एशिया पर अधिकार जमा लिया। उन्हें स्वार्थ ने बिल्कुल ही अन्धा बना दिया था। एशियायी राष्ट्रों के हित-अनहित का विचार किये बिना ही वे उनका खून चूसने लगे। उनकी आतंकदायिनी साम्राज्यवादी नीति ने एशियायी राष्ट्रों की नींद तोड़ दी।

जागृत होकर एशियायी राष्ट्रों ने अपने को आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र में अच्छी तरह से बँधा हुआ पाया। कुछ देर के लिए वे निश्चित नहीं कर सके कि उन्हें उससे छुटकारा पाने के लिए कौन-सी नीति अपनानी

चाहिए। उनके पास युरोपीय राष्ट्रों जैसे अस्त्र-शस्त्र नहीं थे, यूरोपीय राष्ट्रों की धाक भी इतनी अधिक जम गई थी कि वे अजेय समझे जाने लगे थे। ऐसी स्थिति में युरोपीय राष्ट्रों का मुक़ाबला किस प्रकार से किया जा सकता था ?

परन्तु वह स्थिति अधिक दिनों तक नहीं रही। १९०५ का रूस-जापान-युद्ध उनकी जागृति का पौफट था। इस युद्ध ने एशियायी राष्ट्रों की आँखें खोल दीं। यहाँ के सभी राष्ट्र समझने लगे कि जो कार्य जापान ने किया है। वे सभी करके दिखला सकते हैं। इस युद्ध में रूस की हार से युरोपीय राष्ट्रों के प्रति उनकी अजेयता की भावना जाती रही। सभी एशियायी राष्ट्रों के भीतर आत्मविश्वास का भाव आ गया। वे साम्राज्य-वादियों के चंगुल से छूटने के लिए घोर परिश्रम करने लगे। भारतवर्ष में क्रान्तिकारी दल स्थापित हो गया। अंग्रेज़ों के पंजे से भारतवर्ष को मुक्त करना उसका उद्देश था। तुर्की में तरुण तुर्कों का एक दल क़ायम हो गया जिसने तत्कालीन तुर्की सुल्तान अब्दुल हमीद को गद्दी से उतार कर वैध शासन की स्थापना की। फारस के राष्ट्रीय दल ने युरोपीय परतंत्रता की जंज़ीर को इसी समय तोड़ डालने का विचार निश्चित कर लिया। वहाँ की मजलिस ने शाह को गद्दी से उतार दिया और नई मजलिस उद्घाटित की। चीन में 'कुओमिण्टांग' नाम की एक गुप्तसमिति क़ायम हो गई। उन लोगों ने वहाँपर मंचू-शासन का अन्त कर दिया और प्रजातंत्र शासन की स्थापना की। एशिया के छोटे-छोटे राष्ट्रों में भी क्रान्ति की लहर काम करने लगी थी। साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने दमन का चक्र चलाया। क्रान्ति दबी नहीं परन्तु, दमन के कारण उसे झगड़ते हुए आगे बढ़ना पड़ता था। इसी समय महासमर की तोपों के भीषण गर्जना ने सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। तुर्की को छोड़कर बाक़ी सभी एशियायी राष्ट्रों ने मित्र-राष्ट्रों को सहायता पहुँचाई। ये सभी राष्ट्र समझ रहे थे कि आपत्तिकाल में सहायता पहुँचाने से मित्र-राष्ट्र

उनकी इच्छाएँ पूरी हो जाने देने में वाधा नहीं पहुँचायँगे। मित्र-राष्ट्रों ने भी एशियायी राष्ट्रों को आशा का बहुत ही सुन्दर सब्ज़ बाग़ दिखला रखा था। परन्तु वर्साई की सन्धि के समय मित्र-राष्ट्रों ने सभी एशियायी राष्ट्रों की आशाओं पर पानी फेर दिया। उन्होंने संसार में शांति प्रस्थापित करने का नहीं बल्कि कलह फैलाने का प्रयत्न किया।

मित्र-राष्ट्रों के विश्वासघात ने एशिया में वह आग लगा दी जिसे बुझाना किसी के भी हाथ के बाहर की बात हो गई। इसी समय रूस ने आगे आकर एशियायी क्रान्ति में पथ-प्रदर्शक का कार्य किया। बोल्शेवी लोगों के अधिकारारूढ़ हो जाने पर रूस साम्राज्यवादी राष्ट्रों का सबसे बड़ा शत्रु हो गया। उसने एशिया में क्रान्ति की अग्नि को और भी अधिक प्रज्वलित कर दिया। सभी एशियायी राष्ट्रों में साम्यवादी विचार फैलने लगे। साम्राज्यवाद के लिए जैसा भयानक यह समय सिद्ध हुआ था और पहले कोई भी समय नहीं हुआ था। युरोपीय राष्ट्र स्वतंत्र तुर्की को संसार के नक़शे से उठा देना चाहते थे। उनकी भाषा में वह बहुत पहले से ही 'युरोप का रोगी राष्ट्र' बन चुका था। इस समय मित्र-राष्ट्र उस रोगी की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाकर और रूस की सहायता लेकर रोगी रोगोन्मुक्त हुआ। उसमें ऐसा पुनरुज्जीवन आया कि रोग-प्रस्त होने की छाया भी उसमें नहीं रह गई। फारस ने भी रूस से सन्धि कर लेनेपर अपने सभी बन्धन काट डाले। रिज़ा शाह के समय के फ़ारस को कोई भी बांट लेने की हिम्मत नहीं कर सकता। अफ़ग़ानिस्तान ने उपयुक्त समय का बहुत ही अच्छी तरह से उपयोग किया। रूस से मिल जाने का भय दिखलाकर उसने अपने को अंग्रेज़ों के पंजे से अलग कर लिया। तब से अफ़ग़ानिस्तान पूर्णरूप से स्वतंत्र हो गया। अरब के राष्ट्रों ने अपने साथ किये गये विश्वासघात से असन्तुष्ट हो स्वतंत्रता के लिए प्रयत्न किया। इब्नसऊद ने वहां नया जीवन पैदा किया। चीन ने

भी अपनी शक्ति संगठित कर ली। अब वह अपने यहाँ विदेशी लोगों को लूट मचाने का मौक़ा नहीं देता। अपमान-जनक पुरानी सन्धियां रद्द हो गईं। सदियों से सोते हुए भारतवर्ष में इस समय जैसी जागृति हुई वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। भारतवासी अपने जन्म-सिद्ध अधिकारों की प्राप्ति के लिए पूर्णतः कटिबद्ध हो गये। श्याम, कोरिया, इण्डो-चीन, इण्डोनेशिया आदि एशिया के छोटे-छोटे राष्ट्र भी क्रान्ति में पीछे नहीं रहे। जापान ने एशियायी राष्ट्रों के पथ में रोड़े नहीं अटकाये। उसने प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप में उनकी सहायता ही की है। युरोपियनों के प्रभुत्व को एशिया से उठा देने के प्रयत्न में वह किसी भी एशियायी राष्ट्र से कम नहीं है। क्रान्ति की आग दिन-दिन इस प्रकार से भीषण-रूप धारण करती जाती है कि सभी साम्राज्यवादियों की आंखों के सामने वह चित्र दिखलाई पड़ने लगा है जब समस्त एशियायी राष्ट्र पूर्ण स्वतंत्र होकर मनुष्य-मात्र का कल्याण करेंगे।

एशियायी राष्ट्रों ने अपने स्वातंत्र्य-संग्राम के समय आपस का भेद-भाव नष्ट कर देने की कोशिश की है। सभी एशियायी राष्ट्र आज एक दूसरे के लिए सहानुभूति का भाव रखते हैं। आज वे अपना अस्तित्व क़ायम रखने के लिए आधुनिकता की ओर बढ़ते जा रहे हैं। पुरानी बातों में यदि उन्हें कोई अच्छाई मालूम पड़ती है तो उसे अपनाते हैं नहीं तो केवल पुरानी होने के ही कारण उनके बोझ से अपने आपको दबाने का प्रयत्न नहीं करते। पुरानी बातों में जितनी ख़राबियाँ हैं उन्हें निकाल देने के लिए, अन्धविश्वास का नामोनिशान उठा देने के लिए आज वे भगीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। उनके इस प्रयत्न को देखकर साम्राज्यवादी राष्ट्र भी चुपचाप बैठे नहीं हैं। वे एशियायी मंच पर शतरंज की चालें चल रहे हैं। साम्राज्यवादी अभी कितना भी प्रयत्न करें वर्तमान लहर के रुकने की सम्भावना नहीं दिखलाई पड़ती। एशियायी क्रान्ति के साथ सारे संसार का सम्बन्ध है। संसार में शान्ति की स्थापना तभी सम्भव हो सकती है

जब एशियायी राष्ट्र पूर्णरूप से स्वतंत्र हो जायं। अभी वे स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं। भविष्य की गोद में क्या है यह कहना कठिन है फिर भी एशियायी राष्ट्रों को जागृति पर दृष्टिपात करते हुए उनके क्रान्ति में पूर्णरूप से विजयी होने की ही सम्भावना है। एशियायी राष्ट्र स्वयं स्वतंत्र रहेंगे और स्वभावतः दूसरों पर अधिकार जमाने की चेष्टा नहीं करेंगे। वह समय मनुष्य-समाज के लिए चिरशांति स्थापित करने वाला होगा।

सत्यनारायण

विषय-सूची

[प्रथम खण्ड १—१८५]

द्वितीय खण्ड १८७— ४१०]

[परिशिष्ट ४११—४४४]

एशिया की क्रान्ति

[प्रथम खण्ड]

[१]

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र

वर्तमान जगत् की सभी विशेषताओं में प्रमुख, अग्रगण्य और सर्वशक्तिशाली आर्थिक साम्राज्यवाद की विशेषता है। यही वर्तमान युग का युगधर्म है। विश्वव्यापी राज्य की स्थापना का भाव बहुत पहले से ही चला आता है परन्तु उसका रूप वर्तमान समय में जैसा है वैसा अतीत में कभी नहीं रहा। वर्तमान साम्राज्यवाद का 'अर्थ' से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है, यही कारण है कि इसका नाम आर्थिक साम्राज्यवाद पड़ गया है। वर्तमान समय में समाज का सम्पूर्ण संगठन आर्थिक नीति पर अवलम्बित है। समाज के छोटे से छोटे से लेकर बड़े से बड़े अंग तक का जीवन इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। इस समय संसार के सभी राष्ट्रों की जितने भी प्रकार की चालें होती हैं वे उनके अन्तरंग साम्राज्यवादी भावों के बाह्य प्रकाश के सिवा और कुछ भी नहीं हैं। बिना इसको समझे हुए वर्तमान संघर्ष और राजनीति को समझना असंभव-सा है। इस नये आर्थिक साम्राज्यवाद के कार्य का राष्ट्र के आर्थिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव देखते हुए वर्तमान युग का नाम *'आर्थिक साम्राज्यवाद का युग'* उपयुक्त मालूम होता है।

अर्थ-प्रधान युग

आर्थिक साम्राज्यवाद बिल्कुल ही नई चीज है। वर्तमान समय में इसका जिस विशेष अर्थ में प्रयोग किया जाता है वह बीसवीं शताब्दी के पूर्व के कोषों में नहीं पाया जा सकता। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में—खास कर १८७० के लग-भग इसका उद्भव हुआ और इसका विशेष अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बोअर युद्ध के बाद हुआ। यह सर्वग्रासी अर्थनीति बीसवीं शताब्दी में ही पूर्णरूप से प्रकट हुई। गत अर्धशताब्दी का इतिहास जितना इस साम्राज्यवाद के नये रूप से प्रभावित हुआ है उतना और किसी भी चीज से नहीं हुआ।

आर्थिक साम्राज्यवाद क्या है ?

नये साम्राज्यवाद का प्रादुर्भाव संसार की कायापलट करनेवाली दो महान् क्रान्तियों से हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का इसपर अप्रत्यक्ष और कम गहरा प्रभाव है परन्तु औद्योगिक क्रान्ति का इसे जन्म देने में बहुत बड़ा हाथ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति का प्रभाव युरोप पर यह हुआ कि राजकीय मामलों में राजाओं के हाथ से ईश्वरप्रदत्त अधिकार निकलकर मध्यमवर्ग के धनी लोगों के हाथ में चला जाने लगा। इस कारण से वे लोग अपने व्यावसायिक लाभ को और भी अधिक बढ़ाने में समर्थ हो गये। व्यावसायिक लाभ बढ़ाने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। नये साम्राज्यवाद का मतलब ही उपनिवेशों में लाभ की मात्रा अधिक देखकर उन्हें अपनाने के भाव का तीव्र वेग से जाग्रत होना है।

प्रादुर्भाव के कारण

औद्योगिक क्रान्ति होने से युरोपीय देश व्यवसाय-प्रधान देश होने लगे। व्यवसाय बढ़ने पर उन्हें अपना तैयार माल बेचने

तथा कच्चामाल और खाद्यपदार्थ लाने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ने लगी। रेल, तार, जहाज तथा युद्ध के नये अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार हो जाने से उपनिवेशों की दूरी बहुत ही कम दीखने लगी। उनपर अधिकार करने तथा अधिक दिनों तक आधिपत्य जमाये रखने में सुविधा हो गई। औद्योगिक क्रान्ति ने ही पूँजीपतियों को भी जन्म दिया। जिन लोगों को अपने देश के व्यवसाय से अधिक रुपये मिल गये थे वे एशिया, अफ्रिका तथा दक्षिण अमेरिका के रेल, सड़क तथा अन्य प्रकार के व्यवसायों में रुपया लगाकर अपना धन दिन प्रतिदिन बढ़ाते जाने के लिए सदा उत्सुक रहने लगे।

आरम्भिक कथा

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब युरोपीय देशों के उद्योग-धन्धे अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये तब साम्राज्य-वाद का नया स्वरूप प्रकट होने लगा। उपनिवेशों को अपनाने के लिए सभी राष्ट्रों में प्रतिद्वंद्विता होने लगी। इंग्लैण्ड ही व्यवसाय में सब से आगे बढ़ा हुआ था इसलिए उसे उपनिवेशों की आवश्यकता सब से पहले हुई। उसके पास पहले से ही कुछ उपनिवेश थे परन्तु अभी जितने उसके अधिकार में हैं उनका आधा उसने १८७४ ई० के बाद अपनाया। वहाँ पर बेंजामिन डिसरैली ने ही सब से पहले १८७५ ई० में अंग्रेज़ी सरकार के लिए स्वेज की नहर में १७६६०२०० डालर का शेयर खरीदकर और १८७६ में विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी होने की घोषणा कर नये साम्राज्यवाद के अपनाने का परिचय दिया। १८८०-९० के बीच में ही बर्मा, मलाया और बलुचिस्तान अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लिये गये थे।

ज़ोसेफ़ चेम्बरलेन ने ब्रिटिशसाम्राज्य दृढ़ करने के उद्देश से डिसरैली का अनुकरण किया। इन्होंने अपनी नीति निर्धारित की कि नये बाज़ार पैदा किये जायँगे और पुराने बाज़ारों में उन्नति की जायगी। इस कार्य की पूर्ति के विषय में इन्होंने कहा था 'हम लोगों का, आवश्यकता आपड़ने के कारण, कर्तव्य है कि साम्राज्यांतर्गत जितने उपनिवेश हैं उन पर क़ब्ज़ा जमाये रहें और ज़ब कभी सुयोग प्राप्त हो तो वैसे देशों पर, जो व्यापार के लिए खोले ज़ा रहे हैं और जहाँ सभ्यता का प्रचार किया जा रहा है अधिकार जमाया जाय और अपनी प्रभुता बढ़ाई जाय।'

उपनिवेशों पर धावा

ब्रिटेन के लिए १८६०-८० तक का समय ऐसा है जिस समय उसका अधिक से अधिक उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा हो गया था। १८८४-१९०० के बीच में युरोप के दूसरे राष्ट्र उपनिवेशों पर अधिकार जमाने के लिए बड़ी तेज़ी से दौड़े। यदि हम लोग ड्राउल्ट (Ed Drault) की किताब (Social And Political Problems at the End of the XIX Century के संसार के बटवारे वाले अध्याय) पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि उपनिवेशों के लिए राष्ट्रों को कितनी अधिक बेचैनी थी। उसने लिखा है "युरोप और अमेरिका ने हाल के कुछ ही वर्षों में चीन के सिवा संसार के सभी स्वतन्त्र देशों पर क़ब्ज़ा कर लिया है। इस समय के सभी झगड़े देशों पर अधिकार जमाने के लिए ही हुए। सभी राष्ट्र जल्दी करना चाहते हैं। जिन राष्ट्रों के पास उपनिवेश नहीं हैं उन्हें भविष्य में भी मिलने की आशा नहीं है। यदि उन्हें उपनिवेश नहीं मिलेंगे तो बीसवीं शताब्दी में किये जाने वाले धन की

लूट में उनका हाथ नहीं रहेगा। यही कारण है जिससे युरोपीय राष्ट्र साम्राज्यवादी नीति के कारण मतवाले बन गये हैं।" इस दौड़ के समय ब्रिटेन का ३७००००० वर्गमील भूमि पर जिसकी

साम्राज्य-विस्तार की दौड़ में

आबादी ५७००००००० थी अधिकार हो गया। इसी समय फ्रांस ने ऐल्सेसलोरेन की क्षति का बहाना कर तीस वर्ष के भीतर ही पांच लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया। अन्नाम और टौन्किन पर उसने अधिकार कर चीन का अंग विच्छेद कर दिया। जर्मनी के व्यापारियों ने भी १८८४ में बिस्मार्क को अपनी इच्छानुसार चलने के लिए राज़ी कर लिया और अफ्रिका तथा ओसियानिका की दस लाख वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया। बिस्मार्क ने स्वीकार किया है कि उसके कार्य आर्थिक भावों से प्रेरित होकर ही हुए। उसने कहा था कि वह युरोप के बाहर प्रान्त नहीं चाहता परन्तु व्यापार चलाने योग्य देश चाहता है। इटली का ज्योंही राष्ट्रीय एकीकरण हुआ वह औपनिवेशिक साम्राज्य बढ़ाने में लग गया। रूस, जापान, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका, पोर्तुगाल और स्पेन ने भी नये भूमिखंडों पर अधिकार कर लिया। यहाँ तक कि बेल्जियम-जैसे छोटे राष्ट्र ने भी अपने से अस्सी गुने बड़े भूखंड पर अधिकार जमा लिया। एशिया तथा अफ्रिका के राष्ट्र सोये हुए थे; उनमें जागृति नहीं थी; राष्ट्रीयता का भाव नहीं था; संसार से भी सम्बन्ध-विच्छेद हो गया था इसलिए युरोप के छोटे से छोटे राष्ट्र ने अपने से कई गुने बड़े भूखंड पर अधिकार कर लिया। जहाँ १८७६ ई० तक युरोपीय राष्ट्रों का अफ्रिका के १०.८ भाग पर क़ब्ज़ा था तहाँ

१९०० ई० में ९०.४ हो गया। एशिया में भी जापान के सिवा सभी राष्ट्र साम्राज्यवाद के चक्र में आ गये। प्रशान्त महासागर के सभी टापुओं पर युरोपीय राष्ट्रों का अधिकार हो गया। १८७६ के पहले जर्मनी, संयुक्तराष्ट्र अमेरिका और जापान के पास उपनिवेश बिल्कुल नहीं थे; फ्रांस के पास भी बहुत ही कम थे परन्तु १९१४ में उन्हीं राष्ट्रों के हाथ में युरोप से डेढ़ गुना बड़ा साम्राज्य, जिसकी आबादी दस करोड़ थी, आ गया। कहने का तात्पर्य यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में सारे संसार का पूर्ण रूप से बटवारा हो चुका था। बटवारा करने के लिए आरम्भ में समझौते से काम लिया गया। इंग्लैंड यदि मिश्र पर क़ब्ज़ा करे तो फ्रांस चुप रहे और फ्रांस यदि मोरक्को पर क़ब्जा करे तो इंग्लैंड चुप रहे। आरम्भ में इस प्रकार का भाव था परन्तु जब बटवारे के लिए ज़मीन नहीं रह गई तब लड़ाइयाँ होने लगीं।

अब हम लोगों को विचार करना है कि किन भावों से प्रेरित होकर युरोपीय राष्ट्र उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा करते थे अथवा अभी किये हुए हैं। उपनिवेशों पर कब्ज़ा करने में उनका सबसे बड़ा लाभ आर्थिक है। युरोपीय देशों में बड़ी मात्रा में उत्पत्ति होने लगने से अपनी चीज़ों को अधिक-से-अधिक दाम में बेचने और कच्चे माल तथा खाद्यपदार्थ को कम से कम दाम में ख़रीदने की आवश्यकता पड़ने लगी। अन्तिम पचास वर्षों में, ख़ास कर वर्तमान शताब्दी के आरम्भ से, आर्थिक उन्नति के कारण स्पर्धा इतनी अधिक बढ़ गई है जितनी और कभी नहीं

इस दौड़ के पीछे क्या है ?

थी। कच्चा माल प्राप्त करने का संघर्ष बहुत जटिल हो गया है। केवल अमेरिका में ही शिल्प की इतनी अधिक उन्नति हो गई है, कल-कारख़ाने इतने अधिक हो गये हैं कि उन्हें संसार के कच्चे माल की उत्पत्ति के पचास प्रतिशत से भी अधिक की आवश्यकता है। उपनिवेशों पर अधिकार जमाने से ही कोई देश कच्चे माल की प्रतिद्वंद्विता में अपने प्रतिद्वंद्वी देश को हरा सकता है। उपनिवेश यदि स्वतन्त्र रहें तो वे कच्चे माल पर राज्य का एकाधिकार कर अपने देश के लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने की चेष्टा कर सकते हैं। ज्यों-ज्यों पूँजीवाद बढ़ता जाता है कच्चे माल की माँग बढ़ती जाती है। कच्चे माल की प्रतिद्वन्द्विता ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उपनिवेशों पर अधिकार जमाने के लिए झगड़ा बढ़ता जाता है। प्रत्येक युरोपीय राष्ट्र चाहता है कि अधिक से अधिक उपनिवेश उसके निज के अधिकार में रहें क्योंकि वैसी अवस्था में ही वह अपने प्रतिद्वंद्वी को परास्त करने और कम दाम में कच्चा माल प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है।

कच्चे माल की जरूरत

कल-कारख़ानों के बहुत अधिक बढ़ जाने से युरोप में बहुत अधिक उत्पत्ति होने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से उनके सामने उत्पत्ति करने का नहीं परन्तु अपना माल खपाने का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। उस समय के अधिकांश उत्पत्ति करनेवाले व्यवसायियों का विचार था कि उपनिवेशों पर क़ब्ज़ा हो जाने से वे विजित देश के ही हाथ अपना तैयार किया हुआ माल बेच सकेंगे और उनसे ही कच्चा माल ख़रीद सकेंगे। इसलिए एक राष्ट्र के पास जितने अधिक उपनिवेश होंगे उतना ही

बड़ा बाजार उस देश के उत्पत्ति करनेवाले व्यवसायियों के लिए होगा। बाजार जितना ही अधिक बड़ा होगा राष्ट्र का शिल्प उतना ही अधिक बढ़ेगा। शिल्प बढ़ने से राष्ट्र के पास अधिक से अधिक धन आयगा, वहाँ के व्यापारियों को बहुत लाभ हो सकेगा। और इस कारण से वहाँ के मज़दूर वर्ग की भी अवस्था बहुत अच्छी रहेगी। इस विचार के लोग देश में बाहर से आनेवाले तैयार माल पर अधिक से अधिक कर लगाकर संरक्षण की नीति बर्तते थे। वे इस बात का सदा खयाल रखते थे कि अपने देश का व्यवसाय स्पर्धा में दूसरे देश से कम न रहे। अपने अधिकृत उपनिवेशों में भी इसी प्रकार की नीति बर्तना चाहते थे। इस प्रकार के साम्राज्यवादियों के विचारों का स्थूल प्रमाण १८९८ ई० में मिलता है। कैनेडा ने पहले अपने लिए संरक्षण की नीति घोषित की थी, पीछे यह घोषणा की कि ग्रेटब्रिटेन से जो माल उस देश में जायगा उस पर और देशों की अपेक्षा एक चौथाई (१९०० में यह एक तिहाई हो गया) कम कर लगाया जायगा। इसी प्रकार फ्रांस ने भी निश्चित किया था कि फ्रांस के उपनिवेशों में और देशों से जो माल जाय उसपर कर लगे परन्तु फ्रांस से जानेवाले माल पर न लगे।* इन दो उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि एक देश को अपने हाथ में उपनिवेशों के रखने से कैसे-कैसे

स्पर्द्धा की भूख

---

* अब तो इम्पायर कान्फ्रेंस में नियमित रूप से एक दल 'फ्री ट्रेड' की नीति का समर्थन करता है और इंग्लैंड ने अपने उपनिवेशों में यह सुविधा भी करा ली है कि उसके माल पर अन्य देशों के माल से कम चुंगी लगाई जाय।

लाभ प्राप्त हो सकते थे।

उपर्युक्त बात ठीक जंचती हुई भी भ्रांतिमूलक दिखाई पड़ती है। उपनिवेशों को अधिकार में रखने से किसी एक पूरे देश का लाभ नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण औपनिवेशिक व्यवसाय के अंकों पर दृष्टि डालने से हो जायगा। १९१३ में कैनेडा ने अपने आयात का केवल २० प्रतिशत इंग्लैंड से लिया। दूसरी ओर आर्जेंटाइना ने (जो ग्रेटब्रिटेन का उपनिवेश नहीं है) अपने आयात का ३० प्रतिशत से भी अधिक इंग्लैंड से लिया। इंडोचायना के व्यापार का केवल तृतीयांश फ्रांस के हाथ में रहता था। इसका उल्टा परिणाम डच लोगों के ईस्टइण्डीज के व्यापार में देखा जासकता है। परन्तु उस उपनिवेश में भी उसकी रक्षा के लिए इन लोगों को जितना खर्च करना पड़ता है वह लाभ के बराबर ही हो जाता है। जर्मनी के १९१३ के दक्षिण-पश्चिम अफ्रिका के व्यापार में भी यही बात दिखलाई देती है। औपनिवेशिक व्यापार का भाग देश के पूरे व्यापार में बहुत ही कम रहता है। १९१३ में जर्मनी ने अपने उपनिवेशों को जितना माल भेजा उसका चौदह गुना अकेले फ्रांस में भेजा, इससे स्पष्ट हो जाता है कि किसी राष्ट्र की शिल्पोन्नति के लिए उपनिवेश सहायक नहीं होते।

भ्रममूलक विचार

वर्तमान साम्राज्यवादी नीति का असली उद्देश्य सारे देश के व्यवसाय को प्रोत्साहित करने का नहीं वरन् उस देश के कुछ व्यक्तियों के, जिनका लाभ उपनिवेशों के साथ व्यापार करने में है, लाभ में वृद्धि में करना है। १८६० के पहले यूरोप के कल-कारखानों

असली उद्देश्य

स्वतंत्र रूप से स्पर्धा चलती थी परन्तु इसके बाद से वह रुकने लगी। उसके बाद एकाधिकार चलने लगा। बड़े-बड़े कारखाने दूसरे कारखानों को मिलाने लगे और देश का सारा व्यवसाय अपने हाथों में लेने लगे। जर्मनी, इंग्लैंड, अमेरिका सभी देशों में ऐसा ही हुआ। उदाहरण के लिए हम लोग जर्मनी को लें। १९०९ में सारे जर्मनी में १.१ बड़े व्यवसायी थे। उनके ही कारखानों में ३०.५ प्रतिशत मजदूर काम करते थे और वे ही ४३.८ उत्पत्ति करते थे। ऐसे बड़े-बड़े व्यवसायी उत्पत्ति के साधनों पर एकाधिकार कर लेते हैं जिससे दूसरे व्यवसायी उनकी प्रतिद्वंद्विता न कर सकें। आपस की प्रतिद्वंद्विता से लाभ कम न हो जाय इसलिए बड़े-बड़े व्यवसायी एक गुट्ट बना लेते हैं। इस प्रकार के ट्रस्ट, कार्टल और सिंडिकेट आपस में यह भी तै कर लिया करते हैं कि कौन-कौन व्यवसायी कितनी-कितनी उत्पत्ति करेगा और उसे कितने दाम पर बेचेगा। वे लोग अपने अधिक से अधिक लाभ की सीमा देख लेते हैं। उत्पत्ति अधिक इसीलिए नहीं होने देते जिसमें उनका लाभ कम न हो जाय। वे दूसरे लोगों को भी मात्रा से अधिक उत्पत्ति न करने के लिए बाध्य करते हैं। छोटे-छोटे व्यवसायी यदि उनकी शर्तों को नहीं मानते तो वे अपनी चीजों का दाम कम करके उन्हें या तो व्यवसाय से अलग हो जाने अथवा अपने साथ मिल जाने के लिए मजबूर करते हैं। ऐसे व्यवसायी बड़े-बड़े इंजीनियर, कुशल कारीगर, आविष्कारक आदि को भी अपने ही कब्जे में रखते हैं; आविष्कार की नई चीजों को पहले ही अधिक से अधिक दाम देकर ख़रीद लेते हैं जिसमें दूसरा कोई उससे लाभ नहीं उठा सके।

ये लोग दूसरे देशों के व्यवसायियों के साथ भी एक निश्चित समय के लिए समझौता कर आपस में चीजों की क़ीमतें तै कर लिया करते हैं। इस प्रकार संसार-भर की उत्पत्ति का बटवारा कुछ थोड़े-से व्यवसायियों के ही बीच हो जाता है।

वर्तमान समय में कोयला, लोहा और तेल इन तीन पदार्थों की महत्ता इतनी बढ़ गई है कि ये जिसके पास जितने अधिक परिमाण में रहेंगे वह उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। शिल्प की वृद्धि के लिए सर्वप्रथम इन्हीं चीजों की आवश्यकता पड़ती है। अब ऐसी अवस्था आ गई है कि जो देश शिल्प में जितना ही आगे बढ़ा रहेगा लड़ाई में उसके विजय प्राप्त करने की उतनी ही अधिक सम्भावना है। बड़े-बड़े व्यवसायी इन्हीं चीजों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं। संसार में जिस चीज़ की जहाँ-जहाँ उत्पत्ति होती है वहाँ-वहाँ अपना जाल फैलाकर उसे अपने अधिकार में कर लेने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिए तेल को लें। १९०५ में ही सारे संसार का तेल दो बड़े व्यवसायियों—रौकफ़ेलर की स्टैंडर्ड आइल कंपनी और राथ्सचाइल्ड ऐंड नोब्ल के बीच बट गया। ये दोनों मिलकर काम करते हैं जिसमें उनका लाभ स्पर्धा के कारण कम न हो जाय।

कोयला, लोहा और तेल

बड़े-बड़े व्यवसायों में अधिक से अधिक पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। पूँजी इकट्ठी करना बैंकों का काम है। व्यवसाय बढ़ने से व्यवसायी बैंकों से अधिक से अधिक कर्ज लेने लगे। पूँजी के लिए वे बैंकों के ही ऊपर निर्भर करने लगे। आगे चलकर बैंक और

नकेल बैंकों के हाथमें

व्यवसायी मिल से गये। बैंकों के ही आदमी कारखानों के डाइरेक्टर और मैनेजर होने लगे। बैंकों का अधिकार कारखानों पर हो गया। व्यवसाय के मालिकों को लाभ का भाग मिलता था परन्तु व्यवसाय की नीति पूर्णरूप से बैंक ही निर्धारित किया करते थे। बैंकों के मैनेजर वैसे ही आदमी होने लगे जिन्हें शिल्प का अच्छा ज्ञान रहता था। शिल्प का ज्ञान कारखाने अथवा रेल्वे आदि चलाने वाले लोगों को ही रहता है इसलिए वे ही लोग बैंकों के मैनेजर होने लगे। जब व्यवसायियों के हाथ में व्यापार था तो वे तैयार माल बाहर भेजा करते थे परन्तु बैंकों के अधिकार में व्यापार आने पर पूँजी ही बाहर भेजी जाने लगी। उन लोगों ने देखा कि पूंजी भेजने में ही अधिक लाभ है। जितने देश सभ्यता में पीछे पड़े हुए थे उन्हें अपने को नई सभ्यता के ढांचे में ढालने की आवश्यकता पड़ी। उनका देश पहाड़ी था। बन्दरगाहों का अभाव और सड़कों का न रहना उन्हें खटकने लगा। देश के भीतरी प्रांतों से समुद्र के किनारे तक माल ले जाने ले आने में असुविधा थी इसलिए उन्हें रेल की सड़क बनाने अथवा खानों से चीजों के निकालने के लिए पूँजी की आवश्यकता पड़ती थी। बिना पूँजी के वे कुछ भी सुधार नहीं कर सकते थे। यूलेविया का उदाहरण लें तो देखेंगे कि वहाँ वाले चांदी पर चलते थे, वहां चाँदी की बहुत अधिक खानें थीं फिर भी उनके शरीर पर फटे कपड़े रहते थे। वे इतने निर्धन थे कि अपनी खानों से चीजें नहीं निकलवा सकते थे। ऐसी अवस्था में उन्हें पूँजी लेने की आवश्यकता थी। इस समय वैसे देश जिनमें पूँजी अधिक

वर्तमान उद्योग में पूँजी का महत्व

हो गई थी और जिन्होंने देख लिया था कि देश में ही पूँजी लगाने से उतना लाभ नहीं होगा जितना बाहर लगाने से होगा, अपने देश से बाहरी देशों में पूँजी भेजने लगे। निम्नलिखित अंकों * से मालूम हो जायगा कि तीन प्रधान देशों ने कितनी पूँजी बाहरी देशों में लगाई—

साल	इंग्लैंड	फ्रांस	जर्मनी
	मिलियार्ड (अरब) में फ्रैंकों		
१८६२	३.६		—
१८७२	१५	१० (१८६९)	—
१८८२	२२	१५ (१८८०)	—
१८९३	४२	२० (१८९०)	—
१९०२	६२	२७—३७	१२.५
१९१४	७५—१००	६०	४४

विदेशी बैंक पूँजी अपनी देते थे और ऋण लेने वाले देशों पर अपना आधिपत्य जमा लेते थे। लाभ का थोड़ा भाग देशी लोगों को मिलता था और बाक़ी सब विदेश चला जाता था। पूँजी भेजने का कोई निश्चित परिमाण नहीं रहता। लड़ाई के पहले फ्रांसीसी बैंकों की बहुत चलती थी। सारे उत्तरी अफ्रिका और बाल्कन प्रायद्वीप में सोसायटी जेनरल (फ्रांस की एक बैंक) की शाखाएँ फैली हुई थीं। भारतवर्ष में भी अभी जितनी पूँजी लगी है उसका लगभग नब्बे प्रतिशत विदेशी है।

विदेशी पूँजी का प्रवाह

* देखिए—'इम्पीरियलिज़्म': लेनिन, पेज ६३

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से यूरोपीय देशों में व्यवसाय का केन्द्र कपड़े आदि से उठकर लोहे के व्यवसाय में जाने लगा। बड़े बड़े व्यवसायी अपना अधिकतर रुपया लोहे के ही व्यवसाय में लगाते थे। इनकी उन्नति होने लगी क्योंकि युद्ध के लिए आवश्यक सामग्रियों से इनका घनिष्ट सम्बन्ध था। नाविक, सैन्य तथा हवाई शक्तियों की तबतक उन्नति नहीं हो सकती थी जबतक लोहे के व्यवसाय में उन्नति न हो इसीलिए जितने बड़े बड़े बैंक वा औद्योगिक ट्रस्ट होते थे अपना रुपया लोहे के व्यवसाय में लगाते थे। मशीन, रेल तथा और अन्य प्रकार की चीजों की आवश्यकता व्यापारियों के लिए होती रहती है। लोहे का कोयले से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। इसलिए लोहे के व्यापारी कोयले पर भी अधिकार कर लेते हैं। इसमें कितनी उन्नति हुई इसका अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि १८५० में सारे संसार में लोहे (कास्ट) की उत्पत्ति ७० लाख टन थी वही केवल ६० वर्षों में १९१० में दसगुनी बढ़कर सात करोड़ टन हो गई। वर्तमान साम्राज्यवादी राष्ट्रों की विदेशी राष्ट्रों के साथ जो नीति रहती है, उसमें लोहे के विभाग का बहुत बड़ा भाग रहता है। ऐसे लोहे के व्यवसायी सदा लड़ाई के पक्ष में रहते हैं जिसमें उन्हें अधिक से अधिक लाभ हो। लोहे के व्यापारी चाहते हैं कि संसार भर में जितना भी लोहा वा कोयला उत्पन्न होता है वह उनके हाथ में आजाय। इसीलिए वे राज्यशक्ति पर जोर भी डालते हैं। हम लोग यदि वरसाई की सन्धि पर ध्यानपूर्वक

कपड़ा से लोहे की ओर

लोहे की उन्नति में आश्चर्यजनक वृद्धि

विचार करें तो पता चलेगा कि गत महायुद्ध का मुख्य कारण एल्सेसलोरेन, सार बेसिन, ब्राई, रूर और मोरक्को की लोहे और कोयले की खानें ही थीं। राजशक्ति पर इन लोहे के व्यवसायियों की बड़ी धाक रहती थी। ये उनकी कुछ भी परवा नहीं करते, उन पर सदा जोर डाला करते थे जिसमें वे उपनिवेशों में रेल-तार आदि बनवाने के अधिकार प्राप्त करें। रेल आदि के बनने से उनकी चीज़ों की मांग होती और उनकी आमदनी बढ़ती। प्रत्येक साम्राज्यवादी देश उपनिवेशों में अपना प्रभुत्व जमाये रखने के लिए और अपने देश के कपड़े आदि के व्यवसायियों तथा लोहे के व्यवसायियों के लाभ के लिए रेल आदि बनवाता है। इसी का परिणाम हुआ कि १८५० और १९१० के बीच में ही रेलों का आठ गुना विस्तार हो गया। ज़ारशाही के अधीन रूस ने सेंटपीटर्सबर्ग से फारस की खाड़ी तक, ग्रेट ब्रिटेन ने केप-टाउन, कैरो, कलकत्ता और जर्मनी ने बर्लिन, बैजेण्टाइन, बगदाद रेल्वे की योजना की थी।

राज्य बैंकों की मुट्ठी में

बैंकों की इतनी प्रधानता हो जाती है तो वे राज्यशक्ति पर भी अपना अधिकार जमा लेते हैं। वर्तमान समय में अधिकतर राज्य प्रजासत्तात्मक हैं। जब चुनाव होता है उस समय बैंक अपने लाभ की रक्षा के लिए राजनीतिज्ञों को अपनी ओर मिला लेते हैं और उनके चुने जाने के लिए क़ाफी रुपये खर्च करते हैं। इस प्रकार की क्रिया द्वारा कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के ही हाथ में राज्य की सारी शक्ति आ जाती है। राजनीतिज्ञ उन्हीं की इच्छा-नुसार कार्य करते हैं। अख़बारों को भी रुपया देकर ये रुपया

से बड़े पूंजीपतियों के बीच सारे संसार का बटवारा हो गया है। उपनिवेशों में रुपया लगाने से बहुत लाभ होता था, इसलिए व्यवसायी वहाँ पर गये। उन लोगों का लाभ होता था और उपनिवेशों को अधिकार में लाने के लिए राष्ट्र का टैकर-द्वारा वसूल किया हुआ रुपया खर्च होता था। फिर इस प्रकार से लाभ उठाने वाले क्यों न साम्राज्यवाद के सच्चे प्रशंसक हो जायं ? प्रत्येक राष्ट्र जहाँ के बैंकर उपनिवेशों का अर्थ-सञ्चालन (फाइनेंस) करते थे, धनी लोग जिनका उपनिवेशों की खान और व्यवसाय में धन लगा हुआ था साम्राज्यवाद के कट्टर पक्ष-पाती हो गये।

कर्ता-धर्ता

ये साम्राज्यवादी ही राज्य का काम सम्हालते हैं। अब जितनी लड़ाइयाँ होती हैं उनके बाहर से मालूम पड़ता है कि भिन्न-भिन्न राष्ट्र लड़ रहे हैं परन्तु वास्तविक बात वैसी नहीं रहती। जिनका आर्थिक लाभ रहता है उन्हीं लोगों के बीच लड़ाई होती है। पहले की सरकारें ज़मींदारों की सहायता से लड़ती थीं अबकी सरकारें पूँजी-पतियों के ज़ोर डालने से, उन्हीं के फ़ायदे के लिए, उन्हीं के खर्च से लड़ती हैं। १९११ में जर्मन-सरकार मोरक्को के मामले में बहुत दिलचस्पी लेती थी। इसका कारण यह था कि मैनेस्मैन ऐण्ड ब्रदर्स का मोरक्को की खानों में आर्थिक लाभ था। इंग्लैंड के कुछ व्यवसायियों का रुपया मिश्र में लगा हुआ था; उसकी रक्षा के लिए अंग्रेजी सरकार ने मिश्र के मामले में हस्तक्षेप किया। बोअर युद्ध में खास बात दक्षिण अफ्रिका की खानों के लाभ में कमी थी। गत महायुद्ध भी पूर्ण रूप से साम्राज्यवादियों

का ही युद्ध था। लड़ाई में कल-कारखाने जितने भी नष्ट किये गये वे इसलिए कि जिसमें प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र लड़ाई के बाद अपने साथ स्पर्द्धा न कर सकें। जर्मनी के कुछ बड़े-बड़े बैंक बर्लिन-बगदाद रेलवे में रुपया लगाना चाहते थे; अंग्रेज इसे नहीं होने देना चाहते थे। महायुद्ध का सबसे बड़ा कारण यही था। इन व्यवसायियों के लाभ के लिए ही देश विजय किये जाते हैं। इनके साथ कुछ और भी लोग होते हैं जिनके लिए लाभ का एक-दो टुकड़ा व्यवसायी फेंक दिया करते हैं। ऐसे लोगों में एक लड़ने वाले लोग हैं। यदि शांति रहेगी तो उनका पेशा मारा जाता है इसलिए ये भी साम्राज्यवादियों की हाँ-में-हाँ मिलाते हैं। दूसरे वैसे लोग हैं जिन्हें उपनिवेशों में ऊंचे-ऊंचे पद प्राप्त हो जाते हैं। अपने देशमें जिन्हें गौरव तथा ऊंचे पद प्राप्त करने का मौक़ा नहीं मिलता वे दूसरे देशों में जाकर उसे प्राप्त करते हैं फिर वैसे लोगों का साम्राज्यवाद का सहायक होना स्वाभाविक ही है।

साम्राज्यवाद के दूत-ईसाई मिशनरी

बहुत से लोगों का विचार है कि साम्राज्यवादी नीति बर्तने में धार्मिक उद्देश भी था। ईसाइयों का यह विश्वास कि हीदेन लोगों को स्वर्ग नहीं मिलेगा, प्रचार करने के लिए उन्हें उपनिवेशों में ले गया। पश्चिम के लोगों को विश्वास होने लगा कि हमारी ही संस्कृति संसार में सर्वश्रेष्ठ है; हम उसे दूसरे लोगों में फैलावें। युरोप में राष्ट्रीयता का भाव उदय हुआ था; उसी समय अपने को बड़ा और श्रेष्ठ समझने का भी भाव आया था परन्तु यह विचार मिशनरियों के कार्य पर ध्यान देने से असत्य सिद्ध

होता है। कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि मिशनरी साम्राज्यवादी नीति काम में लाने के लिए पहले भेजे जाते हैं। नामाकुआलैंड (जर्मन दक्षिण-अफ्रिका) में मिशनरियों की रक्षा का वहाना करके ही सबसे पहले जर्मनी का झंडा गाड़ा गया था। जर्मनी को किआचाऊ पर अधिकार जमाना था उसके लिए भी दो जर्मन मिशनरियों के मारे जाने का ही वहाना किया गया था। मिशनरियों ने साम्राज्यवाद के कार्य को अवश्य ही आगे बढ़ाया है परन्तु साम्राज्यवाद ने उनके कार्य को नहीं बढ़ाया बल्कि उसने कुछ उल्टा ही किया है। भारतवर्ष में लोगों के बीच अंग्रेजों के खिलाफ़ धार्मिक असंतोष न पैदा हो जाय इसलिए मिशनरियों के आने और प्रचार करने की मनाही कर दी गई थी। उपनिवेशों की प्रजा पर युरोपीय अधिकारियों, व्यवसायियों तथा सैनिकों द्वारा किये गये अत्याचार ने दलित लोगों के भीतर पाश्चात्य धर्म के खिलाफ़ अश्रद्धा पैदा कर दी थी। दूसरे देश को सभ्य बनाने में भी अंग्रेजों की व्यवसायी बुद्धि ही कार्य करती थी। व्यवसायी साम्राज्यवाद की सर्वप्रथम योजना करनेवालों में एक स्टैन्ली (Stanly) भी था। उसने मैंचेस्टर के कपड़ों के व्यवसायियों के सामने जो व्याख्यान १८८४ में दिया था उससे यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। उसने कहा था:—

'कौंगो में ईसाई धर्म और सभ्यता का प्रचार होने से नंगे नीग्रो लोग अच्छे रूई के कपड़े पहनने लगेंगे। कम से कम रविवार को तो वे पहनेंगे ही। यदि वे केवल रविवार को ही कपड़े पहनें तो भी उन्हें बत्तीस करोड़ गज कपड़े की आव-

श्यकता पड़ेगी और यदि वे लोग सब समय कपड़ा पहनने लगेंगे तो उन्हें दो करोड़ साठ लाख पौंड प्रत्येक साल खर्च करना पड़ेगा।'

इंग्लैंड का व्यापार कपड़े में ही सबसे अधिक चलता है। उसे उसकी खपत करने की चेष्टा करनी पड़ती है। उसने यदि कहीं के लोगों को सभ्य बनाने की चेष्टा भी की तो अपने व्यापारिक भावों से ही प्रेरित होकर की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरोप की साम्राज्यवादी नीति से लाभ बहुत ही थोड़े लोगों का होता है। कच्चामाल लेने वाले, तैयार माल भेजनेवाले, जहाज का व्यवसाय करनेवाले, लड़ाइयों में लड़नेवाले, उपनिवेशों में नौकरी करने वाले, बैंकर, रुपया लगाने वाले पूँजीपति तथा राजनीतिज्ञ—बस लाभ ये ही लोग उठाते हैं। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि सारा राष्ट्र का राष्ट्र उस नीति का समर्थन करता है। वास्तव में तो राष्ट्र का नुकसान ही होता है क्योंकि उन्हीं लोगों द्वारा दिये गये टैक्स के रुपयों से लड़ाइयां लड़ी जाती हैं फिर भी न जाने क्यों वे साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करते हैं?

राष्ट्र के नाम पर धोखा

बात यह है कि साम्राज्यवाद के पोषक उन्हें धोखा देने में सफल हो जाते हैं। वे बतलाते हैं कि अधिक से अधिक सेना रखने से ही दूसरे राष्ट्रों से उनकी रक्षा की जा सकेगी। लड़ाई के समय कच्चे माल के मिलने में असुविधा होगी इसलिए पहले से ही उसपर अधिकार जमाये रहना चाहिए। साथ ही वे लोगों के भीतर यह भी विश्वास जमा देते हैं कि उपनिवेशों

को अधिकार में रखने से देश की इज्जत और प्रख्याति बढ़ जायगी। जिस देश पर वे अधिकार करेंगे यदि वहां की आबादी अधिक नहीं होगी और वह स्थान युरोपियन लोगों के रहने योग्य होगा तो जन-संख्या बढ़ने पर लोग वहां जाकर रह सकेंगे। यदि वहां की आबादी बहुत अधिक होगी तो वहां पर युरोपीय ढंग की राजसत्ता कायम करनी पड़ेगी; यदि वह ऊसर भूमि रहेगी तो भी जहाजों के कोयला लेने का स्थान बन सकेगा। साम्राज्यवादी भाव वालों के ही हाथों में अखबार रहते हैं इसलिए उन्हें अपने विचारों के फैलाने की अधिक सुविधा रहती है। वे अपने निज के लाभ की बातें छिपा रखते हैं और आम जनता को राष्ट्र के लाभ की आशा दिखलाकर अपने पक्ष में कर लेते हैं। आम जनता साम्राज्यवादियों के लाभ के लिए अपना रुपया खर्च होने देती है। इसका कारण यह है कि अपने देश के व्यापारियों के साथ दूसरे देश के व्यापारियों के झगड़े के समय वे अपने व्यापारियों के साथ ही एकता का अनुभव करते हैं। देश की दृष्टि से व्यापारी और आम जनता का हित भिन्न-भिन्न नहीं रहता इसलिए जनता के विचार दूसरे देश के व्यापारियों से लड़ते समय राष्ट्रीयता के भाव से भर जाते हैं। यही कारण है जिससे इंग्लैंड वा फ्रांस के लोग अपने देश के व्यापारियों के साथ दूसरे देश के व्यापारियों से लड़ाई के समय अपने निज की हानि की परवा नहीं करते। युद्ध में यदि सफलता होती है तो लाभ कंपनी के हिस्सेदारों का होता है परन्तु जनता राष्ट्रीयता के भाव के कारण लड़ाई के खर्चे को आनन्द से बर्दाश्त करती है। साधारण जनता के भाव

साम्राज्यवादियों के सहायक होते हैं इसीलिए वे विजयी हो पाते हैं। आम जनता उनके बहकावे में आकर जोश में भर जाती है और बड़े-बड़े व्यापारियों को अपने दस्तखत का सादा चेक दे देती है। व्यापारी उसका पूरा-पूरा लाभ उठाते हैं। झगड़ा किसी राष्ट्र के एक व्यक्ति का दूसरे राष्ट्र के किसी एक व्यक्ति के साथ रहता है परन्तु युद्ध राष्ट्र का बना दिया जाता है। जनता के भीतर यह भाव दृढ़ रूप से बैठा देने की कोशिश की जाती है कि साम्राज्य-वादी लड़ाइयां देश की आवश्यकताओं के कारण लड़ी जाती हैं। जनता का उसमें स्वार्थ नहीं रहता फिर भी वह सहायता करती है। जिस दिन युरोप से राष्ट्रीयता का भाव चला जायगा और देश के लोग अपने और व्यापारियों के लाभ को भिन्न समझने लगेंगे, अपना व्यापारियों से एक अलग वर्ग बनालेंगे उसी दिन साम्राज्यवाद का नाश हो जायगा। जनता अपना लाभ देखने लगेगी तो अवश्य ही साम्राज्यवादी नीति का विरोध करेगी।

साम्राज्यवादी सबसे अधिक जोर राष्ट्र की भलाई दिखलाते समय इसी बात पर देते हैं कि यदि अपने देश की जनसंख्या बढ़ जायगी तो उपनिवेशों में उनके लिए स्थान मिल सकेगा। क्या जर्मनी, क्या इटली, क्या जापान सभी देशों के साम्राज्यवादी एक ही दलील देते हैं। यह बात सत्य है कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद बढ़ती हुई जनसंख्या के रखने की समस्या आ उपस्थित हुई। जर्मनी की जनसंख्या १८७१ में ४१०५८७९२ थी; १९१० में उसी में दो करोड़ चालीस लाख की वृद्धि हो गई। यूरोप शहरों में मजदूरों की अवस्था खराब होने लगी और माल्थस का

जनसंख्या की वृद्धि का सवाल

सिद्धान्त स्पष्ट रूप में सत्य दीखने लगा। जनसंख्या बढ़ गई थी, यह इसी से सिद्ध होता है कि लगभग नव्वे लाख आदमी ब्रिटेन से बाहरी देशों में चले गये। उन्नीसवीं शताब्दी में ही साठ लाख से भी अधिक जर्मन दूसरे देशों में चले गये। ऐसे लोग मातृ-भूमि से हटकर दूसरे राष्ट्र में न जावसें इसलिए उपनिवेशों की आवश्यकता बतलाई जाने लगी। कितने लोग तो यहाँ तक बढ़-कर कहने लगे कि उस शक्तिशाली राष्ट्र को जिसकी जनसंख्या बढ़ती जाती है जन्मसिद्ध अधिकार है कि वह अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए उपनिवेशों पर अधिकार जमावे।

कहने के लिए यह दलील ठीक जँचती है परन्तु व्यवहार में वैसा नहीं होता। १९१३ में जर्मनी ने दसलाख वर्गमील औपनिवेशिक भूमि पर अधिकार जमा लिया था फिर भी २५८४३ जर्मनों में, जो दूसरे देश में बसना चाहते थे, १९१२४ अमेरिका में, ५५४७ कैनेडा में, २५९ आस्ट्रेलिया में और १४० ब्रेजिल में जा बसे। उस समय सभी जर्मन उपनिवेशों में जितने जर्मन बसते थे उससे अधिक कैनेडा में बसते थे। ग्रेट ब्रिटेन के अधिकार में बहुत से उपनिवेशों के रहते हुए भी वहां के ८२००० आदमी संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में जा बसे।

यदि हम लोग इस बात का अच्छी तरह विचार करें कि राजनैतिक सीमाओं और औपनिवेशिक प्रसार पर आर्थिक समस्याओं का कितना अधिक प्रभाव पड़ता है तो पता चलेगा कि उपनिवेश प्राप्त करने के लिए युद्ध नहीं किये जाते बल्कि उपनिवेश-प्राप्ति के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रों को युद्ध करना पड़ता है। आगे चलकर यह स्पष्ट

सत्य क्या है ?

हो जाता है कि सब राष्ट्र अपने यहाँ के पूँजीपतियों के पीछे रहते हैं। पूँजीपतियों की आपस में लाभ के लिए प्रतिद्वंद्विता चलती है और इसी उद्योग में वे आपस में लड़जाते हैं। उनकी लड़ाई राष्ट्र की लड़ाई बन जाती है।

उपनिवेशों पर अधिकार करने का असली उद्देश पूंजीपतियों के लाभ के सिवा और कुछ भी नहीं है। १८९५ में अर्थ के राजा बोअर युद्ध की जड़ में रहने वाले सेसिल रोड्स ने अपनी साम्राज्यवादी नीति व्यक्त करते हुए अपने एक मित्र से कहा था—'हम औपनिवेशिक राजनीतिज्ञों को चाहिए कि नई भूमि पर अधिकार करें, जहाँ हमारे देश के लोग जा बसें और जहाँ पर हम लोग अपने कारखाने और खानों से उत्पन्न माल को बेंच सकें। साम्राज्य बढ़ाने से धन बढ़ेगा इसलिए हम लोगों को साम्राज्यवादी होना चाहिए।' कुछ देर के लिए हम लोग मान भी लें कि व्यवसायियों के आर्थिक लाभ के साथ-साथ और दूसरे भाव भी साम्राज्य की प्रगति में सहायक हो रहे हैं तो भी इतना स्पष्ट है कि यदि दूसरे भाव लुप्त होते और आर्थिक भाव रहते तो भी वही परिणाम होता जो अभी हुआ है। इसीलिए इस साम्राज्यवाद का नाम 'आर्थिक साम्राज्यवाद' देना बिल्कुल ही यथार्थ है।

संकुचित राष्ट्रीयता

युरोपीय इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी में युरोप में दो मुख्य भाव—राष्ट्रीयता और प्रजातंत्रवाद कार्य कर रहे थे। उन्हीं राष्ट्रों के लोग जो राष्ट्र की स्वतंत्रता को अपने जीवन से कहीं अधिक महत्व देते थे, आर्थिक साम्राज्यवाद के अपनाने

पर अफ्रिका और एशिया के राष्ट्रों की स्वतंत्रता नष्ट करने वाले हुए। १८९९—१९०२ में बोअर प्रजातंत्र राज्यों को जीत कर ग्रेट ब्रिटेन ने अपनी राष्ट्रीयता के भाव की व्याख्या कर दी। आस्ट्रिया-हंगरी के पंजे से छूटकर इटली ने एबिसीनिया के स्वतंत्र राष्ट्र को कब्जे में लाने का प्रयत्न किया। जो लोग अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता को जी-जान से प्यार करते थे वे ही लोग दूसरे की स्वतंत्रता की बिल्कुल परवा नहीं करते थे। अपने विजित उपनिवेशों के साथ बर्ताव करने में प्रजातंत्रवाद के बड़े से बड़े उपासक राष्ट्र ने भी प्रजातंत्र के भावों को ताक़ पर रख दिया। उपनिवेशों में शासन करने के लिए उन लोगों ने मैजिस्ट्रेटों तथा गवर्नर जेनरलों को अपने यहाँ से चुनकर भेजना शुरू किया। वे लोग जहाँ शासन करते थे उस देश के प्रति उत्तरदायी न होकर अपने देश के सामने जिम्मेवार होते थे। जहाँ व्यवस्थापिका सभाओं के बनाने का अधिकार दिया वहाँ उन उपनिवेशों में उन सभाओं के हाथ में देश के शासन का अधिकार नहीं दिया। उन सभाओं के कुछ आदमी जनता द्वारा चुने हुए और कुछ सरकार—द्वारा ही नियुक्त किये गये रहते थे। जर्मन उपनिवेशों में प्रजातंत्र शासन की छाया भी नहीं दिखलाई पड़ती थी। असभ्य देशों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करना चाहे भले ही योग्य हो परन्तु भारत, मिश्र आदि देश भी जहाँ की सभ्यता बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी वैसे ही व्यवहार के पात्र समझे गये।

महासमर के बाद आर्थिक साम्राज्यवाद का रूप ऐसा बदल गया है कि उसे पहचानना कठिन हो गया है। इस

साम्राज्यवाद को 'शांतिमय आर्थिक साम्राज्यवाद' कहते हैं।

'शांतिमय आर्थिक साम्राज्यवाद'

यह पुराने आर्थिक साम्राज्यवाद का ही विकसित रूप है। किसी देश को ऊपरी दृष्टि से देखकर कोई भी नहीं पहचान सकता कि वह इस साम्राज्यवाद के अधीन है वा नहीं। इस साम्राज्यवाद के पोपक लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहते। उनसे जहांतक होता है लड़ाई रोकते हैं और देश में भी कलह नहीं रहने देना चाहते। यह साम्राज्यवाद इस प्रकार का है कि विजित राष्ट्र का, बिना उसे जताये, उसमें अनुभव करने की शक्ति रहते हुए भी बिना अनुभव कराये, पूरा का पूरा खून चूस लेता है। ऐसे साम्राज्यवादी राष्ट्रों में सबसे बड़ा अमेरिका है। एक दृष्टि से देखने से मालूम पड़ता है कि वह साम्राज्यवादी नहीं है क्योंकि वहाँ की सरकार इस प्रकार की नीति से अपनी एकता नहीं कर देती फिर भी इसमें साम्राज्यवाद के सभी दोष-गुण विद्यमान हैं और सहज आर्थिक साम्राज्यवाद से कहीं अधिक जटिल, विकराल और आतंकदायी है। महासमर के बाद इस प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास बहुत अधिक हो गया है।

अमेरिका का हौसला।

एशिया में पूँजी भेजने के विषय में अमेरिका दिन पर दिन अधिक उन्नति करता जा रहा है। यही शांतिमय साम्राज्यवाद का मूल आधार है। ब्रिटेन का शिल्प पिछड़ गया है इसलिए वह काफ़ी परिमाण में एशिया में पूँजी लगाने में असमर्थ है। सहज आर्थिक साम्राज्यवादी राष्ट्रों में सबसे बड़ा राष्ट्र इंग्लैंड अब पीछे पड़ता जा रहा है। अमेरिका प्रयत्न कर रहा है कि लन्दन संसार के बैंकिंग का केन्द्र न

रह जाय; अंग्रेज़ों के व्यापार से उसका व्यापार अनेक गुना बढ़ जाय और उसकी नाविक शक्ति भी बृटेन से बढ़ जाय।

वर्तमान परिस्थिति ऐसी होगई है कि एशियायी व्यापार का केन्द्र चीन और इण्डोनेशिया हो रहा है। चीन केन्द्र हो रहा है क्योंकि एशिया भर में वही सबसे बड़ा राष्ट्र है जहाँ किसी एक शक्तिका राज्य नहीं है। इण्डोनेशिया में अगाध सम्पत्ति है और वहाँ पर हालैंड की सैन्यशक्ति प्रशांत महासागर के तीन मुख्य साम्राज्यवादी राष्ट्र अमेरिका, इंग्लैंड और जापान किसी एक की शक्ति से कहीं कम है। यदि हम इंडोनेशिया की वर्तमान स्थिति पर विस्तार से विचार करें तो पता चल जायगा कि अमेरिका किस प्रकार अपनी नीति में प्रगति कर रहा है। अमेरिका की नीति में प्रगति होने का अर्थ है'शांतिमय साम्राज्यवादी नीति' का विकास।

चीन और इंडोनेशिया

इंडोनेशिया भारतवर्ष से भी अधिक धनी देश है इसीलिए वहाँपर आर्थिक साम्राज्यवाद के विकसित होने के लिए काफ़ी क्षेत्र है। उसपर जापान और इंग्लैंड की भी आँखें हैं। ज़ापान सदा इसी चिन्ता में है कि जब मौक़ा मिले इण्डोनेशिया पर अपना अधिकार जमाले। इण्डोनेशिया के धनका इसीसे अंदाजा लगाया जासकता है कि १९२४ ई० में डच ईस्ट इण्डीज का पूरा निर्यात चीन के दो-तिहाई और भारतवर्ष के एक-तिहाई निर्यात के बराबर था। अभी वहाँ की बहुत-सी भूमि योंही पड़ी है। वर्तमान व्यवसायी युग में खानों की बड़ी महत्ता है। यहाँ पर बहुतसी खानें योंही पड़ी हैं। पूर्वी एशिया में तेल की खानें केवल यहाँ पर ही हैं। यहाँपर लोहे की उत्पत्ति जापान की दस-

गुनी और चीन की चार गुनी होती है। संसार में जितना टिन निकलता है उसका एक चौथाई केवल इसी देश से निकलता है। अभी उस द्वीप में केवल बोर्नियो का भाग उन्नति कर रहा है। जब सारे द्वीप में उन्नति होने लगेगी तो उसके धन का अन्दाजा आज के अनुमान से कहीं अधिक होगा। पांच वर्ष पहले ही अमेरिका ने इस द्वीप में पूँजी लगाना आरम्भ किया है। इतने ही समय में जितनी विदेशी पूँजी वहाँपर लगी है उसकी पन्द्रह प्रतिशत अमेरिका की होगई है। अमेरिका इसकी ओर बढ़ना चाहता है और इसके लिए उसे फिलिपाइन के ऊपर अच्छी तरह से अधिकार जमाने का बहाना भी मिल गया है। अमेरिका के इण्डोनेशिया और चीन में बढ़ने का अर्थ प्राच्य देशों में अँग्रेजी साम्राज्यवाद के बन्धनों का ढीला पड़ते जाना है। चीन और इंडोनेशिया में डालरों के पहुँच जाने पर भारतवर्ष तक उनके शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना है। अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ जहाँ भारतवर्ष में हिली, उसका ठिकाना और कहीं भी नहीं लगेगा।

अमेरिका की महत्वाकांक्षा

ढाई हजार वर्ष पहले सन्तजू नामक एक चीनी दार्शनिक ने कहा था कि सबसे बड़ा सेनानायक वही है जो बिना लड़ाई किये ही विजय प्राप्त कर लेता है। अमेरिका आज उसी नीति का अनुसरण कर रहा है। वह लड़ाई करना नहीं चाहता। इस समय एशिया में जब साम्राज्यवादियों के मोर्चे ढीले हो चले हैं, वह यही चाहता है कि अभी जैसी अवस्था है वैसी ही कुछ और दिनों तक रह जाय। ऐसी अवस्था रह गई, शांति रह गई तो

अमेरिका अपने उद्देश्यों में सफल हो जायगा। इंग्लैंड और जापान दोनों के ही एशियायी अधिकार अमेरिका के व्यवसायियों के अधीन हो जायँगे। एक अमेरिकन लेखक ने ठीक ही लिखा था कि पुराने समय का साम्राज्यवाद विजित राष्ट्र के लोगों को गुलाम बनाकर ही सन्तुष्ट होता था; उसके बाद का साम्राज्यवाद मनुष्यों को छोड़कर केवल जमीन पर क़ब्ज़ा करता था लेकिन आज का साम्राज्यवाद आदमी और ज़मीन दोनों को छोड़कर केवल धन के जरियों पर अधिकार करके ही सन्तुष्ट हो जाता है। साम्राज्यवाद का यही अन्तिम रूप विकसित शांतिमय साम्राज्यवाद है जिसे अमेरिका भलीभाँति कार्यरूप में परिणत कर रहा है। यही साम्राज्यवाद का चक्र है जिसने सारे एशिया को परतंत्र बना रखा है और अपनी आतंकदायिनी नीति में भयानक से भयानक राक्षसी प्रवृत्तियों को मात कर रहा है।

औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम

युरोप में जिस समय औद्योगिक क्रान्ति हुई उस समय लोगों का यह ध्येय नहीं था कि एशिया अथवा संसार के दूसरे राष्ट्रों को दबाया जाय, उस समय वे यह नहीं समझ पाते थे कि उद्योग-धंधों के विकसित होने से मनुष्य की किसी प्रकार से ख़राबी हो सकती है। हम लोग पशुओं से बहुत अधिक काम लेते हैं, मनुष्यों को भी बहुत परिश्रम करना पड़ता है। उस समय उनकी अवस्था देखकर स्वाभाविक रूप से द्रवीभूत होकर प्रत्येक मनुष्य के भीतर विचार आते हैं कि यदि वे किसी प्रकार से बचाये जा सकते तो बहुत ही अच्छा होता। औद्यो-

गिक क्रान्ति ने उनके परिश्रम को कम कर दिया। लोगों को बहुत अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता है परन्तु उससे मनुष्य-समाज सुखी न होकर दुखी ही हुआ। उसका दुःख उद्योग-धंधों के बढ़ने के साथ ही साथ बढ़ता गया। औद्योगिक क्रान्ति का आगे चलकर स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि जबतक दूसरे लोगों को न दबाया जाय अपना हित नहीं हो सकता। मनुष्यों की भलाई क्या होती, दिनों-दिन वे कंगाल ही होते गये। कुछ थोड़े से लोगों को अवश्य ही इससे लाभ हुआ। वे थोड़े आदमी अपने लाभ के लिए इतने अधिक व्यग्र रहने लगे कि वे दूसरे मनुष्यों की अवस्था पशुओं से भी गई-गुजरी बना देने में कोई अन्याय नहीं समझने लगे। उन लोगों का लोभ और आतंक इतना अधिक बढ़ा कि उसका रोका जाना आवश्यक हो गया।

कॉर्ल मार्क्स ने औद्योगिक क्रान्ति की बुराइयों को भी भलीभांति समझा और उससे मनुष्यमात्र की रक्षा करने का एक नया रास्ता निकालने का प्रयत्न किया। उनका विचार था कि उत्पत्ति केन्द्रीभूत ही रहे तो भी कुछ हानि नहीं है परन्तु जितनी उत्पत्ति हो वह राज्य की सम्पत्ति समझी जाय।

कार्ल मार्क्स का प्रहार

मजदूर और किसान बहुत अधिक काम करते हैं इसलिए उनका ही कारखानों और खेतों पर अधिकार रहना चाहिए। इनके विचार विचार की दृष्टि से चाहे भले ही ठीक जँचते हों परन्तु व्यावहारिक रूप में उनका काम में लाया जाना बहुत कठिन है। रूस में इनके विचारों के अनुसार कार्य हुआ परन्तु वहां की ही अवस्था पर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि वहां

के लोग भी और स्थानों की अपेक्षा अधिक दिनों तक अधिक सुखी नहीं रह सकेंगे। कुछ ही दिनों बाद उनकी अवस्था भी और देशों जैसी ही हो जायगी। इस असफलता का खास कारण उनके सिद्धान्तों की ही त्रुटि है। राज्य सदा अल्पमत के ही हाथ में रहता है। वे लोग अपनी भलाई पर अवश्य ही विशेष दृष्टि रखकर राज्य-संचालन करेंगे। रूस में भी अभी जो

रूस का प्रयोग

सरकार स्थापित है वह भी थोड़े ही लोगों की है। सारी जनता का हाथ वहां पर भी नहीं रह सका। दूसरों को बतलाने के लिए चाहे भले ही कहा जाय कि वहां जनता का राज्य है किन्तु वास्तव में राज्य पर अधिकार थोड़े से ही लोगों का है। वहाँ पर क्रान्ति हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है, इसलिए उसके भविष्य की स्थिति का अन्दाजा अभी की स्थिति से लगाना भूल करना होगा। अभी जिन लोगों के हाथ में राज्य-शक्ति है वे लोग मजदूर अथवा किसान वर्ग के नहीं हैं। स्टालिन, जिनोफ़ आदि सभी प्रमुख व्यक्ति मजदूर तथा किसान वर्ग से कहीं ऊँचे दर्जे के समाज के व्यक्ति हैं।

इतना होते हुए भी और देशों की अपेक्षा वहाँ पर समानता अधिक है। कल-कारखानों की बुराइयों से देश को बचाने का प्रयत्न चल रहा है। साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा शत्रु यही राष्ट्र हो रहा है। कार्लमार्क्स का सिद्धान्त साम्राज्यवाद की प्रगति रोकने में एक बहुत बड़ा अस्त्र हो गया। उसका आज साम्राज्यवाद के साथ जो संघर्ष चल रहा है वह बहुत ही भीषण है। अमेरिकन लोगों को अंग्रेज और जापानी दोनों की ही

परवा नहीं है। उसका यदि सबसे बड़ा कोई शत्रु है तो वह है एशिया में साम्यवादी भावों का प्रचार; इसके वायुमंडल में फैले हुए क्रान्तिकारी भाव और खास कर चीन की जागृति। इन भावों के प्रचार से एशियाई राष्ट्र बहुत वेग से आगे बढ़ते जा रहे हैं। वे अपनी निर्धनता का प्रत्यक्ष नमूना दिखा रहे हैं। इसलिए केवल विदेशी राजनैतिक सत्ता ही उठा देने की नहीं परन्तु समाज का ही संगठन बदल देने की कोशिश कर रहे हैं। जिस समय वे सफल हो जायँगे उस समय न तो अमेरिकन नीति रह जायगी और न शान्तिमय साम्राज्यवाद का ही कहीं अस्तित्व शेष रह जायगा। सभी प्रकार के साम्राज्यवादी भावों का इस आँधी में उड़ जाना भले ही सम्भव न हो परन्तु आर्थिक साम्राज्यवाद का ध्वंस हो जाना तो निश्चित ही है।

चक्र चला

इस अध्याय में हमें विचार करना है कि आर्थिक साम्राज्यवाद का एशिया के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा ? यहाँ की सभ्यता तथा धन की प्रचुरता देखकर युरोपीय लोगों का बहुत पहले ही इधर ध्यान आकृष्ट हुआ था परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के पहले एशिया को श्वेतांगों के प्रभुत्व का परिचय भलीभांति नहीं हो पाया था। १८७० ई० के बाद साम्राज्यवाद के चक्र चलने से सारे एशिया को युरोप की राजनीतिक अथवा आर्थिक किसी न किसी प्रकार की पराधीनता अवश्य ही स्वीकार करनी पड़ी। एशिया के कितने राष्ट्र झूठे बहानों और जबर्दस्ती से युरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्य में मिलाये गये। टौन्किंग, अन्नाम और बर्मा इसके उदाहरण हैं। एशिया का अधिकांश भाग सभ्य था। वहाँपर अफ्रिका की तरह बटवारे का अथवा जबर्दस्ती विजय का तरीक़ा नहीं चल सकता था। भारतवर्ष, रूसी एशिया, फ्रेंच इण्डोचीन, मलायास्टेट, स्ट्रेट सेटलमेंट्स, हाँगकांग और जावा युरोपीय राष्ट्रों के प्रत्यक्ष अधिकार में थे। एशिया के बाक़ी भाग जिनमें तुर्की, फारस, चीन और जापान मुख्य हैं प्रत्यक्ष रूप से उनके अधिकार में नहीं थे। फिर भी इन देशों में जापान को छोड़कर बाक़ी देशों पर आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र भलीभांति चल रहा था। फारस, चीन और तुर्की का बटवारा नहीं हुआ था; वे युरोपीय राष्ट्रों के साम्राज्य में मिला

नहीं लिये गये थे फिर भी उनसे युरोपीय व्यापारी एशिया के दूसरे राष्ट्रों की ही तरह लाभ उठाते थे। इन राष्ट्रों के अंग-भंग कर बाँट लेने की बात महासमर के पहले बहुत जोरों से चल रही थी परन्तु इनका बटवारा कर लेना सहज नहीं था इसीलिए युरोपीय राष्ट्रों ने इधर अपनी शक्ति नहीं लगाई। १८८०-९० की अवधि में उनका ध्यान अफ्रिका के बटवारे की ओर था क्योंकि उसका बटवारा कर लेना सहज था। एशिया के ये राष्ट्र बहुत सभ्य थे, इनके यहां की राजनैतिक तथा आर्थिक व्यवस्था युरोप से भिन्न चाहे भले ही रही हो पर किसी भी हालत में कम उपयोगी नहीं थी। जापान के युरोपीय ढंग की आर्थिक, राजनैतिक तथा युद्ध-विषयक नीति अपना लेने से युरोपीय राष्ट्रों ने स्पष्ट रूप से समझ लिया था कि चीन का बटवारा कर लेना टेढ़ी खीर है। चीन के बटवारा कर लेने के पहले उन्हें लड़ाई छेड़नी पड़ती। इन एशियायी राष्ट्रों के अधीनता न स्वीकार करने पर भी परिणाम में कुछ भेद नहीं हुआ। सुविधा के लिए यहाँ पर एक-एक देश का अलग-अलग विचार करना अच्छा होगा।

बेहोश चीन

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चीन को संसार का ज्ञान नहीं था। वह अपनी प्राचीन सभ्यता के ही अभिमान में बैठा था। वहाँ के लोग वीरों का आदर नहीं करते थे। पढ़े-लिखे लोगों को बहुत ऊँची दृष्टि से देखते थे और वे ही लोग राज्य-कार्य सम्हाला करते थे। इसी समय युरोप और अमेरिका को अपने यहां के मिशनरी और ख़ासकर व्यापारियों के लिए नये-नये देशों की आवश्यकता पड़ी। १८४०-८० तक चीन-जापान और कोरिया के शांति-भंग

करने का यही कारण हुआ। इस समय तक साम्राज्यवाद का सच्चा रूप प्रकट नहीं हुआ था। इन देशों के दरवाजे विदेशी व्यापारियों के लिए खुल गये। उसी का परिणाम आगे चलकर यह हुआ कि बाजार, खान, रेलें बनाने के अधिकार आदि पर एकाधिकार करने की प्रवृत्ति जागृत हुई। इसी प्रवृत्ति की पूर्ति के लिए प्रभुत्व-क्षेत्र (Spheres of Influence), नौकाश्रय (Naval bases) और कहीं-कहीं जमीन पर अधिकार करने की नीति काम में लाई गई। यही साम्राज्यवाद का सच्चा रूप था। चीन तथा दूसरे एशियायी राष्ट्रों के इतिहास में इसी बात की १८८० के बाद प्रधानता रही। प्रारम्भ के व्यापारिक ध्येय और आगे की साम्राज्यवादी नीति दोनों के लिए ही झगड़ा कर विजित राष्ट्रों को दबा रखने की आवश्यकता थी परन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न हुए। पहले में लड़ाई हुई परन्तु पूर्ण विजय नहीं हुई। दूसरे में विजय हुई और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े खड़े हो गये।

प्रभुत्व-क्षेत्र और नौकाश्रय

युरोपियन शक्तियों में ब्रिटेन के साथ चीन की सबसे पहली लड़ाई १८४० ई० में हुई। इस लड़ाई का मुख्य कारण यही था कि चीन अपने देश में अफीम की खपत होने देने में बाधा डालना चाहता था। इस युद्ध के पश्चात् १८४२ में नानकिन की सन्धि हुई। इस सन्धि के अनुसार अंग्रेजों को हांग-कांग मिल गया और पांच बन्दरगाह उनके व्यापार के लिए खोल दिये गये। कुछ ही दिनों बाद वे बन्दरगाह अमेरिकन, फ्रेंच,

चीन से अंग्रेजों की पहली लड़ाई

बेल्जियन, प्रशियन, डच, पोर्तुगीज और स्कैंडिनेवियन व्यापारियों के लिए भी खोल दिये गये। इन राष्ट्रों को व्यापार करने में इतनी सुविधा हो गई कि चाय का निर्यात दुगुना हो गया और रेशम का निर्यात तीन हजार गांठ से बढ़कर छप्पन हजार गांठ हो गया।

'शीनशीन' की सन्धि

व्यापार में सुविधा हो जाने पर भी और अधिक लाभ की दृष्टि से युरोपीय राष्ट्र चीन के साथ फिर से लड़ाई करने का मौक़ा ढूंढ़ रहे थे। १८५६-६० में उन्हें वह मौक़ा मिला। फ्रांस ने एक मिशनरी के मारे जाने का बहाना कर और ब्रिटेन ने अपने झंडे के जहाज़ पर चीनियों का एक हत्यारे के पकड़ने के लिए आने का बहाना निकालकर लड़ाई छेड़ दी। लड़ाई में चीन की हार निश्चित ही थी। उसने मजबूर होकर शीनशीन (Tienstein) की सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार और भी छः दूसरे बन्दरगाह व्यापार के लिए खोल दिये गये; यांगसी नदी के किनारे व्यापार करने का और देश में भ्रमण करने का अधिकार भी प्राप्त कर लिया गया और पेकिंग में एक अंग्रेज प्रतिनिधि का रखा जाना निश्चित हुआ। ईसाइयों की रक्षा किये जाने का आश्वासन और उन्हें प्रचार करने का अधिकार भी दिला दिया गया। इसी समय फ्रांस, संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और रूस ने भी चीन से सन्धि कर अपने लिए ब्रिटेन जैसे ही अधिकार प्राप्त कर लिये। अंग्रेज और फ्रांसीसियों के साथ युद्ध के समय रूस ने अपने को चीन का सहायक बतलाने की कोशिश की और उसके बदले में लड़ाई के बाद उसने आमूर

नदी के दक्षिण, ऊसरी नदी के पूर्व और कोरिया के उत्तर के सभी प्रदेश ले लिये।

१८४० से १८६० तक जो घटनाएँ घटीं उनके कारण चीन अंग्रेजी तथा अन्य युरोपीय व्यापारियों और मिशनरियों के लिए खुल गया। उपर्युक्त दोनों लड़ाइयों का एक बड़ा भारी परिणाम यह हुआ कि चीन का विदेशियों के व्यापार पर कर लगाने का अधिकार छिन गया। सन्धि के द्वारा कर का परिमाण निश्चित कर दिया गया। चीन आयात-निर्यात के किसी भी पदार्थ पर पाँच प्रतिशत से अधिक कर नहीं लगा सकता था। यह शर्त विदेशी व्यापारियों के लिए बड़े फ़ायदे की रही। सन्धि अनिश्चित काल तक के लिए थी। इतना ही नहीं टाइपिंग क्रान्ति के समय चीनी कर वसूल करने वाले अफ़सरों की अयोग्यता बतलाकर शांघाई में विदेशी लोगों से कर वसूल करने के लिए विदेशी लोगों का ही एक बोर्ड बना दिया गया। कुछ ही दिनों बाद ऐसा ही बोर्ड सभी विदेशी व्यापार के लिए खुले बन्दरगाहों के वास्ते बना दिया गया। १९११ की क्रान्ति के समय विदेशी लोगों के ऋण की रक्षा का बहाना करके कर की सारी आमदनी तट-कर के इन्सपेक्टर जेनरल (जो एक अंग्रेज था) के पास भेजे जाने का बन्दोबस्त कर दिया गया। इस समय से चीन के हाथ से कर लगाने का और उससे देश के लिए व्यवस्था करने का अधिकार चीनियों के हाथ से निकल गया। युरोपीय लोगों का उनपर अधिकार हो गया। विदेशी लोगों ने अपने लिए चीन से यह भी मनवा लिया कि उनकी प्रजाओं का न्याय चीनी न्यायालयों में चीन के क़ानून के

चीन की बेबसी

अनुसार न होकर विदेशी न्यायालयों में विदेशी कानूनों के ही अनुसार हुआ करेगा।

इस समय से विदेशी व्यापारियों को चीन के साथ व्यापार करने में कोई असुविधा नहीं रह गई। सभ्यवेशधारी डाकुओं के लिए चीन का फाटक खुल जाने से वह लूट-खसोट मचाने का का क्षेत्र बन गया।

जापान भी चीन की ही तरह अपना दरवाज़ा बंद कर सुख की नींद ले रहा था। उसकी शांति १८५३ में कोमोंडोर पेरी नामक अमेरिकन ने भंग की। अमेरिकन लोगों ने १८५४ में जापान से यह सन्धि करा ली कि जापान अपने दो बन्दरगाहों में उनके जहाजों को ठहराने देगा और यदि उनका कोई जहाज आस-पास के समुद्र में टकरा जाय तो उसके नाविकों के हाथ अच्छा बर्ताव करेगा। इस सन्धि के कुछ ही दिनों बाद अमेरिका ने टाउनसेंड हैरिस नामक एक कौंसल जेनरल (प्रधान राजदूत) जापान भेजा। उसने जापान-सरकार से अमेरिकन लोगों के लिए और भी बहुत-सी सुविधाएँ प्राप्त कीं जिनमें एक नागासाकी और याकोहामा नामक बंदरगाहों का अमेरिकन व्यापारियों के लिए खोल दिया जाना था। इसके बाद यहां भी चीन की ही तरह दूसरे और बन्दरगाह खोले गये, सन्धियों-द्वारा कर निश्चित कर दिया गया और विदेशी लोगों को अपने क़ानून के अनुसार अपना न्याय कराने का अधिकार दे दिया गया। इस समय तक जापान में रईसी राज्य (Feudal Monarchy) था। वहां का राजा, जिसे 'मिकाडो' कहते थे, नाम-मात्र का राजा रह गया था; उसका मंत्री; जिसे

जापान का जागरण

शोगन कहा जाता था, राज्य के सभी कार्य देखता था। देश छोटे-छोटे प्रान्तों में विभक्त था और वहाँ पर सरदार, जिन्हें 'सामुराई' कहते थे, राज्य किया करते थे। पेरी का आना और अपना एकांत-वास विसर्जन करना जापान के लिए बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। देश के बड़े-बड़े सामुराई शोगन के प्रति ईर्षा का भाव रखते थे। शोगन ने पेरी के साथ सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किया और विदेशियों को देश में स्थान दिया इसलिए वे और बिगड़ गये। पहले उन लोगों में से कुछ ने स्थान-स्थान पर विदेशी लोगों से झगड़ा ठाना परन्तु कुछ ही दिनों बाद उन्हें मालूम हो गया कि वे विदेशियों की शक्ति के सामने नहीं ठहर सकते। इस समय से उन्होंने शोगन का और भी अधिक विरोध करना शुरू किया। अन्त में इसका परिणाम यह हुआ कि १८६७ में शोगन को राज्यकार्य से हटना पड़ा और मिकाडो पूरी शक्ति के साथ गद्दी पर बिठाये गये।

इस समय से जापान में एक नये युग का आविर्भाव हुआ। जिन सामुराई लोगों ने विदेशियों का बहिष्कार करना चाहा था वे ही सब से पहले युरोपीय सभ्यता में ढल गये। इस समय से युरोपीय लोगों का आवाहन किया जाने लगा, राज-दरबार में उनकी इज्जत होने लगी और बहुत-सी बातों में उनका अनुकरण किया जाने लगा। अंग्रेजों के निरीक्षण में रेल, तार आदि बनने लगे; फ्रांसीसी क़ानून के विशेषज्ञों के निरीक्षण में क़ानूनी सुधार किये जाने लगे जिससे विदेशी लोगों के मुक़दमे भी जापानी न्यायालयों में ही किये जा सकें। अमेरिकन लोगों से कृषि और डाक-

नवीन युग का उदय

विभाग में सहायता ली जाने लगी। व्यापारिक नियम, स्थानीय सरकार के कार्यों में सुधार तथा रोगोपचार की विद्या सिखलाने के लिए जर्मन रखे गये। १८८९ में युवराज ईटो ने विदेश-भ्रमण कर राज्यकार्य के लिए देश के प्रतिनिधियों को परिमित अधिकार देकर एक सभा बनाई। सामुराई लोगों ने स्वयं स्वार्थ-त्याग किया और 'सामुराई' प्रथा उठा दी गई जिससे राज्यकार्य अच्छी तरह चल सके। आरम्भ में फ्रेंच, और आगे चल कर जर्मन, अफसरों के निरीक्षण में सेना का युरोपीय ढंग पर संगठन होने लगा। अस्त्र-शस्त्र सभी विदेशी ढंग के बनने लगे। सामुराई लोगों ने किसी-किसी स्थान पर क्रान्ति करने की तैयारी की तो नवीन सैन्य ने उन्हें दबाकर अपनी शक्ति का परिचय दिया। इस समय से जापान के पास जलसेना भी हो गई; उसने इंग्लैंड से लड़ाकू जहाज खरीद लिये। इतना ही नहीं जापान ने युरोपीय राष्ट्रों से यह भी सीख लिया कि ज़ब तक वह अपने देश को शिल्प-प्रधान देश नहीं बना लेता उसका विदेशी आक्रमण से बचना कठिन है। उसने अपने देश के व्यवसाय के लिए भरपूर प्रयत्न किया; व्यावहारिक विज्ञान सिखलाये जानेवाले स्कूल-कालेजों की स्थापना की। रेशम निकालने, सिमेंट बनाने, रूई और रेशम बुनने, ईंट का पजावा लगाने, छापेखाने, जिल्द बांधने, साबुन बनाने, टाइप ढालने आदि के कारखानों में सरकारी अफसर निरीक्षण करने के लिए जाते थे। घरेलू प्रदर्शनियां की जाती थीं जिनमें चीजों के बनाने में लोग आपस में स्पर्धा करें। देश की अच्छी-अच्छी कारीगरी की चीजें विदेशी प्रदर्शनियों में भेजी जाती थीं।

वहां की सरकार ने एक ऐसा विभाग ही खोल दिया था जिसका काम विदेश में जापानी चीजों की मांग पैदा करना था। स्त्रियों को भी कला-कौशल सिखलाया जाता था और खासकर सर-कारी छापेखानों में वे रक्खी जाती थीं। इन सभी वातों का यह परिणाम हुआ कि जिस जापानमें १८६७ई० में कोई भी शिल्पीय कारखाना नहीं था, वहीं सिर्फ़ तीस वर्षों के वाद ४५९५ कार-खाने ऐसे हो गये जिनमें लगी हुई पूंजी वीस करोड़ डालर थी। वर्तमान समय में वह और भी अधिक वढ़ गई है। जापान का विदेशी व्यापार, जो १८७७ में केवल २५०००००० डालर था, सन् १८९० में ७००००००००, सन् १९००ई० में २५००००००००, सन् १९१०ई० में ४५००००००००, और सन् १९१३ई० में ६८००००००००० हो गई। व्यापार केवल छत्तीस वर्षों में ही सत्ताईस गुना वढ़ गया।

इसका जापान में भी वही असर हुआ जो युरोपीय देशों में औद्योगिक क्रान्ति का हुआ था। यहां पर भी वड़े-वड़े व्यव-सायी हो गये जिन्होंने देश के कल-कारखानों पर एकाधिकार करना आरम्भ किया। युरोपीय देशों के वड़े-वड़े व्यवसायियों के जैसे इस देश के व्यवसायी भी साम्राज्यवाद के प्रशंसक हो गये। दूसरी वातों की ही तरह जापान ने उपनिवेशों पर अधिकार जमाने और साम्राज्यवादी नीति अपनाने में विदेशियों की नक़ल की।

युरोपीय उद्योग की नकल

कौमोडोर पेरी ने जापानियों को जो पाठ पढ़ाया था उसका सव से पहला प्रयोग उन्होंने कोरिया पर १८७६ में किया।

कोरिया अभी तक अपना दरवाजा बन्द किये हुए था। उसने विदेशी मिशनरियों को अपने देश से मार भगाने की चेष्टा की थी परन्तु जब उसने जापानी लोगों पर आक्रमण किया तब जापान ने जापानी व्यापारियों के लिए कोरिया का एक बन्दरगाह खुलवा दिया। कुछ ही दिनों बाद इसी प्रकार की सन्धि कोरिया के साथ और देशों की भी हो गई और कोरिया की अवस्था चीन जैसी ही हो गई।

साम्राज्यवाद के प्रवाह में

चीन-साम्राज्य बहुत बड़ा था परन्तु वहां की राज्यशक्ति बहुत ही दुर्बल हो गई थी। साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर रूस, जापान, फ्रांस और ग्रेटब्रिटेन चारों तरफ से उसके अंग-भंग करने की चेष्टा करने लगे। पहले कोचीन-चीन पर और १८८० के लगभग चीन साम्राज्यान्तर्गत कम्बोडिया, टौन्किन और अन्नाम पर फ्रांस अपना अधिकार जमाकर चीन साम्राज्य का दक्षिण की ओर अंग-भंग करने लगा। इसी समय वर्मा के राजा (चीन इन्हें अपने साम्राज्यान्तर्गत समझता था परन्तु ये एक प्रकार से स्वतंत्र थे) ने फ्रांसीसियों को टौन्किन से मंडाले तक रेल बनाने, एक बैंक की स्थापना करने और लाल की खानों को खोदने का अधिकार दिया। ग्रेटब्रिटेन इसे सहन नहीं कर सका। उसने वर्मा पर चढ़ाई कर दी और उसे अपने साम्राज्य में मिला लिया। रूस ने साइबेरिया में रेल बना ली और चीन के उत्तरी भाग मंचूरिया पर उसकी आंखें गड़ गईं। जापान ने १८७४ ई० में लिउकिऊ पर अधिकार कर लिया और फिर

चीन साम्राज्य का बटवारा

मंचूरिया और कोरिया की ओर दृष्टिपात किया।

जापान कोरिया को १८७६ से ही स्वतंत्र समझता था। वह वहां के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। चीन इस बात से चिढ़ गया। वह उसपर अपना अधिकार समझता था इसलिए उसने कोरिया के राजा की सहायता के लिए सेना भेजी। इसका परिणाम यह हुआ कि १८९४ में चीन और जापान के बीच लड़ाई छिड़ गई। युद्ध में जापान विजयी हुआ। चीन को बाध्य होकर १७ अप्रैल १८९५ को जापान के साथ शिमोनेसेकी की सन्धि पर हस्ताक्षर करना पड़ा। इस सन्धि के अनुसार चीन को युद्ध-व्यय के सिवा फारमोसा, लाओडंग, पोर्ट आर्थर और कुछ व्यापारिक सुविधाएँ जापान को दे देनी पड़ीं। सन्धि के शर्तों के कार्यान्वित होने तक वू-हाई-वें पर भी जापान का ही अधिकार रहा। कोरिया इस समय से स्वतंत्र मान लिया गया।

चीन का अंग-भंग

जापान का लाभ रूस का नुक़सान था। वह मंचूरिया, कोरिया और पोर्टआर्थर लेकर अपने लिए बरफ़-रहित बन्दरगाह चाहता था। उसने उपर्युक्त सन्धि रद्द कर देने के लिए प्रयत्न आरम्भ किया। जर्मनी और फ्रांस भी जापान की उन्नति देख उससे ईर्षा करने लगे थे। इन तीनों राष्ट्रों ने जापान को चीन के किसी भी भाग पर अधिकार न जमाने की सूचना दी। जापान इन तीनों शक्तियों से लड़ नहीं सकता था इसलिए उसने उपर्युक्त राष्ट्रों की बातें मान लीं और फारमोसा के सिवा सभी प्रांत कुछ और अधिक युद्ध-व्यय लेकर चीन को लौटा दिये।

उपर्युक्त तीनों विदेशी शक्तियों ने चीन से कुछ सुविधाएँ

लेने के लिए ही उसे बचाया था। चीन के शत्रु जितना नुक़सान उसे नहीं पहुँचा पाते उतना उसके मित्रों ने पहुंचाया। फ्रांस ने २० जून १८९५ को चीन के साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार फ्रेंच इण्डोचीन से मिले हुए तीन दक्षिणी प्रदेशों की खानों में अपने लिए चुन लेने का, अन्नाम से चीन के भीतरी प्रदेशों तक रेल ले जाने का, फ्रेंच इण्डोचीन सरहद पर तीस से चालीस प्रतिशत कम कर देने का अधिकार ले लिया। चीनी सम्राट् ली-हंग-चांग इन अधिकारों की महत्ता को नहीं समझ सके थे। यह वास्तव में चीनी प्रांतों पर अधिकार जमाने की भूमिका थी।

रूस ने चीन पर अपना दबाव यह कहकर डाला कि उसी के प्रयत्न से उसका बांटा जाना रुका है। उसने १८९६ में एक रूसी-चीनी बैंक खोलने का और जापान का ऋण अपने पास से देकर चुकता करने का अधिकार लिया और रेल-तार आदि के बनाने में भी सुविधाएँ प्राप्त कीं। उसी साल रूसी-चीनी बैंक को भी बड़े महत्व की रेल बनाने का ठेका मिला। ट्रान्स साइबेरियन रेलवे चीनी मंचूरिया से होकर ले जाने का अधिकार उसे मिल गया। इसका मतलब था मंचूरिया का रूसी लोगों के अधिकार में आ जाना। चीन सरकार से उस रेल के लिए सरकारी भूमि मुफ्त देने और उस पर टैक्स न लगाने का वादा करा लिया गया। इस रेल के बन जाने से रूस को युद्ध के समय सेना भेजने में सुविधा हो जाती थी। अर्थिक तथा युद्ध के समय सामरिक उपयोग की दृष्टि से मंचूरिया रूस के अधिकार में आ गया। जिस रास्ते से वह

रूस का दबाव

रेल जाती उसके पास की खानों पर भी उसी रेलवे कम्पनी का अधिकार हो गया।

जर्मनी इस समय तक चुप बैठा था परन्तु वह भी किसी ऐसे उपयुक्त समय की बाट जोह रहा था जिस समय उसे शांटुंग का दक्षिणी भाग कियाचाऊ मिल जाता। रूस की दृष्टि भी उस स्थान पर थी इसीलिए १८९७ में जर्मन-सम्राट् ने रूस से समझौता कर लिया था कि यदि कियाचाऊ पर जर्मनी का अधिकार रहे तो पोर्टआर्थर पर रूस का अधिकार रहेगा। १८९७ के नवम्बर में संयोग से शांटुंग के ही प्रांत में दो जर्मन मिशनरियों की हत्या कर दी गई। जर्मनी ने तुरंत ही चीन पर आक्रमण कर दिया। रोमन कैथलिक मिशनरी की हत्या का बदला लेने के लिए प्रोटेस्टेंट सरकार इतनी उत्सुक हो जाय यह कम आश्चर्य की बात नहीं थी, परन्तु यहां पर मिशनरियों की मृत्यु बहाना मात्र थी। उनकी मृत्यु और कियाचाऊ के पट्टे लिखाने से कोई सम्बन्ध नहीं था। परन्तु उसी बहाने जर्मनी ने कियाचाऊ की दो सौ वर्गमील भूमि का निन्नानवे साल के लिए पट्टा लिखा लिया। जर्मनी को उस भूमि पर पूर्ण स्वतंत्रता थी। कियाचाऊ खाड़ी के किनारे टिसिंगटाओ में उसने व्यापारिक दुर्ग भी बना लिया। इतना ही नहीं जर्मनी ने शांटुंग प्रांत में दो रेल लाइनें बनाने और उसके दोनों तरफ की खानों का उपयोग करने का भी अधिकार प्राप्त कर लिया। शांटुंग प्रांत जर्मनी के आर्थिक प्रभुत्व-क्षेत्र में आगया।

जर्मनी का आक्रमण

जर्मनी को इस प्रकार से पट्टा लिखाते देख रूस ने भी

उसका अनुकरण किया उसने भी पच्चीस वर्षों के लिए लाऊडंग के पास ५३८ वर्ग मील भूमि का पट्टा लिखा लिया, डाल्नी के बन्दरगाह में सुधार कर उसे व्यावसायिक कार्य का बना लिया और पोर्टआर्थर में क़िलेबन्दी कर उसे अपने जहाज़ों के रखने का अड्डा बना लिया।

फ्रांस भी आगे बढ़ा। उसने निन्नानबे वर्ष के लिए क्वांग-चाऊ खाड़ी के किनारे १९० वर्गमील भूमि का पट्टा लिखा लिया। ग्रेट ब्रिटेन भी पीछे रहने वाला नहीं था। उसने हांगकांग के पास ४०० वर्गमील का और वेई-हाई-वेई का पट्टा लिखा लिया। अंग्रेजों का यह कार्य पोर्ट आर्थर की ओर से रूस और किया-चाऊ की ओर से जर्मनी की बढ़ती रोकने के ही उद्देश से हुआ।

युरोपीय पूँजीपतियों के लिए चीन समृद्धि की खान दिखलाई पड़ता था। जो युरोपीय व्यापारी वहाँ पर रेल बनवा लेता या खान का अधिकारी हो जाता उसका भाग्य खुल जाता था। इसीलिए प्रत्येक राष्ट्र के व्यापारी यही इच्छा रखते थे कि रेल आदि बनाने में जो सुविधाएँ उन्हें मिल चुकी हैं वैसी दूसरे राष्ट्र के व्यापारियों को न मिलें। १८९७ में बेल्जियम ने पेकिंग हाँगकाऊ रेलवे के लिए सुविधा प्राप्त की। इससे अंग्रेज आग-बबूला हो उठे और चीन के साथ लड़ने के लिए तैयार हो गये।

युद्ध और बटवारा

अन्त में चीन को ब्रिटिश पूँजी से २८०० मील रेल तैयार करने का अधिकार देना पड़ा। रूस इस से चिढ़ गया परन्तु इंग्लैंड ने उससे समझौता कर लिया। रेल निकाल लेने पर किसी-किसी स्थान में एक देश के व्यापारी

को दूसरे देश-द्वारा रेल निकालने पर घाटा होता था इसलिए वे लोग अपने लाभ का दायरा बांट लेते थे। इस प्रकार चीन का बंटवारा हो जाने पर व्यापारियों के देशों की सरकार सदा उस शुभ मुहूर्त की प्रतीक्षा किया करती थी जब चीन का उन सरकारों के बीच पूर्णरूप से बंटवारा हो जायगा। फ्रांस ने १८९८ में चीन से स्वीकार करा लिया कि वह दक्षिणी तीन प्रान्तों का फ्रांस के सिवा और किसी दूसरे राष्ट्र के हाथ पट्टा नहीं लिखेगा। इंग्लैंड ने यांगसी बेसिन के विषय में वैसा ही करा लिया। तात्पर्य यह कि युरोपियन राष्ट्रों ने निश्चय कर लिया था कि जब चीन-साम्राज्य टूट जाय तो उत्तरी दीवार के ऊपर का सारा प्रदेश और मंचूरिया रूस का, शांटुंग जर्मनी का, दक्षिण के तीन प्रदेश फ्रांस के और यांगसी बेसीन, हीनान और शांसी ग्रेट ब्रिटेन का हो जायगा।

अमेरिका ने अभी तक कोई भाग इन मामलों में नहीं लिया था। चीन के बंटवारे में उसे हिस्सा नहीं मिला था। उसके व्यापार में भी युरोपीय लोगों की कार्रवाइयों से घाटा हो रहा था इसलिए उसने युरोपीय राष्ट्रों को लिखा कि वे अपने-अपने दायरे में सुविधा प्राप्त करें परन्तु व्यापार से उसका सम्बन्ध नहीं रहे। जितने बन्दरगाह खुलें सभी राष्ट्रों के उपयोग के लिए हों; उनका प्रभुत्व-क्षेत्र और कर से कोई सम्बन्ध न रह जाय। अमेरिका की बातें युरोपीय राष्ट्रों को माननी पड़ीं। अभी तक चीन में अमेरिका का व्यापारिक लाभ नहीं था। जब उसने विकसित साम्राज्यवादी नीति अपनाई, अमेरिकन बैंकरों का रुपया चीन में लग गया तब अमेरिका का स्वार्थ और भी

अधिक बढ़ गया। इस समय से वह इसी ताक में रहने लगा कि युरोपीय राष्ट्र और जापान चीन का बटवारा न कर लें।

इस प्रकार चीन साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर युरोपीय व्यवसायियों के बीच बँट गया। उसकी राजकीय सीमा का बंटवारा न हो सका, इसका एकमात्र कारण साम्राज्यवादी राष्ट्रों की आपस की फूट थी।

अब साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर एशिया के और राष्ट्रों की क्या अवस्था थी इसका उल्लेख भी आवश्यक है। दक्षिण एशिया में श्याम का ही ऐसा प्रायद्वीप बचा है जिसने युरोपीय आक्रमण से बचकर अपनी स्वतंत्रता की रक्षा की है। बर्मा की ओर से अंग्रेज और इण्डोचीन की ओर से फ्रेंच उसे दबाते गये परन्तु उन दोनों के आपस की ईर्षा के कारण ही वह स्वतंत्र रह सका। फ्रांसीसी पश्चिम की ओर मेकांग नदी के बांये किनारे पर बढ़ने लगे। अंग्रेज़ों को भय हुआ कि यदि श्याम पर फ्रांसीसियों का अधिकार हो गया तो वह भारतवर्ष की दृष्टि से खतरनाक होगा। इसके सिवा श्याम में अंग्रेज़ व्यापारियों के खान तथा रेल-सम्बन्धी लाभों में बाधा आ उपस्थित होती। फ्रांस ने श्याम की राजधानी बेंकाक पर १८९३ में हमला किया परन्तु अंग्रेजों के भय के कारण वह पूरे श्याम पर अधिकार नहीं जमा सका। १८९६ में मेकांग के पूर्व का भाग फ्रांसीसियों का समझ लिया गया। १९०४ में अंग्रेजों और फ्रांसीसियों का जो समझौता हुआ उसमें श्याम को जितना दबाया जा सकता था दबाया गया। इस समय यह निश्चय हुआ

अन्य राष्ट्रों की अवस्था

कि पूर्व की ओर से फ्रांस जहाँ तक चाहे बढ़ता जाय और दक्षिण-पश्चिम की ओर से अंग्रेज बढ़ते जायँ। कोई किसी के काम में बाधा न डाले। १९०७ में फ्रांस ने बातमबांग का प्रांत ले लिया और श्याम के स्वतंत्र राज्य में रेल बनाने का अधिकार प्राप्त किया। अंग्रेज बहुत दिनों से मलाया प्रायद्वीप पर अधिकार करने की चेष्टा कर रहे थे। १९०९ में इन्होंने मलाया के चार स्टेटों (केदाह, केलान्तान, ट्रेनगानु और पर्लिस) पर क़ब्ज़ा कर लिया। उनके अधिकार में पहले से ही मलाया प्रायद्वीप के दूसरे प्रदेश और सिंगापुर आ चुके थे। दूसरे प्राच्य देशों के समान श्याम को भी विदेशी लोगों से सलाह लेनी पड़ती थी और विदेशियों को उनके अपने देश के क़ानून के अनुसार विदेशी लोगों के न्यायालय में ही अपने मुकदमों का फ़ैसला कराने का अधिकार देना पड़ा था। श्याम ने अमेरिकन, फ्रेंच, जर्मन आदि सभी देशों के लोगों से सलाह ली इससे वह किसी एक देश के अधिकार में नहीं जा सका।

भारतवर्ष

आर्थिक साम्राज्यवाद के उद्भव होने के पहले ही भारतवर्ष अंग्रेजों के क़ब्जे में आ गया था। भारतवर्ष में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना व्यावसायिक लाभों के लिए की गई थी। ईस्टइंडिया कंपनी नाम की एक व्यवसायी कंपनी थी जिसने आरम्भ में भारतवर्ष के कुछ भाग पर ब्रिटिश आधिपत्य जमाया था। उन्नीसवीं शताब्दी के पहले भारतवर्ष के अधिकांश भाग पर देशी रजवाड़ों का राज्य था। व्यापार ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता था कंपनी अधिकाधिक प्रदेशों पर अपना क़ब्ज़ा जमाती जाती थी। भारतवर्ष में आरम्भ में

अंग्रेजी राज्य स्थापित करने वालों में अनेक गुण ऐसे थे जो लूट-मार करने और डाका डालने वालों के लिए आवश्यक हुआ करते हैं। उन लोगों को अपने उन गुणों को स्वीकार करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं होता था। १८४९ में पंजाब को ब्रिटिश राज्य में मिलाने के लिए वही साम्राज्यवादी नीति काम में लाई गई थी जिसका अनुकरण जर्मनी ने उस शताब्दी के अंत में कियाचाऊ के लेने में किया था। पंजाब में दो अंग्रेज मार डाले गये थे। पंजाबियों का यह अपराध उनको ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लेने के लिए काफ़ी समझा गया। जब कोई देशी हिन्दू राजा बिना पुत्र के मर जाता तो उसका राज्य कम्पनी के राज्य में मिला लिया जाता था। अंग्रेजों की इस नीति को भारतीय प्रजा सहन नहीं कर सकी। १८५७ में उसने विद्रोह कर दिया। इस समय अंग्रेजी राज्य के जड़-मूल से उखड़ जाने की सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी। विद्रोह शांत होने पर अंग्रेज़ों ने अपनी नीति में परिवर्तन किया परन्तु उससे लूट-खसोट कम नहीं हुई। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने ईस्टइण्डिया कम्पनी के हाथ से भारत का शासन-कार्य अपने हाथों में ले लिया। परन्तु इससे पुराने शासन-क्रम में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। इस समय से राजनैतिक तथा आर्थिक बन्धनों को और भी दृढ़ करने का प्रयत्न किया गया। देशी राज्यों के मिलाने के तरीक़ों में परिवर्तन हो गया परन्तु उनका मिलाया जाना रुका नहीं। यह बात निम्नांकित अंकों के देखने से स्पष्ट हो जायगी।

१८५७ का विद्रोह

१८६१ से १८७१ तक ४००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।
१८७१ से १८८१ तक १५००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।
१८८१ से १८९१ तक ९०००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।
१८९१ से १९०१ तक १३३००० वर्गमील भूमि साम्राज्य में मिलाई गई।

१९०१ के वाद नीति में परिवर्तन हो गया है। इस समय से देशी राज्य साम्राज्य में सम्मिलित नहीं किये जाते वल्कि साफ़ शब्दों में यही कहना उचित होगा कि देशी राजे अंग्रेजी साम्राज्य के स्तम्भ वनाकर यहां पर अंग्रेजों की कृपा से राज्य करने के लिए रखे जाते हैं।

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र चल जाने से गत अर्द्ध-शताब्दी में भारतवर्ष की महत्ता और भी अधिक वढ़ गई है। सबसे पहले हम लोग यहां पर लगी हुई अंग्रेजी पूंजी का विचार करें। भारतवर्ष का ऋण, जिसे देने वाले अधिक भाग में अंग्रेज ही हैं, ३.५ विलियन (साढ़े तीन अरव) डालर* है। ढाई विलियन (ढाई अरव) डालर पूंजी लगा कर व्यापार करने वाली ६३४ विदेशी, खास कर ब्रिटिश कम्पनियाँ हैं जिनका व्यापार भारतवर्ष में होता है। ५१९४ ऐसी विदेशी (अधिकतर अंग्रेजी) कंपनियां हैं जिनकी रजिस्ट्री भारतवर्ष में हुई है और जिनकी पूंजी एक विलियन (एक अरव) डालर है। और भी वहुत-सी विदेशी पूंजी लगी हुई है जिसकी रजिस्ट्री नहीं हुई है। भारतवर्ष में लगी हुई लगभग नव्वे प्रतिशत पूंजी विदेशी है जिसमें अधिकांश भाग इंग्लैंड का है।

---

*एक डालर लगभग तीन रुपये के वरावर होता है।

अब व्यापार की ओर दृष्टि डालें। ग्रेटब्रिटेन अपने कुल निर्यात का दशमांश, अर्थात् लगभग आधे बिलियन (पचास करोड़) डालर का माल भारतवर्ष में बेंचता है और अपने व्यापार का नवमांश लगभग ⅖ बिलियन (चालिस करोड़) डालर का माल भारतवर्ष से खरीदता है। सारे ब्रिटिश शिल्प को भारतवर्ष से उतना लाभ नहीं है जितना वहां के कुछ खास व्यसायी—लोहे और कपड़े वालों को है। रूई और लोहे का ही व्यवसाय ब्रिटेन का मुख्य व्यवसाय है। इन व्यवसायों की उत्पत्ति का पंचमांश केवल भारतवर्प में खप जाता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश कपड़े के व्यवसायियों का साल में भारतवर्ष में ही २२५०००००० डालर का कपड़ा बिक जाता है। लोहे के व्यवसायियों का, जिनमें रेलवे आदि का सामान तैयार करने वाले भी हैं, दस करोड़ डालर का माल बिक जाता है। भारतवर्प से साल में बारह करोड़ डालर की चाय और करोड़ों रुपयों का जूट, रूई, चमड़ा और ऊन विदेश जाता है। यहाँपर खानों से भी काफी उत्पत्ति होती है। उनसे लाभ उठाना अभी हाल में ही आरम्भ हुआ है।

भारत मे ब्रिटेन का लाभ

पहले की अपेक्षा गत अर्द्ध शताब्दी में ब्रिटेन का भारतवर्प से आर्थिक लाभ बहुत अधिक बढ़ गया है। १८७५ से १९१३ के बीच भारतवर्प का आयात पाँच सौ प्रतिशत और निर्यात ३५० प्रतिशत बढ़ गया है। गत अर्धशताब्दी में ही, खासकर महासमर के बाद, भारतवर्प में विदेशी पूँजी आई है।

ये ही सब लाभ हैं जिनके कारण उन्नीसवीं शताब्दी में

नेपोलियन के साथ अंग्रेजों का युद्ध हुआ था। उसके बाद से आज तक ब्रिटेन ने जितनी चालें चलीं, जितनी संधियाँ और मित्रताएं कीं, जितने देश अपने अधिकार में लिये और जितने देश अपने संरक्षण में किये, वास्तव में सब केवल भारतवर्ष पर ही दृष्टि डालकर किये। आर्थिक साम्राज्यवाद का ज्यों-ज्यों विकास होता गया त्यों-त्यों ब्रिटेन भारतवर्ष को अपने अधिकार में रखने के लिए मुस्तैदी से प्रयत्न करने लगा। अंग्रेजों का वर्तमान साम्राज्यवाद के युग में सब से बड़ा लाभ यदि किसी देश से है तो वह भारतवर्ष से है। अंग्रेजों के सभी उपनिवेशों की जितनी आबादी है उसका ⅘ केवल भारवर्ष की ही है। अंग्रेजों का भारतवर्ष पर अधिकार हो गया था इसीलिए वे यूरोप के और राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक लाभ उठा सके। १९१० में इंग्लैंड ने अपने प्रतिद्वंद्वी जर्मनी की अपेक्षा दस गुना अधिक माल भेजा। भारतवर्ष का जितना व्यवसाय दूसरे देशों के साथ होता है उसका तीन-चौथाई अंग्रेजी जहाजों द्वारा होता है। अंग्रेजी जहाज के व्यवसाय करने वाले और व्यापारियों का लाभ होता था फिर भला वे भारतवर्ष को राजनैतिक बंधनों से जकड़े रखने में ब्रिटिश सरकार का साथ क्यों देते। आर्थिक साम्राज्यवाद के युग में भारतवर्ष को अंग्रेजों ने आर्थिक तथा राजनैतिक दोनों ही दृष्टियों से जैसा निःसहाय और पंगु बना दिया है वैसा वह पहले कभी नहीं था। अपने लाभ के लिए साम्राज्यवादी अंग्रेजों ने भारतवर्ष के लोगों पर जितने अत्याचार किये हैं और कर रहे हैं उसका दूसरा उदाहरण संसार के इतिहास में कहीं भी ढूँढने से नहीं मिलेगा।

अब हम लोग ऐसे देशों पर दृष्टि डालें जिन से साम्राज्य-वादियों का प्रत्यक्ष लाभ नहीं था फिर भी भारतवर्ष के कारण उन्हें अधिकार में लाया गया अथवा उनसे लड़ाई कर समझौता कर लिया गया।

तिब्बत में—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में तिब्बत पर चीन का नाममात्र का प्रभुत्व रह गया था। यहां पर नमक, सोडा, पोटाश सोना, लोहा आदि की खानें थीं जो खोदी नहीं गई थीं। तिब्बत के साथ व्यापार करने के लिए भारत-सरकार ने १८९०–९३ में चीन के साथ सन्धि करली। तिब्बत वाले बाहरी देशों के साथ व्यापार नहीं करना चाहते थे। वे किसी विदेशी को अपने देश में, विशेषतः अपनी राजधानी लासा के पास, नहीं फटकने देते थे। वहाँ के व्यापार में कुछ अधिक लाभ नहीं था इसलिए ब्रिटिश सरकार वहाँ के कामों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी परन्तु दूसरी दृष्टि से तिब्बत बड़े ही महत्व का देश था। भारतवर्ष के लिए वह ढाल का काम करता था। तिब्बत वाले अपने यहां विदेशियों को घुसने नहीं देते थे इससे अंग्रेजों को उत्तर की ओर से भारतवर्ष पर रूस के आक्रमण करने की सम्भावना नहीं थी परन्तु १९०० में अंग्रेजों ने सुना कि तिब्बत के राजा दलाई लामा के एक रूसी शिक्षक लामा की ओर से दूत बनाकर रूस के जार के पास भेजे गये हैं, तब उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अंग्रेजों को सन्देह होने लगा कि कहीं रूस तिब्बत को अपने संरक्षण में तो नहीं रखना चाहता है। उन्हें यह भी सन्देह होने लगा कि रूस तिब्बत के मार्ग से भारत पहुँचने का उद्योग कर रहा है। तत्का-

लीन भारतीय वायसराय ने इस मामले में चुप बैठना उचित नहीं समझा। उन्होंने १९०४ में शिकम के अंग्रेज पोलिटिकल अफ़सर के साथ कर्नल यंग हजवैंड को तिब्बत पर चढ़ाई करने के लिए भेजा। आक्रमण करने के लिए सड़कें बनने लगीं। भारत-सरकार यह नहीं चाहती थी कि तिब्बत किसी प्रकार रूस के चक्र में पड़े इसलिए वह उसे अपने अधिकार में लाकर लासा में अपना रेजिडेंट रखना चाहती थी। तिब्बत अंग्रेजी आक्रमण को नहीं रोक सका। तिब्बत के साथ युद्ध नहीं किया गया वरन् वहां पर क़त्लेआम किया गया। अंग्रेजों के केवल सैंतीस सिपाही काम आये पर तिब्बतियों के पन्द्रह सौ आदमी मारे गये। दलाई-लामा भाग गये। ग्रेटब्रिटेन ने ७ सितम्बर को तिब्बतियों से एक सन्धि-पत्र पर जबर्दस्ती हस्ताक्षर करा लिया। उस सन्धि-पत्र के अनुसार निश्चय हुआ कि तिब्बत व्यापार के लिए खुल जायगा, विना अंग्रेजों की सम्मति के तिब्बत वाले अपने देश का कोई भाग दूसरी शक्ति को न देंगे, कोई दूसरी शक्ति तिब्बत के कार्यों में हस्तक्षेप न कर सकेगी और न वह अपना प्रतिनिधि वहाँ पर भेज सकेगी। किसी विदेशी शक्ति को उस समय तक व्यापार-सम्बन्धी अधिकार नहीं दिया जायगा जबतक वैसा ही अधिकार अंग्रेजों को न मिल गया हो। अंग्रेजों के सदा ये ही प्रयत्न रहे कि तिब्बत नवीन युग की झलक नहीं देख सके, उसका संसार के साथ सदा ही सम्बन्ध-विच्छेद रहे और वहाँ पर किसी विदेशी शक्ति का प्रभुत्व न होने पावे। २७ अप्रैल १९०६ को चीन ने भी यह सन्धि स्वीकृत कर ली, १९०७ में अंग्रेजों का रूस के साथ जो समझौता हुआ उसमें यह

निश्चित हुआ कि वह स्वतंत्र रहेगा और वहाँ पर दोनों में कोई भी राष्ट्र रेल, सड़क, तार बनवाने का, खानों में सुविधा लेने का या शासन में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करेगा।

मध्य एशिया में अंग्रेजों को रूस के बढ़ने का बहुत बड़ा ख़तरा रहता था। रूस सदा बढ़ने का और अंग्रेज़ उसके आक्रमण को रोकते हुए बढ़ने की चेष्टा करते थे।

अफगानिस्तान में—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में रूस बढ़ता-बढ़ता फारस और अफ़ग़ानिस्तान की उत्तरी सीमा तक पहुँच गया। इस बात की ख़ास कर अफ़ग़ानिस्तान के रूस के अधिकार में चले जाने की सम्भावना देखकर अंग्रेज़ों को बड़ी चिन्ता हुई। अफ़ग़ानिस्तान पार कर जाने पर भारतवर्ष पर चढ़ाई कर देना रूस के लिए बहुत आसान हो जाता। १८७८-८१ में ब्रिटिश सेना अफ़गानिस्तान भेजी गई। उसने वहां एक कमजोर अमीर को गद्दी पर बिठलाया। उस अमीर को इंग्लैंड अपने हाथ में कठ-पुतली की तरह रखना चाहता था। अंग्रेजी सरकार उस अमीर को तनख़्वाह देती थी। उसके बदले वह वहां की परराष्ट्र-नीति अपने हाथों में रखती थी। इतने से भी अंग्रेजों को सन्तोष नहीं हुआ। १८९५ में जब रूस पामीर की उपत्यका तक बढ़ आया तो इंग्लैंड और रूस के बीच लड़ाई छिड़ जाने की सम्भावना दीखने लगी। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में दोनों राष्ट्रों की प्रतिद्वंद्विता बहुत अधिक बढ़ गई। अंग्रेज बोअर लड़ाई में फँसे हुए थे। उस समय रूस आगे बढ़ने की चेष्टा कर रहा था। वह उस समय एशिया में नई-नई रेलवे लाइनें निकाल रहा था। जब वह पंजदेह तक पहुँच गया तब

मामला बहुत गंभीर हो गया। अभी तक अफ़गानिस्तान बीच में था। इसीलिए रूसी रेलों का सम्बन्ध भारतवर्ष की सीमा से नहीं हुआ था। इसलिए अंग्रेज कोई भी रेल अफ़गानिस्तान में नहीं बनने देना चाहते थे। इसी समय अफ़गानिस्तान की गद्दी पर हबीबुल्लाखां बैठे। उन्होंने अंग्रेजों की तनख्वाह लेने से इन्कार कर दिया। १९०४ में अंग्रेज बहुत तंग आगये थे। उन्होंने इस साल काबुल में अपना एक मिशन भेजा। उस मिशन का कार्य सफल हुआ। हबीबुल्लाखां ने स्वीकार किया कि 'हम फिर से उस सन्धि को दुहरायंगे जिसे हमारे पिता ने की थी और अंग्रेजों से अबतक जितनी वृत्ति नहीं ली है उसका हिसाब लगा कर लेंगे।' इसी समय उनकी वृत्ति बढ़ा कर ड्योढ़ी कर दी गई जिसमें अफ़गानिस्तान के अमीर अपने देश की रक्षा और प्रबन्ध भलीभांति कर सकें। इतना होने पर भी अंग्रेज और रूसियों की प्रतिद्वंद्विता १९०६ में इतनी बढ़ गई कि लड़ाई छिड़ जाने की सम्भावना होने लगी परन्तु १९०७ में ही दोनों राष्ट्रों का समझौता हो गया। इस समझौते में रूस ने अफगानिस्तान को अपने प्रभुत्व-क्षेत्र के बाहर स्वीकार किया। उसने यह भी स्वीकार किया कि अफ़गानिस्तान के अमीर के साथ वह जो भी बात करेगा वह अंग्रेजों के द्वारा ही करेगा। दूसरी ओर अंग्रेजों ने भी स्वीकार किया कि जब तक अफ़गानिस्तान के अमीर सन्धि की शर्तों को मानेंगे—तनख्वाह लेंगे और अपनी पर-राष्ट्रनीति अंग्रेजों के हाथ में रखेंगे तबतक उनका देश ब्रिटिश साम्राज्य में नहीं मिलाया जायगा। राजनैतिक दृष्टि से यह इकरारनामा अंग्रेजों के लिए बड़े काम का

रहा क्योंकि भारतवर्ष पर अफ़गानिस्तान के रास्ते से रूस आक्रमण नहीं कर सकता था। इस प्रकार से अफ़गानिस्तान भी साम्राज्यवाद के चक्र में आ गया।

ईरान (फारस) में

एशियायी राष्ट्रों में फारस ऐसा देश है जहाँ पर आर्थिक साम्राज्यवाद की नीति नग्न रूप में नृत्य करती हुई दिखलाई पड़ती है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में केवल उसकी स्वतंत्रता और सभ्यता का ही नहीं वरन् उसके सर्वस्व का नाश करके युरोपीय राष्ट्र अपना प्रभुत्व जमाने के कार्य में लग गये। फारस की सभ्यता बहुत ही प्राचीन थी। यहां का राजनैतिक यंत्र भी बहुत विकसित था इसलिए इसे सीधे अपने साम्राज्य में मिला लेना सम्भव नहीं था। यह देश व्यापारिक दृष्टि से युरोपीय राष्ट्रों के लिए बहुत अधिक महत्व का नहीं था। यहां आकर युरोपीय बैंकरों ने शाह को खूब अधिक सूद की दर पर रुपया देना आरम्भ किया। उनका ख़याल था कि शाह उस रुपये को ऐश-आराम में खर्च करेंगे और उसका भुक्तान करने के लिए उन्हें बहुत अधिक कर बढ़ाना पड़ेगा। कर बढ़ने से जनता में असंतोष होगा, वह राजा के खिलाफ क्रान्ति करेगी। राज्यशक्ति कमजोर हो जायगी; उस समय व्यापारिक रक्षा का बहाना कर शाह के ऊपर जोर डाला जायगा, कर्ज के मुक्त करने के लिए उनसे उनके प्रांत ले लिये जायंगे और देश अधिकार में आ जायगा। वहां पर सब से पहले १८८९ में बैरन रूटर नामक अंग्रेज ने इम्पीरियल बैंक-ऑव् पर्शिया खोला। इनका उद्देश शाह को कर्ज देना और जो खानें निकलें उनकी खुदाई करवाना था। कुछ ही दिनों बाद

रूसी लोगों का भी एक ऐसा ही कर्ज देने वाला वैंक खुला। इन दोनों वैंकों में शाह को रुपया देने के लिए प्रतिद्वंद्विता चलती थी। रूस फ्रांस से कर्ज लेकर शाह को रुपया देता था। इसमें उसे थोड़ा लाभ होता था परन्तु इस कार्य में उसका असली उद्देश राजनैतिक यन्त्र पर दखल जमाना था। इसके सिवा कर्ज देने से उन्हें रेल वनाने का तथा तेल और कोयला निकालने का अधिकार मिल जाता था और उसमें सुविधाएँ भी हो जाती थीं।

फारस की महत्ता स्थान-विशेष के कारण वहुत अधिक वढ़ गई थी। भारतवर्ष को वचाने के लिए अंग्रेज इस देश को रूस के अधिकार में नहीं जाने देना चाहते थे। रूस के पास जितने वन्दरगाह थे उनमें साल के अधिकांश दिनों में वरफ जमी रहती थी इसलिए वह फारस की खाड़ी में एक वन्दरगाह चाहता था। वीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस और इंग्लैंड की प्रतिद्वंद्विता वहुत अधिक वढ़ गई। इस समय रूसी वैंक ने शाह को कर्ज दिया और फारस की खाड़ी पर के वन्दर अब्बास को कोयला लेने का स्थान वनाया। शाह ने यह भी स्वीकार कर लिया था कि यदि सूद मिलने में विलम्ब हो जाय तो कर्ज देनेवाले इस वैंक को समुद्र-कर पर कब्जा कर लेने का अधिकार रहेगा। इतना ही नहीं फारस-सरकार ने यह भी मान लिया था कि विना उस वैंक की स्वीकृति के वह पचहत्तर वर्ष तक किसी और विदेशी शक्ति से ऋण नहीं लेगी। इस प्रकार की चालों—द्वारा विदेशी शक्तियां फारस को लूट रही थीं। १८९६ में, नासिरुद्दीन शाह की मृत्यु

रूस और ब्रिटेन की होड़

के समय, फ़ारस का ख़ज़ाना भरा हुआ था परन्तु दस साल वाद मुजफ़्फ़रउद्दीन की मृत्यु के समय वह खाली हो गया और उस पर कुछ ऋण भी हो गया।

वोअर युद्ध से छुट्टी पाने पर अंग्रेजों ने रूस को आगे बढ़ने से रोका। इस समय लार्ड कर्जन बहुत-से लड़ाके जहाज लेकर फारस की खाड़ी में गये। उनका उद्देश्य वहां के बाशिन्दों को अपनी शक्ति प्रदर्शित कर भयभीत करना था। रूस और अंग्रेजों की प्रतिद्वंद्विता १९०७ तक वढ़ती ही गई। इस समय इंग्लैंड का नया शत्रु जर्मनी बहुत तेजी से आगे बढ़ता जारहा था। इंग्लैंड ने पहले उसे परास्त करना अधिक आवश्यक समझा। इधर रूस में भी इस समय लड़ने की शक्ति नहीं थी इसलिए दोनों ने आपस में समझौता कर लिया। रूस ने जब से एशिया में अपना प्रसार करना आरम्भ किया था तब से फारस पर अधिकार करने का वास्तविक अधिकारी अपने को ही समझता था। वह कास्पियन सागर के दोनों ओर से फ़ारस को दवाता हुआ वढ़ता जारहा था। ट्रांस काकेशिया में तेल की अच्छी से अच्छी खानें हैं। रूस ने उनपर अधिकार जमा लिया था। अब उसके रास्ते का कांटा फारस ही रहा था। दूसरी ओर फारस भारत के रास्ते में पड़ता था। इसलिए अंग्रेज उसको अपने अधिकार में रखना चाहते थे।

परस्पर बटवारा

१९०७ के समझौते में रूस और इंग्लैंड ने फारस को आपस में बांट लेने और जर्मनी को नहीं घुसने देने का विचार निश्चित किया। फारस तीन विभागों में बांट दिया गया। उत्तरी विभाग में ग्रेटब्रिटेन ने अपने लिए

सुविधा लेने का और रूस के सुविधा लेने पर विरोध नहीं करने का वादा किया। रूस ने भी दक्षिणीभाग में अंग्रेजों को सफेद-स्याह करने का अधिकार दिया। बीच का भाग फारस का था। वह दोनों के लिए खुला था। इस समझौते का असली मतलब रूस और इंग्लैंड का फारस पर क़ब्ज़ा और एकाधिकार जमाना था। फारस अंग्रेजों और रूसियों से बिना पूछे किसी देश से ऋण नहीं ले सकता था। जर्मनी ने अंग्रेज और रूसियों का फारस में विशेषाधिकार मान लिया और १९११ में रेल बनाने के विषय में रूस से समझौता कर लिया। इस प्रकार से फारस का भी बँटवारा हो गया।

तुर्कसाम्राज्य पहले बहुत विस्तृत था परन्तु सोलहवीं शताब्दी के बाद उसका विस्तार दिन-दिन कम होता गया। उन्नीसवीं शताब्दी में ऐसी सम्भावना दिखलाई पड़ने लगी कि सारे तुर्की पर रूस का अधिकार हो जायगा। तुर्क बहुत निर्बल हो गये थे, उनमें लड़ने की शक्ति शेष नहीं रही थी। तुर्की रूस के अधिकार में चला जाता परन्तु युरोपीय शक्तियाँ अकेले रूस को ही सारे तुर्क-साम्राज्य पर अधिकार नहीं जमाने देना चाहती थीं। सभी युरोपीय राष्ट्र मिलकर तुर्कसाम्राज्य को अपने साम्राज्य में मिला लेना चाहते थे परन्तु उन लोगों में भी आपस में मतभेद था। उनके आपस के मतभेद के ही कारण तुर्क-साम्राज्य बचता चला आता था। अंग्रेज पूरे तुर्क-साम्राज्य पर अकेले अपना अधिकार नहीं जमा सकते थे और न वे दूसरी युरोपीय शक्तियों का थोड़ा भी अधिकार वहां पर होने देना चाहते थे क्योंकि वह भारतवर्ष

तुर्की में

के मार्ग में पड़ता था । इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी में सदा इसी नीति का प्रतिपादन करते रहे कि तुर्क-साम्राज्य जितना बचा है वह अखण्ड बना रहे । युरोप की हरेक शक्ति को भय था कि यदि तुर्की का अंग—विच्छेद होगा तो दूसरी शक्तियों को उसके नये-नये प्रदेश मिल जांयगे जिससे उनका बल बढ़ जायगा । आर्थिक साम्राज्यवाद के आने पर प्रत्येक शक्ति यह आशा करती थी कि हम तुर्की को ऋण देकर उससे थोड़े-थोड़े अधिकार प्राप्त करके अन्त में उसके पूरे मालिक हो जाँयगे और दूसरे राष्ट्रों की उसमें कुछ भी नहीं चलेगी । ये ही मुख्य कारण थे जिनसे युरोपीय शक्तियों ने तुर्कसाम्राज्य को अपने अधिकार में लाने के जितने भी प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष प्रयत्न किये उनमें कोई भी सफल नहीं हो सके । कुछ युरोपीय राष्ट्रों के सहायता करने पर भी उन्नीसवीं शताब्दी में तुर्कसाम्राज्य अखण्ड नहीं रह सका । दो युद्धों में रूस ने तुर्की से कृष्णसागर के पूर्व का बहुत-सा प्रदेश छीन लिया । इधर यूनान, सर्विया, मांटिनिग्रो रूमानिया और बलगेरिया अपने उद्योग से स्वतंत्र हो गये और यहां तक बढ़े कि तुर्कों को युरोप से बाहर निकल जाना पड़ा ।

जर्मनी ने साम्राज्यवाद की दौड़ में बहुत पीछे भाग लिया । उस समय तक एशिया और अफ्रिका का बंटवारा लगभग खतम हो चुका था । अफ्रिका में उसे जो भाग मिला था वह बहुत ही कम था इसलिए वह तुर्कसाम्राज्य में बढ़कर अपनी कमी पूरी कर लेना चाहता था । बिस्मार्क तुर्क-साम्राज्य की महत्ता को नहीं समझता था । १८८८ में जब विलियम द्वितीय गद्दी पर बैठा

जर्मनी देर से पहुँचा

तो उसने जर्मन साम्राज्यवादियों की सहायता की। १८९२में जर्मन-सम्राट् द्वितीय वार तुर्की गये। उनका उद्देश राजनैतिक और आर्थिक था। इसी समय से तुर्की में जर्मन साम्राज्यवादी चाल सफल होने लगी। कैसर के तुर्की जाने का यह परिणाम हुआ कि जर्मन लोगों को हैदरपाशा वन्दर वनाने में सुविधाएँ मिल गईं और साथ ही साथ वगदाद तक ऐनेटोलियन रेलवे वनाने का अधिकार भी मिल गया। इन कार्यों से एशिया माइनर का आर्थिक दरवाजा खुल जाता था। अभी तक जर्मनी का तुर्की में वहुत कम लाभ था। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में वहां पर साम्राज्यवाद के सभी दूत पहुँचने लगे। वहां पर मिशनरी, जहाज चलाने वाले, आयात-निर्यात का व्यवसाय करने वाले, वैंकर, पूंजी लगाने वाले और सैनिक सव को काम मिलने लगा। इन सव में अधिक महत्व का कार्य जर्मनी का रेल वनाना था।

जर्मन रेलवे लाइन

सुल्तान ने जर्मनी को रेल वनाने का अधिकार दिया। फ्रेंच, व्रिटिश और रूसी प्रतिद्वंद्वियों ने इस कार्य में वाधाएँ डालीं। अन्त में १८९९ में रूस को कृष्णसागर के किनारे के प्रान्तों पर रेलवे की सुविधा का एकाधिकार दिया गया। जर्मनी की रेल-डियारव्रेक, टाइग्रिस और मोसल होकर जाने वाली थी। इसका रूस ने विरोध किया क्योंकि रूसी पूंजीपति उन प्रान्तों को अपने लिए चाहते थे। रूसी लोगों के विरोध करने के कारण जर्मन लोगों को दूसरे रास्ते से रेल ले जानी पड़ी।

वगदाद रेलवे के लिए तुर्की सरकार ने वहुत सुविधाएँ दीं। उस रेल कंपनी की रजिस्ट्री तुर्की में होने को थी और तुर्की की

सरकार२७५००० फ्रैंक का बौंड प्रत्येक मिलोमिटर रेललाइन के लिए देने को तैयार थी। वही बौंड युरोपीय पूँजीपतियों के हाथ वेंचा जाता और कंपनी के कार्य-संचालन के लिए नगद रुपया मिलता। तुर्की सरकार ने इस रेलवे के घाटे का भी ठीका ले लिया था। प्रत्येक किलोमीटर में यदि ४५०० फ्रैंक से कम आमदनी होती तो उसे तुर्की सरकार पूरी करती। रेल के लिए जमीन मुफ्त दी गई थी। ये सभी सुविधाएँ तुर्की सरकार ने अपनी भलाई सोचकर ही दी थी। उसे आशा थी कि रेल बनने से राज्य की आमदनी बढ़ जायगी और निन्नानवे साल के बाद रेल तुर्की सरकार की हो जायगी।

दूसरों की ईर्ष्या

इस रेलवे में अंग्रेज और फ्रेंच दोनों ही देशों के पूँजीपतियों की पूँजी शामिल होने को थी। परन्तु अंग्रेजों के जहाजी व्यवसाय को इस रेल से घाटा होता और भारतवर्ष का रास्ता सुरक्षित नहीं रह जाता इसलिए उन्होंने इस रेल के बनाने का विरोध किया। फ्राँस पहले इस रेल में भाग लेना चाहता था क्योंकि उससे मोरक्को के झगड़े से हटकर जर्मनी का ध्यान तुर्की में लग जाता; फिर मोरक्को में सफ़ेद-स्याह करने का अधिकार फ्राँस को मिलता। परन्तु इससे फ्रेंच लोगों को सीरिया आदि की रेलों में घाटा होने की सम्भावना थी इसलिए उन्होंने रेल का विरोध करने में रूस का साथ दिया। रूस आर्थिक दृष्टि से और अधिकतर इस दृष्टि से प्रेरित होकर रेल का विरोध करता था कि रेल बन जाने पर जर्मन सेना रूसी सीमा पर बहुत जल्दी पहुँचाई जा सकती थी।

रेल का प्रश्न बड़े-बड़े राष्ट्रों की साम्राज्यवादी नीति से

टकरा गया। साम्राज्यवाद का चक्र तुर्की में भी चला परन्तु बड़े राष्ट्रों के परस्पर द्वेष के कारण उसका बंटवारा नहीं हो सका।

एशिया के इन बड़े-बड़े देशों के सिवा भूमध्य सागर में अरब के पश्चिम साइप्रस से लेकर चीन के पूर्वी बन्दर वेई-हाई-वेई तक एशिया महाद्वीप के दक्षिणार्ध में जितने टापू, बन्दर और युद्धोपयोगी स्थान हैं उन सब पर अंग्रेजों ने अधिकार जमा लिया। अंग्रेजों के अधिकार में साइप्रस, स्वेज, पेरिमबन्दर, अदन, सुकोट्रा, कुरिया मुरिया, वेहरीन टापू, लखद्वीप, मालद्वीप, लंका, वर्मा, अंडामन नीकोवार, मलय देश, सिंगापुर, सरवक, उत्तरी वोर्नियो, हाँग-काँग, वेई-हाई-वेई आदि सभी स्थान आ गये। अमेरिका ने ११ अप्रेल १८९९ की सन्धि के अनुसार फिलिपाइन्स का द्वीप-पुञ्ज प्रायः छः करोड़ रुपये में स्पेन से अपने आर्थिक लाभ के के लिए खरीद लिया। सामोआ टापू का बटवारा संयुक्त राष्ट्र अमेरिका और जर्मनी के बीच व्यापारिक लाभ के लिए कर लिया गया। पुर्तगाल ने एशिया के एक हजार वर्गमील पर, जहाँ दसलाख आदमी बसते हैं, अपने व्यापारिक लाभ की दृष्टि से अधिकार कर लिया। डच ईस्ट इण्डीज़, जिसमें जावा, सुमात्रा, वोर्नियो आदि के टापू हैं, पर आर्थिक लाभ के लिए ही हालैंड का अधिकार कायम रखा गया है। इन सभी एशियायी देशों पर व्यापारिक लाभ के लिए बहुत पहले से ही आधिपत्य जमाना आरम्भ हुआ था परन्तु इनमें अधिकांश भाग पर आर्थिक साम्राज्यवाद के चक्र चलने के बाद ही कब्जा किया गया।

टापुओं पर अधिकार

आर्थिक साम्राज्यवाद का चक्र १८७० के बाद चला और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक एशिया के लगभग सभी प्रदेशों पर युरोपीय शक्तियों ने आधिपत्य जमा लिया।

[३]

एशिया की घोर निशा

जिस समय साम्राज्यवाद का चक्र चलना आरम्भ हुआ उस समय सम्पूर्ण एशिया घोर अन्धकार में पड़ा हुआ था। संसार में कितना उलट-फेर हो गया इसका उसे कुछ भी पता नहीं था। तत्कालीन संसार में उसे निज के स्थान का भी ज्ञान नहीं था। महान् चीन-सम्राट् की शान खतम हो चुकी थी परन्तु उनके विचारों में परिवर्तन नहीं हुआ था। एशिया के प्रमुख राष्ट्र अपनी प्राचीन सभ्यता के अभिमान में फूले हुए थे। वे समझ रहे थे कि हम उन्नति की उस चरमसीमा तक पहुँच चुके हैं जहां से और आगे नहीं बढ़ा जा सकता। ऐसी अवस्था में उनकी तरक्की नहीं हो सकती थी। भारतवर्ष ने समझ लिया कि संस्कृति के विषय में और अधिक उन्नति नहीं की जा सकती, अब वह पूर्णता की चोटी पर पहुँच चुका है। अपने को पूर्ण समझ लेने के बाद ये राष्ट्र दिन-दिन नीचे गिरने लगे। जबतक उनके गर्व पर प्रत्यक्ष रूप से धक्का नहीं पहुँचता था उनकी नींद नहीं टूटती थी। यह समय एशिया के लिए घोर अन्धकार का था। दिन-दिन पराधीनता की कड़ी से कड़ी बेड़ियों से वह जकड़ता जा रहा था परन्तु उसे उसका अनुभव भी नहीं हो पाता था। झूठी आध्यात्मिकता के अभिमान में फूलकर एशियायी राष्ट्र सांसारिक चीजों की परवा नहीं करते

थे; भारतवर्ष में रहने वाले और अच्छे विद्वान् कहे जाने वाले लोगों को भारतवर्ष के विषय में बहुत ही साधारण ज्ञान रहता था। भूगोल का ज्ञान इतना कम था कि पंजाब के रहने वाले बनारस कहां पर है, नहीं जानते थे। भारतवर्ष से केवल उत्तरी भारत का मतलब लिया जाता था। उत्तरी भारत में रहनेवाले दक्षिणी भारतवर्ष वालों के हित-अनहित से अपना कोई सम्पर्क नहीं समझते थे। भारतवर्ष की राजनैतिक एकता नहीं थी। जिन लोगों के साथ उन्हें लड़ना था उन लोगों के उद्देश्यों को भी वे नहीं समझ पाते थे। एशियायी राष्ट्र कृषि-प्रधान राष्ट्र थे। यहां के उद्योग-धंधे न तो आरम्भ ही हुए थे और न आगे ही बढ़ रहे थे। देश अनेक प्रांतों में विभक्त था। लोगों में राष्ट्रीयता का भाव नहीं था। उन्हें यह पता नहीं था कि एक भाषा बोलने-वाले, एक जाति, एक संस्कृति और एक ही प्रकार के, प्राचीन ऐतिहासिक घटनाओं का गर्व करनेवाले लोगों की एकता किस प्रकार की होती है। ये ही कारण थे जिनसे विस्तार में बड़े होने पर भी युरोप के छोटे राष्ट्रों का सामना एशियायी राष्ट्र नहीं कर सके।

युरोपीय राष्ट्रों ने एशिया के इस घोर निशाकाल का खूब उपयोग किया। साम्राज्यवादियों की नीति सफल होती दिखलाई देने लगी। युरोपियन लोगों में विजय पर विजय प्राप्त करते जाने से आत्माभिमान का भाव आया। भविष्य में और अधिक विजय प्राप्त करने में आत्माभिमान ही मुख्य बल होता है। एशियायी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करते जाने से विजयी राष्ट्रों के भीतर अपनी

दूसरों के सुधार का ठेका

शक्ति का गर्व होने लगा। वे अपने को श्रेष्ठ तथा विजित लोगों को नीच समझने लगे। इतना ही नहीं पिछड़े हुए राष्ट्रों (एशिया के सभी राष्ट्र युरोपियनों की दृष्टि में पिछड़े हुए थे) को आगे बढ़ाने का ठेकेदार भी वे अपने को ही समझने लगे। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए एशियायी राष्ट्रों पर अपना और अधिक आधिपत्य जमाना उन्हें नैतिक दृष्टि से भी न केवल उचित ही परन्तु आवश्यक प्रतीत होने लगा। वे समझने लगे कि उनका अधिपत्य जमाना उनके अपने देश के लिए उतना लाभदायक सिद्ध नहीं होगा जितना विजित राष्ट्र के लिए कल्याणकारी होगा। एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि उन्होंने पीछे पड़े हुए लोगों को सुधारने का ठीका ले लिया था। उनमें कितने इसे अपने ऊपर भार भी समझने लगे थे।

विजित देशों के भीतर यह भाव जमाने के लिए कि गोरे श्रेष्ठ हैं विजेताओं ने उन देशों का शिक्षा-कार्य अपने हाथों में ले लिया। वे उन देशों के नवयुवकों को अपने स्कूल-कालेजों में शिक्षा देने लगे। उनकी शिक्षा का नवयुवकों पर यह असर होता था कि उनके भीतर से स्वाभिमान का भाव जाता रहता था। वे समझने लगते थे कि उनके देश का वर्तमान इतिहास तो कोई महत्व रखता ही नहीं, साथ ही प्राचीन काल में भी वे वैसे समुन्नत नहीं रहे थे। उनकी कोई सभ्यता नहीं थी। वे नवयुवक विदेशियों की सभ्यता को ही अपना पैमाना बना लेते थे। जहाँ उस प्रकार की सभ्यता उन्हें दृष्टिगोचर न होती वहाँ के लोगों को असभ्य समझने लगते थे। नवयुवकों के

विघली और आत्म-विस्मरणशील शिक्षा

सामने एक ओर अपने देश का भद्दा से भद्दा चित्र रहता था, दूसरी ओर पश्चिमी सभ्यता का सुन्दर से सुन्दर रूप रहता था। वैसी अवस्था में उनका अपने देश को नीचा समझने लग जाना स्वाभाविक ही था। अंग्रेज देशी लोगों से हिलते-मिलते नहीं थे। वे सदा उनसे अपने को अलग रखने का प्रयत्न करते थे, इससे उनका और भी अधिक असर पड़ता था। उन लोगों के भीतर की दैनिक जीवन की बुराइयाँ लोगों को मालूम नहीं पड़ती थीं इसलिए वे लोग ऊँचे समझे जाते थे। इन सब बातों का एशियायी लोगों पर इतना अधिक असर पड़ा था कि वे दैनिक जीवन की अपनी भूलों को 'हिन्दुस्तानीपन' वा 'वहशीपन' कहने में भी हिचकते नहीं थे। विजित देशों में सड़कों पर यदि युरोपियन चलते थे तो कितने देशी लोग रास्ता छोड़ उनसे नीचे हो चलने लगते थे। वे लोग अपने को युरोपियनों की बराबरी का नहीं समझते थे।

अंग्रेजी शिक्षा और युरोपियन प्रचारकों ने एशियायी लोगों की नस-नस में गुलामी का भाव भर दिया। वे लोग समझने लगे कि विधाता ने ही उनके भाग्य में गुलामी लिख दी है। उसे कोई मिटा नहीं सकता। वे लोग इतने हतोत्साह हो गये थे कि अपने को अपना राज्य चलाने में सर्वथा अयोग्य समझते थे। वे लोग यह भी समझने लगे थे कि युरोपियन जातियाँ बड़ी परोपकारी होती हैं। वे अपने देश का बहुत-सा रुपया खर्च करके और बहुत-से आदमियों का खून बहाकर उपनिवेशों पर उनकी ही भलाई के लिए अधिकार करती हैं। उन लोगों का

नैतिक और मानसिक पतन

शासन देशी लोगों के लाभ के लिए ही होता है। विदेशियों के आने से ही देश की उन्नति हुई है। उनके आने से ही उस देश को उतना आर्थिक लाभ हुआ है जितना, यदि वे विदेशियों के अधीन न हुए होते तो, उन्हें स्वप्न में भी मिलने की आशा नहीं थी। विदेशियों के आने के ही कारण उनका देश सभ्य बना है। रेल-तार आदि वर्तमान युग की सभी आश्चर्यजनक सामग्रियाँ उनके देश में विदेशियों के ही कारण प्राप्य हैं। यदि विदेशी नहीं पहुँचे होते तो उनका देश जंगली हालत में पड़ा रहता। भविष्य में भी कुछ दिनों तक विदेशियों का अपने देश में राज्य कायम रहने देना वे आवश्यक समझते थे। क्योंकि उनको विश्वास था कि उनके जाते ही देश में अराजकता फैल जायगी, उनका देश दूसरे आक्रमणकारियों का शिकार हो जायगा इसलिए उनकी समझ में देश में शांति बनाये रखने के लिए विदेशियों का रखना अत्यन्त आवश्यक था।

युरोपियनों की इतनी धाक जम गई थी कि उनके चले जाने की लोग कल्पना ही नहीं करते थे। लोग समझते थे कि विदेशी बहुत दिनों से देश में जम गये हैं और अब वह समय निकल गया जब कि उनके अधिकारों में किसी प्रकार का सन्देह किया जा सके। विजित देश अब उनके साम्राज्य का मुख्य अंग बन गया है, उन देशों में उन्होंने बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगा रखी है और विजित देशों ने भी अपने राष्ट्रीय ऋण का बहुत बड़ा भाग उनसे लिया है। केवल शासन करने वाला राष्ट्र ही नहीं परन्तु और भी दूसरे विदेशी राष्ट्रों ने केवल इसी विचार से उस

आत्म-विश्वास का विनाश

देश में पूँजी लगाई कि जब तक तत्कालीन शासक शासन करेंगे तब तक उनकी लगाई हुई पूँजी में धोखा नहीं हो सकता। इसीलिए न तो विदेशी ही उन देशों से बाहर जायंगे और न अपने देश से शासनाधिकार ही निकलने देना चाहेंगे। विदेशियों के निकालने में सबसे बड़े बाधक उनके देशवासी ही हो जायंगे। जिन लोगों ने विदेशी शासन में उच्च पद प्राप्त किये हैं अथवा जो देश के बड़े-बड़े ज़मींदार अथवा शिल्पी हैं वे विदेशियों को नहीं जाने देना चाहेंगे। यदि विदेशी चले जायंगे तो उसे वे लोग अपना बहुत बड़ा दुर्भाग्य समझेंगे इसलिए विदेशियों के निकाले जाते समय वे लोग बिना क्रान्ति मचाये दम नहीं लेंगे।

एशियायी राष्ट्रों में प्राचीनकाल में चाहे राजाओं के प्रति वे भाव भले ही न रहे हों परन्तु आगे चलकर अवश्य ही उनके प्रति बहुत अधिक आदर के भाव आगये थे। वे लोग समझने लगे थे कि राजा ईश्वर-द्वारा ही शासन करने के लिए भेजा जाता है। उसे हटाना महापाप है। विदेशी भी राजा हैं अतः उनके खिलाफ भी क्रान्ति करना उचित नहीं है। विदेशियों ने उनके देशों के पुराने शासकों से सन्धि करके देश पर अधिकार प्राप्त किया है, उस सन्धि को प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से सारे संसार ने मान लिया है। विदेशियों के हाथ उन देशों के राजा-महाराजाओं ने ही यह देश अर्पण कर दिया है अतः विदेशियों को राज्य करने का पूर्ण अधिकार है। उनके वैसे अधिकारप्राप्त राज्य के खिलाफ क्रान्ति करना उचित नहीं है।

उपर्युक्त सभी बातों की जड़ में एशियायी राष्ट्रों के भीतर छिपी हुई अपनी निजी कमजोरी थी। वे अपने को किसी भी

प्रकार से विदेशियों को देश से भगा देने में असमर्थ पाते थे। उन लोगों का ख़याल ही बंध गया था कि एशियायी राष्ट्रों में शक्ति नहीं, संगठन नहीं, उनकी सामाजिक अवस्था अत्यन्त ख़राब है, उनमें आपस में फूट का भाव कूट-कूट कर भरा है, उनका प्राचीन इतिहास आपस की लड़ाइयों की कहानियाँ है, फ़ारसी और हिन्दू कवियों की गाथाओं ने ईरानी और तूरानी तथा मंगोल और आर्य जातियों के बीच की लड़ाइयों को अमर बना दिया है। वर्तमान समय में भी वैसे उदाहरणों की कमी नहीं है। तुर्की के खिलाफ़ लड़ने वालों का साथ फारस, अफगानिस्तान और हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने दिया। एक जाति का भी आपस में मेल नहीं रहा है। चीनी लोग कोरियन और जापानियों से तो वैर का भाव रखते ही थे साथ ही अपने देश में शासन करनेवाले मंचू लोगों से भी उनका विरोध रहा है। अंग्रेजों के आने के पहले भारतवर्ष के लोग आपस में ही लड़ा करते थे। यहां पर धार्मिक विभेद भी बहुत बड़ा विभेद है। हिन्दुओं के आपस के साम्प्रदायिक झगड़े, आपस के जाति-भेद तो हैं ही, साथ ही मुसलमान, जिन्होंने हिन्दुस्तान में ही अपना घर बना लिया है, उनके सबसे बड़े शत्रु हैं। हिन्दू मुसलमानों को सदा अपने से नीचे समझते आये हैं; मुसलमानी अमलदारी में हिन्दू उनका विरोध करते ही थे आगे चलकर भी उन लोगों ने आपस के ही झगड़े के कारण अंग्रेजी शासन की नीव मज़बूत कर दी। सामाजिक कुरीतियों में अफ़ीम खाना, स्त्रियों की गिरी हुई दशा, बाल-विवाह और शिक्षा का

शक्ति और साधन का अभाव

अभाव मुख्य है। इसके अलावा एशियायी राष्ट्रों के पास लड़ाके जहाज, हवाई जहाज, तोप, बन्दूक और मनुष्यों के प्राण-नाश करने वाले गेस नहीं, फिर भला वे इतने अभावों और दुर्बलताओं के रहते हुए विदेशियों को अपने देश से क्योंकर भगा दे सकते थे ? वर्तमानकाल में युद्धोपयोगी आवश्यक सामग्रियों के अभाव में वे क्योंकर विदेशियों का प्रभुत्व हटा सकते थे ? खाने के बिना तड़पते हुए, दुर्बल, वैसे प्राणी, जिनकी ठठरी निकली हुई है, क्या युद्ध कर सकते हैं ? देश में काफ़ी धन नहीं जिससे सेना रखी जा सके। देश की जितनी लड़ने वाली जातियां हैं रुपये के लोभ में विदेशियों के अधीन हैं। विदेशियों के पास पर्याप्त धन और संगठन है, उनके पास युद्ध की वर्तमान सामग्री दिन-दिन बढ़ती जा रही है, देश के अधिकांश लोग शिक्षित हैं। वैसी अवस्था में उनसे क्योंकर लड़ाई छेड़ी जा सकती है ? यदि लड़ाई छेड़ भी दी जाय तो भी क्या एशियायी राष्ट्रों के विजयी होने की सम्भावना है ?

एशिया में जहां-कहीं भी युरोपियनों का व्यावसायिक अथवा राजनैतिक आधिपत्य हो पाया था, चमड़े के रंगों की विभिन्नता काम कर रही थी। गोरे लोगों में और उनके सम्पर्क में आये हुए एशियायी लोगों में भी यह भाव भर गया था कि गोरी जातियों में पुश्तैनी श्रेष्ठता का वीज है। उन लोगों की संस्कृति के समान संसार में और कहीं की भी संस्कृति नहीं है। वे स्वयं तो कभी गुलाम हो ही नहीं सकते, साथ ही ईश्वर ने उन्हें दूसरों पर राज्य करने के लिए ही उत्पन्न किया है। रंगीन चमड़ेवाले लोगों पर राज्य करने के लिए ही वे संसार

में आये हैं। उन आर्य लोगों पर भी उन्हें अधिकार करने का हक़ है जिनकी एक शाखा वे स्वयं हैं और जिनसे उन्होंने बहुत-कुछ सीखा है। ठीक ही है, इन युरोपीय राष्ट्रों को ईश्वर के यहां से अपनी सभ्यता प्रसार करने का परवाना न मिल गया होता तो ये अपना घर-वार छोड़ अनेक समुद्र पार के देशों में जाकर शासन करने के लिए क्यों झगड़ते फिरते ?

इन भावों के फैलाने में युरोपीय लोगों का मुख्य उद्देश्य एशियायी लोगों के भीतर से आत्मविश्वास और स्वदेशाभिमान के भाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना था। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए एशियायी युवकों के दिमाग़ उलटे-सीधे इतिहास पढ़ाकर फेर दिये जाते थे। एशिया के लोग इसे समझ नहीं पाते थे। उनके लिए यह घोर निशा का काल था।

आरम्भ में भारतवासियों ने समझा कि वे अंग्रेजों से कम शिक्षित हैं, इसीलिए गोरे चमड़ेवाले उनका आदर नहीं करते। वे लोग विदेशों में जाकर वहां की शिक्षा प्राप्त करने लगे। शिक्षा में वे अंग्रेजों की बराबरी करने लगे, फिर भी उनका मान गोरे चमड़े वालों जितना नहीं होता था। एशिया के दूसरे विभाग के लोगों ने इस प्रकार का अनुभव प्राप्त नहीं किया।

आकांक्षा की दौड़ में चीन

चीन-वासी विदेशी शक्तियों की बराबरी में आ जाना चाहते थे। वहाँ पर इस समय तक साम्राज्यवाद के साथ-साथ आनेवाली सभी चीजें आ गईं थीं। वह अपनी आर्थिक उन्नति करना चाहता था परन्तु उसके पास रुपये नहीं थे। विदेशी पूंजी-पति अपना रुपया अच्छी से अच्छी शर्तों पर लगाना चाहते

थे। उन्होंने चीन को ऋण दिया। चीनी लोगों ने उन्हीं रुपयों से विदेशी यंत्र मंगाने आरम्भ किये। विदेशी यंत्र के व्यापारियों को अपने सामान की खपत करनी थी इसलिए वे चीन में यंत्र भेजने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में छोटे पैमाने पर चलने वाले व्यवसाय बंद हो गये। व्यापारिक श्रेणियाँ (Trade guilds) टूट गईं। विदेशी अर्थ-संचालकों से रुपया लेकर कल-कारखाना चलाने वालों का एक दल क़ायम हो गया। इन लोगों की प्रतिद्वंद्विता विदेशी व्यापारियों से चलने लगी। ये लोग विदेशी व्यापारियों के लाभ से जल रहे थे। विदेशी व्यापारी इतना अधिक अन्याय करने लगे थे कि चीनी नौकाश्रयों में ठहरने से चीनी जहाजों को भी रोक देते थे। देश की रेल और खानों पर उन्हीं लोगों का अधिकार था और वे उससे बहुत अधिक लाभ उठाते थे। इतना होते हुए भी विदेशियों के प्रतिद्वंद्वी चीनी व्यापारी अपने देश में सुधार नहीं होने देना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि चीन दृढ़ और संगठित हो और नये ढंग की शासन-प्रणाली प्रस्थापित कर विदेशी महाशक्तियों से टक्कर लेने योग्य बन जाय। फिर भी वे विदेशियों से घृणा करते थे। विदेशी आक्रमण से देश को बचाना चाहते थे। पीटर के साथ अपनी तुलना करनेवाले कांगसू नामक चीनी सम्राट् ने देश में सुधार करना चाहा। उन्होंने चीन को पाश्चात्य देशों का अनुकरण करने के लिए ख़रीता निकाला। चीन इस समय अन्धकार में था। वह नहीं जानता था कि उसकी उन्नति का वही मार्ग है। वहां वालों ने उसका विरोध किया और उपर्युक्त प्रकार के चीनी देशी व्यापारियों ने

[कुल्हाड़ी की मूठ

विरोधियों का साथ दिया। इस प्रकार वे स्वयं अपने देश को नष्ट करने में 'कुल्हाड़ी की मूठ' बन गये।

चीन-वासी विदेशियों की आतंक-दायिनी नीति से अवश्य ही घबड़ा गये थे। वे समझ गये थे कि युरोपीय शक्तियाँ समझने लगी हैं कि चीन अब इस योग्य हो गया है कि सभी महान् शक्तियाँ मिलकर उसे बाँट लें; उसकी स्वतंत्रता नष्ट कर दी जाय। इसके खिलाफ उन्हें क्रान्ति करनी थी परन्तु विदेशियों की नीति अपनाकर अपना हित साधने की उन्हें नहीं सूझी। उन्होंने घूँसे के बल पर विदेशियों को निकाल देना चाहा। १८९६-९९ तक की छीना-झपटी से चीन-वासी बहुत दुखी हो गये थे। विदेशियों ने वहाँ पर जहाँ-जहाँ रेलें बनवाई थीं, खानें खोदी थीं और बन्दरों आदि में अधिकार प्राप्त किये थे उनके कारण उन स्थानों पर चीनियों में विदेशियों के प्रति अधिक घृणा उत्पन्न हो गई थी। विदेशियों के कट्टर विरोधी, तलवार के बल से विदेशियों को निकाल देने की इच्छा रखनेवाले लोगों को ही युरोपियन 'बॉक्सर' कहा करते थे। शारीरिक शक्ति के बल पर ही बॉक्सर विदेशियों को निकालकर अपने देश की और देशों के बराबर उन्नति करना चाहते थे। तत्कालीन राजमाता जू-हूशी (Empress Dawager) ने भी उन लोगों का साथ दिया। उसने बॉक्सर आन्दोलन के संचालक यूचुंग नामक एक राजकुमार को राज्य का अधिकारी चुना। यूचुंग के पिता राजकुमार तुआन अच्छी तरह समझते थे कि फ्रांस, रूस, जर्मनी और ग्रेटब्रिटेन उनके देश को निगल जाना चाहते हैं। सेनापति यूनशिकाई ने भी

'बाक्सर'-विद्रोह

विद्रोहियों का ही साथ दिया। इसी समय सभी प्रान्तीय गवर्नरों के पास सूचनाएँ भेज दी गईं कि चीन में शीघ्र ही विदेशियों का क़त्लेआम होने वाला है। १३ जून १९०० को यह बाक्सर-विद्रोह आरम्भ हुआ। रेल की लाइनें तोड़ी गईं, तार के खंभे उखाड़ फेंके गये और विदेशियों की सम्पत्ति लूटी और जलाई जाने लगी, विदेशियों की क़ब्रों तक से लाशें उखाड़कर फेंक दी जाने लगीं। लगातार कई दिनों तक विदेशियों की हत्या होती रही। विदेशी स्त्री-बच्चे आ-आकर विदेशी राजदूतावासों में शरण लेने लगे। इस समय ६००० विदेशी और चीनी ईसाई इन राजदूतावासों में छिपे थे। इसी समय रास्ते पर ही जर्मन राजदूत वैरन वानकटलर को एक मंचू अफसर ने मार डाला। अगस्त के महीने में विदेशियों की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय सेना (जापान की दस हजार, रूस की चार हजार, ब्रिटेन की तीन हजार, अमेरिका की दो हजार और कुछ फ्रान्स और जर्मनी की सेनाएँ) विद्रोह दबाने के लिए भेजी गईं। यह मुसलमानों के जेहाद और रूसी लोगों द्वारा यहूदी लोगों पर किये गये आक्रमण से बढ़कर था। इस सेना ने बाक्सर-विद्रोह को दबा दिया और पेकिंग पर अधिकार कर लिया। इन विदेशी सैनिकों ने पेकिंग में खूब लूट-मार मचाई। वहां की वेधशाला के सभी बहुमूल्य यंत्र जर्मन सैनिकों ने लेकर जर्मनी भेज दिये। जर्मन-सरकार को भी इस लूट के माल को अपनाने में किसी प्रकार का संकोच नहीं हुआ। विजयी युरोपीय शक्तियों ने चीन के सामने अपनी मनमानी शर्तें पेश कीं। अपने लिए बहुत-सी व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त कं।

पराजित चीन की लूट

विद्रोहियों को दण्ड दिये जाने के सिवा चीन पर ३२५०००००० डालर हर्जाने की रकम लाद दी गई। प्रायः सभी शक्तियों ने चीन को अपना कर्जदार बना रक्खा था इसलिए उन्हें आशा थी कि उनके साथ चीन और भी रियायत करेगा और अपने देश में उनके लिए अनेक प्रकार के आर्थिक सुभीते कर देगा। विदेशी शक्तियां ऋण की रकम लाद कर चीन को सदा अपनी गुलामी में रखने का प्रयत्न कर रही थीं। मई के महीने में चार रुपये सैकड़े सूद की दर से चालीस वर्ष के वादे पर चीन पर एक और वहुत बड़ी कर्ज की रकम लाद दी गई। चीन में विदेशियों के जितने राजदूतावास थे वे सब एक स्थान पर कर दिये गये और उनके चारों ओर क़िलेवन्दी कर दी गई और उसकी रक्षा के लिए सैनिक नियुक्त कर दिये गये। चीन ने संसार के और राष्ट्रों की वरावरी करनी चाही थी परन्तु वह और भी नीचे ढकेल दिया गया।

स्वार्थ की प्रवलता

इसी समय युरोपीय राष्ट्रों में कुछ ने आपस में, और चीन के साथ भी, कुछ ऐसी गुप्त सन्धियाँ करली थीं जिनके द्वारा केवल उनका ही निजी लाभ हो सकता था। दूसरी शक्तियाँ उनके लाभ में हिस्सेदार नहीं बन सकती थीं। इंग्लैंड और जर्मनी में समझौता हो गया था कि वे दोनों चीन में एक ही नीति से काम लेंगे। इस समय विदेशी राष्ट्रों के आपस में मतभेद रहने के कारण उसका बँटवारा नहीं हो सका। १५ मार्च १९०१ को जर्मन पार्लमेण्ट में चांसलर वूलो ने कहा था—"जर्मनी ऐसी शक्तियों में है जो चीन में केवल व्यापारिक अधिकार चाहती हैं। इसीलिए उसने ग्रेटब्रिटेन से

समझौता किया। जर्मनी को शाँटुंग, वेईहाई वेई, शांघाई, हाँग-काँग आदि की चिन्ता नहीं। मंचूरिया से उसका कोई मतलब नहीं। वह केवल यही चाहता है कि चीन का वंटवारा न होजाय जिससे आय-मार्ग बन्द हो जाय और ऋण की वसूली में बाधा पहुँचे।" यही नीति सब यूरोपीय राष्ट्रों की थी। उन्हें केवल अपने ही लाभ का ध्यान रहता था; कोरिया की स्वतंत्रता नष्ट होने से अथवा मंचूरिया में चीन के अधिकार छिन जाने से उन्हें कोई मतलब नहीं था। युरोपीय राष्ट्रों की सभी स्थानों पर केवल यही नीति रही है कि उनका अपना स्वार्थ सिद्ध होता जाय।

बाक्सर क्रान्ति के बाद युरोपीय राष्ट्रों ने लोगों में यही भाव भरने की चेष्टा की कि बॉक्सर लोगों ने निर्दोष विदेशी लोगों की, खासकर पादरियों की, हत्या की थी इसीलिए उन्हें दवाया गया है। हम विदेशी लोग चीन में वे ही कार्य कर रहे हैं जिसे करने का सन्धियों द्वारा अधिकार प्राप्त हुआ है और उन्हीं वातों का प्रचार कर रहे हैं जिनसे चीनियों का ही हित-साधन होता है। इस प्रकार के स्वार्थ-त्याग का वहाना कर उस समय विदेशी अपना हित-साधन कर रहे थे जिस समय एशिया घोर निशा में सो रहा था। ऐसा मालूम होता था मानों अधिकारों का सारा ठेका गोरों के ही नाम लिखा गया है और दूसरों को ईश्वर ने उनकी दासता करने के लिए ही वनाया है।

आत्म-निष्ठा का अभाव

इस समय सारे एशिया में यह भाव दृढ़रूप से जम गया था कि गोरे चमड़ेवाले राष्ट्र एशियायी राष्ट्रों से कभी हार ही नहीं सकते। जव कभी संघर्ष होगा, काले, भूरे अथवा पीले चमड़ेवालों

की हार निश्चित है। गोरे चमड़े वालों की युद्ध-विषयक साम-ग्रियों तथा धन की चमक से एशियायी राष्ट्र ऐसे चकाचौंध में पड़ गये थे कि उनकी आंखें मुंद गई थीं और वे गोरे लोगों की हार होने का अनुमान भी नहीं कर पाते थे। इस अन्धकार में साम्राज्यवादियों का कार्य बहुत जोरों से चल रहा था। एशियायी राष्ट्र दिन-दिन हतोत्साह तथा गुलाम दिमाग़ के होते जाते थे। उनमें किसी प्रकार की भी हलचल नहीं हो रही थी। वे चुपचाप नींद ले रहे थे। उनकी नींद तभी टूट सकती थी जब उनमें आत्मविश्वास का भाव आता। जबतक आत्म-विश्वास का भाव उनमें न हो, तबतक उन्हें विश्वास नहीं हो सकता था कि हममें भी शक्ति है जिसे बढ़ाकर विजय प्राप्त कर सकते हैं। वे क्रान्ति के लिए उठकर खड़े नहीं हो सकते थे।

आत्मविश्वास आने का एक ही मार्ग था। वह था गोरों का किसी प्रकार एक बार रंगीन चमड़ेवालों से हार जाना। इसके बिना उनकी आंखें नहीं खुल सकती थीं। परन्तु इस बात को न केवल एशिया के वरन् सारे संसार के लोग असम्भव समझते थे।

[४]

पौफट : रूस-जापान युद्ध

असम्भव भी कभी-कभी सम्भव हो जाता है। एक ही प्रकार के कार्य यदि बार-बार होते जाते हैं तो उसके विपरीत घटना घट जाने की आशंका नहीं की जाती, परन्तु ऐसी घटनाएँ कभी-कभी घट जाती हैं और लोगों को आश्चर्य में डाल देती हैं। अभी तक लोग यही समझते थे कि किसी भी एशियायी राष्ट्र का किसी युरोपीय राष्ट्र पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने लोगों की यह धारणा नष्ट कर दी।

रूस की महत्वाकांक्षा

बाक्सर युद्ध का बहाना बतलाकर चीन के बँटवारा कर लेने के खिलाफ़ ग्रेट-ब्रिटेन, जर्मनी और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने आवाज उठाई थी। रूस ने उन राष्ट्रों की बातें नहीं मानी। लड़ाई के समय मंचूरिया में उसने जो सेना भेजी थी उसे वापस नहीं बुलाई। वह सेना मंचूरिया और लियाओटंग प्राय-द्वीप में उत्तरोतर आगे ही बढ़ती गई और पोर्टआर्थर पर किलेबन्दी कर जापान को चुनौती देने लगी। इतना ही नहीं रूस ने ट्रांससाइबेरियन रेलवे तैयार करके कोरिया की यालू नदी के तट पर अपने पैर जमा लिये और जापान के ठीक सामने मेसेनपो बन्दर को जहाजी बेड़ों का अड्डा बनाने के उद्देश से कोरिया ले लिया।

बाक्सर—विद्रोह के दूसरे ही साल रूस की यह कार्रवाई देखकर ग्रेटब्रिटेन, जापान और संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने उसका विरोध किया। फ्रांस और जर्मनी चुप बैठे रहे क्योंकि रूस के लाभ में उनका भी लाभ सम्मिलित था। रूस ने उपर्युक्त तीनों शक्तियों के विरोध की परवा नहीं की। वह मंचूरिया के एक सिरे से दूसरे सिरे तक ट्रांस-साइबेरियन रेलवे बनाकर और जिन भागों से होकर वह रेल गई थी उन भागों में सब प्रकार के आर्थिक और राजनैतिक अधिकार प्राप्त करके ही संतुष्ट न हुआ वरन् सारे मंचूरिया, कोरिया और लियाओटंग पर कब्जा जमाने की ताक में रहने लगा। उसने मकदन से होते हुए पोर्टआर्थर तक रेल बनाने का अधिकार प्राप्त कर लेने पर एक गुप्त सन्धि द्वारा शीनशीन में बस्ती बसाने का अधिकार प्राप्त किया। १९०१ में वह मंचूरिया और चिली से सेना न हटाकर चीन के साथ एक गुप्तसन्धि करने की योजना करने लगा। उस गुप्तसन्धि में जो मांगें पेश की गई थीं उनका साफ मतलब था कि पेट्रोग्राड से पेकिंग तक सारा अधिकार रूस का हो जाय। १९०२ की जनवरी में ग्रेटब्रिटेन को रूस का भय होने लगा। रूस मध्य एशिया की ओर बढ़ रहा था जिससे भारतवर्ष पर भी अंग्रेजों के लिए खतरा था। वह मंचूरिया के दक्षिण की ओर बढ़ता जा रहा था; उससे अंग्रेजों को यांगत्सीकियांग घाटी का डर होने लगा। दूसरी ओर जापान रूस से अलग ही चिढ़ा था। चीन-जापान युद्ध में जापान के विजयी होने पर भी उसे विजय के पूरे-पूरे लाभ उठाने देने में

अन्य राष्ट्रों की चिढ़

ख़ास बाधा रूस ने ही पहुँचाई थी। रूस ने जिस कार्य के करने से जापान को रोका था उस कार्य को वह खुद ही करने लगा। उस युद्ध के बाद रूस ने भी कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार की थी परन्तु फिर भी वह कोरिया के मामले में हस्तक्षेप करने से बाज नहीं आता था। इस समय जापान ने देखा कि जब वह चीन में अपना पैर जमाना चाहता था उस समय तो युरोपियन शक्तियों ने बीच में पड़कर उसे रोक दिया परन्तु अब रूस को आगे बढ़ने देने में कोई भी बाधा नहीं पहुँचाता। फ्रांस इस समय चुप बैठा था। इसका कारण यह था कि वहाँ के पूंजीपतियों को दृढ़ विश्वास था कि रूस मंचूरिया में जो आर्थिक लूट मचावेगा उसके लाभ का बड़ा अंश उनके ही हाथों में आयगा क्योंकि उनकी बहुत-सी पूंजी रूस में लगी हुई थी। जर्मनी यह सोचकर चुप बैठा था कि रूस को मंचूरिया में ज्योंही नया अधिकार मिलेगा वह उसकी नज़ीर पेश कर शांटुंग में अपने लिए अधिकार प्राप्त कर लेगा।

जापान का विरोध

रूस के आगे बढ़ने से अंग्रेजों को भय था। जापानियों के लिए यह जीवन-मरण का प्रश्न था। उन्हें या तो रूस से लड़ना था अथवा उसे पूर्वी एशिया में सर्वप्रधान शक्ति बन जाने देना था। इन्हीं कारणों से १९०२ की फरवरी में ग्रेटब्रिटेन और जापान में मित्रता होगई। उनकी परस्पर मित्रता की शर्तों में यह विश्वास दिलाया गया था कि न तो चीन की स्वतंत्रता ही नष्ट की जायगी और न उसका अङ्ग-भंग ही किया जायगा। वहांपर व्यापार करने का सभी लोगों को समान अधिकार रहेगा। इसी मित्रता की सन्धि में यह भी

तै हुआ था कि उन राष्ट्रों के पूर्वी एशिया और भारतवर्ष के अधिकारों पर कोई भी राष्ट्र आक्रमण करेगा तो वे लोग एक-दूसरे की सहायता के लिए लड़ेंगे। इस सन्धि से यह स्पष्ट हो गया था कि यदि रूस-जापान युद्ध हुआ तो उसमें रूस की सहायता फ्रांस नहीं कर सकेगा। जापान का बल इस सन्धि से बहुत बढ़ गया। साम्राज्यवादियों के संघर्ष के दो ही परिणाम होते हैं, या तो वे आपस में मिल जाते हैं वा लड़ाई छेड़ देते हैं। साम्राज्यवादी रूस के साथ जापान का संघर्ष था। अंग्रेजों के साथ सन्धि हो जाने पर जापान ने रूस के साथ लड़ाई करने की नीति को अधिक उपयोगी समझा।

८ अप्रैल १९०२ को रूस और चीन के समझौते पर दस्तखत हो गया। चीन के जिम्मे यह कार्य सौंपा गया था कि वह रेल के प्रबन्ध का अधिकार रूसियों को दे दे और भविष्य में बिना रूस की मंजूरी के किसी दूसरी शक्ति को मंचूरिया में रेल बनाने का अधिकार न दे। रूस की यह भी इच्छा थी कि गुप्त सन्धि द्वारा यह भी तै हो जाय कि मंचूरिया की रेल और कुल खानों का अधिकार और प्रबन्ध रूसियों के रूसी-चीनी बैंक के अधिकार में चला जाय परन्तु यह बात सभी शक्तियों को विदित हो गई और रूस इसमें सफल नहीं हो सका। इसी साल गुप्तसन्धि द्वारा यह भी निश्चय कर लिया गया कि मंचूरिया में रूसियों के अतिरिक्त और कोई विदेशी राष्ट्र व्यापार नहीं कर सकेगा। इस समय रूस मंचूरिया से अपनी सेनाएँ न हटाने के बहाने कर रहा था। उसने सेना तो हटाई ही नहीं उल्टे आर्थर बन्दर में अपनी जल तथा स्थल सेना का प्रदर्शन किया और मकदन में और भी सेना ला रखी।

जापान रूस की कार्रवाई से चौंक पड़ा। चीन-जापान युद्ध के वाद पूर्वी एशिया में जापान एक महाशक्तिशाली राष्ट्र बन गया था। उसी युद्ध के वाद उसने समझ लिया था कि बिना आर्थिक वल वढ़ाये सैन्यबल नहीं प्राप्त किया जा सकता। उसी युद्ध के वाद से उसने अपनी सैन्यशक्ति बढ़ाकर १८०००० सैनिक प्रस्तुत और ६००००० ऐसे तैयार कर रखे जो आवश्यकता पड़ने पर लड़ने के लिए भेजे जा सकते थे। यह शक्ति उसकी पहली शक्ति की अपेक्षा दूनी थी।

रूस की बढ़ती जापान के लिए बहुत ही ख़तरनाक थी। जापान उससे अपनी रक्षा करना चाहता था और रूस से बदला लेने का भाव भी उसके भीतर उमड़ रहा था। इन दो भावों से भर जाने के कारण उसके बल की सीमा नहीं रही। अंग्रेजों के साथ मित्रता हो जाने से उसे इस बात का भी विश्वास हो गया था कि रूस के साथ युद्ध छिड़ जाने पर उसके खिलाफ़ शक्तिशाली युरोपीय राष्ट्रों का गुट्ट नहीं बन सकेगा। इन्हीं विचारों से भरकर उसने १९०३ में रूस को मंचूरिया से सेना हटा लेने के लिए कहा। रूस को यह भी कहा कि यदि वह जापान के कोरिया के मामलों में हस्तक्षेप करने तथा कोरिया से मंचूरिया और पूर्वी चीन को मिलाते हुए रेल बनाने के अधिकार को मान लेगा तो वह भी मंचूरिया के अधिकांश भाग में रूस का अधिकार मान लेगा।

युद्ध का शंखनाद

रूस की ओर से सन्तोपजनक उत्तर न मिलने पर उसने और अधिक विलम्ब करना उचित नहीं समझा। उसने सोचा कि रूस से एक न एक दिन

तो लड़ना ही पड़ेगा फिर ऐसे ही समय क्यों न लड़ लिया जाय जब शत्रु पूर्णरूप से लड़ने के लिए तैयार नहीं है ! उसने ८ फरवरी १९०४ को लड़ाई छेड़ दी। वाहर से देखने से मालूम पड़ता है कि जापान ही आक्रमणकारी था परन्तु वात वैसी नहीं थी। लड़ाई के लिए रूस ही जिम्मेदार था। उसने ही जापान को लड़ाई करने के लिए मजबूर किया था। शत्रु के आक्रमण से रक्षा करने के लिए ही जापान ने आक्रमण किया था।

जापान की शक्ति रूस की अपेक्षा कहीं कम थी परन्तु रूस की असुविधाएँ जापान की सुविधाएँ थीं। रूस लड़ाई में अपनी पूर्ण शक्ति का परिचय नहीं दे सकता था। रूस के लोग यह नहीं समझ पाते थे कि यालू नदी के तट पर कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए इतनी वड़ी लड़ाई क्यों लड़ी जाय। रूस में उस समय क्रान्ति की आग धधक उठी थी जिसे दवाने के लिए देश में ही शक्ति लगाने की आवश्यकता थी। वह उस समय लड़ने के लिए तैयार नहीं था।

लड़ाई में रूसी वेड़े डुवाये जाने लगे। उनके व्लाडीवास्टक वाले वेड़े ने जापान-सागर पर कई आक्रमण किये परन्तु सफल नहीं हुआ। जापानियों ने सारे समुद्र को अधिकार में रखा और कोरिया पर अधिकार करके मंचूरिया में रूसियों पर आक्रमण करने की तैयारी करली। उनकी विजय पर विजय होती गई। १ जनवरी १९०५ को उन्होंने अजेय दुर्ग आर्थर वन्दरवालों को भी आत्मसमर्पण कर देने के लिए वाध्य किया। मकदन की लड़ाई में रूसी सेना वुरी तरह परास्त हुई और युरोप के रास्ते से छत्तीस जहाजों का रूसी वेड़ा भी नष्ट कर दिया गया।

जापान भी लड़ाई के खर्च से तबाह हो चुका था। उसके पास भी उतनी शक्ति नहीं बची थी कि रूस के भीतर घुसकर लड़ाई करे। रूस भी भीतरी झगड़ों के भीषण रूप धारण कर लेने के कारण बहुत तबाह हो गया था। वह भी सन्धि कर लेना चाहता था। अन्त में जर्मनी और अमेरिका के प्रयत्न से दोनों राष्ट्रों के बीच पोर्टस्माउथ में सन्धि हो गई। सन्धि-पत्र पर ५ सितम्बर १९०५ को दस्तखत कर दिये गये। इस सन्धि के अनुसार रूस ने यह स्वीकार किया कि कोरिया में जापान के सर्वप्रधान अधिकार और स्वत्व हैं। उसे आर्थर बन्दर का पट्टा, डाल्नी, लियाओ टंग प्रायद्वीप तथा दक्षिणी मंचूरिया की रेलों और खानों के सम्बन्ध के सभी अधिकार जापान को दे देने पड़े। सघेलियन टापू का दक्षिणार्द्ध भाग भी दे देना पड़ा। रूसी प्रशांत महासागर में मछली मारने का अधिकार जापान को मिला। यह भी तय हो गया कि मंचूरिया को रूस खाली कर दे और उसपर चीन का अधिकार रहे। वहां की रेलादि की रक्षा के लिए जापान और रूसी सेना कितनी-कितनी संख्या में रखी जा सकेगी इसका भी निश्चय हो गया। इस सन्धि-द्वारा जापान जो चाहता था वह उसे मिल गया। चीन से युद्ध करने के बाद लगातार बारह वर्षों तक जापान ने इस बात के लिए सिरतोड़ परिश्रम किया था कि वह चीन, मंचूरिया और कोरिया से रूस को निकाल दे। इसी उद्देश की सिद्धि के लिए उसने अपनी सेना तथा शक्ति बढ़ाई थी। अन्त में वह सफल हुआ। जापान की निगाह एशिया में रूस के अधीनस्थ और किसी देश पर नहीं थी। साइबेरिया

जापान की विजय

और मेरिटाइम बहुत ठंडे स्थान थे, उसके लिए वे व्यर्थ-से ही थे। पूर्वी एशिया में जापान सर्वशक्तिशाली राष्ट्र हो गया।

रूस के साथ लड़ाई में विजय प्राप्त करने पर जापान की गणना संसार के बड़े राष्ट्रों में होने लगी। १९०५ के अगस्त में उसकी अंग्रेजों के साथ मित्रता की सन्धि दुहराई गई। इस बार की सन्धि में निश्चित हुआ कि कोई भी राष्ट्र (पहले था दो राष्ट्र) यदि मित्र राष्ट्रों के पूर्वी एशिया और भारतवर्ष के अधिकारों में हस्तक्षेप करेगा तो वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। पहली सन्धि में चीन और कोरिया के स्वातंत्र्य-रक्षण की बात थी; इसमें रखा गया कि जापान को कोरिया की रक्षा, संचालन और नीति निर्धारित करनेका अधिकार रहेगा। कोरिया में सबसे अधिक अधिकार जापान का है। पूर्वी एशिया में शांति स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि जापान अपने उन अधिकारों की रक्षा के लिए कोरिया में अपनी इच्छानुसार व्यवस्था करे। अब जापान कोरिया के विषय में चाहे जो कर सकता था। रूस के साथ भी मित्रता हो जाय इसलिए जापान ने कोरिया और दक्षिण मंचूरिया का अधिकार लिया और रूस को उत्तरी मंचूरिया में सफेद-स्याह करने का अधिकार दिया।

जापान कोरिया का भाग्य-विधाता

कोरिया में अपनी साम्राज्यवादी नीति काम में लाने में अब जापान के लिए कोई बाधा नहीं रह गई। वह देश जापानी सेनाओं द्वारा अधिकार में लाया गया। जापानी अफ़सर ही वहाँ का राज्य-कार्य सम्हालने लगे फिर भी कोरिया के सम्राट नाममात्र के सम्राट कहलाते ही रहे। दिन-दिन जापान उस पर अपना प्रभुत्व

बढ़ाता गया और अन्त में १९१० में उसने कोरिया को अपने साम्राज्य में मिला लिया। जापान के इस प्रकार के कार्य को विशेष बुरा नहीं कहा जासकता। उसने वही किया जो अन्य युरोपीय राष्ट्र कर रहे थे। यह साम्राज्यवादी नीति का स्वाभाविक परिणाम था। उसने अपने आपको और साथ ही एशिया के कुछ देशों को युरोपियन शक्तियों के अधिकार में जाने से रोक लिया और उन-पर उनका अधिकार होने के पहले अपना अधिकार कर लिया। एशिया के अन्य दुर्बल राष्ट्रों को जिस दुरवस्था में युरोपियनों ने पहुँचा दिया था यदि जापान यथेष्ट बलवान न हो गया होता और युरोपियनों की साम्रज्य-लोलुपता का ज्ञान प्राप्त करके अपनी पर-राष्ट्रीय नीति अपने ही हाथों में नहीं रखता तो कोरिया भी उसी दुरवस्था में पहुँचा दिया जाता। जापान को इस बात का भय था कि कहीं रूस अथवा ग्रेट ब्रिटेन का कोरिया पर कब्जा न हो जाय इसीलिए उसने कोरिया के कामों में हस्तक्षेप किया और अन्त में अपने अधिकार में कर लिया।

युरोप से जो कुछ भी सीखना था जापान ने अर्द्ध शताब्दी में सीख लिया और युरोपियनों के अस्त्र से ही एक युरोपीय राष्ट्र को हरा दिया। जापान भौतिक रूप में युरोपीय राष्ट्रों के ही समान हो गया। उसकी फैक्टरी, असन्तुष्ट मजदूर वर्ग, पूंजीपति, स्थल-सेना, जल-सेना, राज्यव्यवस्था और क़ानून आदि सभी चीजें पश्चिमीय सभ्यता की ही नकल हैं।

रूस-जापान युद्ध ने वह समय ला दिया जिस समय एशिया के समस्त राष्ट्र समझने लगे कि उनकी घोर निशा का भी अवसान हो सकता है। जापान ने इसका उदाहरण उपस्थित कर दिया। इस युद्ध ने समस्त एशियावासियों की आँखें खोल दीं।

[५]

आँखें खुलीं !

रूस-जापान युद्ध में समस्त एशिया-निवासियों ने केवल जापान का ही रूस पर विजय करना नहीं वरन् एशियायी लोगों का युरोपियनों पर विजय प्राप्त करना समझा। पोर्ट्समाउथ की सन्धि से उतने बड़े परिवर्तन नहीं हुए जितने एशियावासियों के दिमाग़ में इस युद्ध के फल-स्वरूप हुए। इस युद्ध ने एशियावासियों के जीवन में एक नया युग आरम्भ कर दिया। इस युद्ध ने युरोपीय लोगों में पुश्तैनी श्रेष्ठता के बीज रहने की बात भ्रान्ति-मूलक सिद्ध कर दिखाई। लोगों की यह धारणा जाती रही कि गोरे अजेय हैं; उनका रंगीन चमड़ेवालों से हार खाना भी सम्भव हो गया।

'एशिया एशिया-वासियों के लिए'

जापान की विजय को एशियावासियों ने अपनी विजय समझा, इसलिए उन लोगों में इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप आत्मविश्वास का भाव आगया। वे सोचने लगे कि ग़ुलामी का ठेका उनके ही भाग्य में नहीं लिख दिया गया है; उनमें भी शक्ति है। यदि वे उस छिपी हुई शक्ति का विकास करें तो अवश्य ही उन्नत हो सकते हैं और संसार के किसी भी समुन्नत राष्ट्र की कोटि में गिने जा सकते हैं। इस समय सारे एशिया से एक ही प्रकार की आवाज उठ रही थी। वह थी 'एशिया एशियावासियों

के लिए है।' कुछ ही वर्षों पहले जापान भी उसी अवस्था में था, जिसमें एशिया के और राष्ट्र थे। जापान ने जिस रास्ते से उन्नति की है दूसरे राष्ट्र भी उन्नति कर सकते हैं। सभी एशियायी राष्ट्रों में यही भाव भर रहा था कि जो कार्य जापान ने कर दिखलाया है वही चीन, तुर्की, भारतवर्ष अथवा अन्य एशियायी राष्ट्र भी करके दिखला दे सकते हैं।

इस समय तक विजेताओं ने लोगों को कायर बनाने के लिए जो-जो पाठ पढ़ाये थे लोग उन्हें भूलने लगे। विजेताओं की सभी दलीलें उन्हें बिलकुल झूठी दिखलाई पड़ने लगीं। अब वे लोग विजेताओं के बल-प्रयोग द्वारा किये गये अधिकार को उचित अधिकार मानने के लिए तैयार नहीं थे। पुराने शासकों के साथ विदेशी लोगों ने जो नाजायज़ सन्धियां की थीं उन्हें मानने के लिए वे अपने को बाध्य नहीं समझते थे, क्योंकि वे सन्धियां प्रजा वर्ग से पूछकर नहीं की गई थीं। संसार के दूसरे देशों ने भी उन सन्धियों को मान लिया है, इसकी भी उन्हें परवा नहीं थी। लोग समझने लगे कि शासकों को अपनी प्रजा का भाग्य-निर्णय करने का कोई अधिकार नहीं था। उन लोगों को कोई अधिकार नहीं था कि विदेशियों के हाथ अपना देश बेच दें। प्रजा का अपने देश पर पूर्ण अधिकार रहता है और उस अधिकार से उसे कोई भी वंचित नहीं कर सकता। इस समय से लोगों की समझ में यह बात आने लगी कि विदेशी शासन विदेशी लोगों के हित के लिए ही हुआ करता है। विदेशी शासक देशी लोगों से रुपया वसूल कर उसी रुपये से उन्हें दबाये रखने के लिए बहुत बड़ी-

भ्रम टूटा

बड़ी सेनाएँ रखते हैं। अब लोगों को विदेशियों के खिलाफ क्रान्ति कर देने में अपना नैतिक पतन नहीं मालूम पड़ता था। इस समय से वे डाकुओं को अपना राजा मानने के लिए तैयार नहीं थे। क्रान्ति हो जाने पर विदेशी लोगों की पूँजी डूब जायगी, इसकी भी उन्हें परवा नहीं थी। विदेशी लोगों ने अपनी ही जिम्मेवारी पर उन देशों में पूँजी लगाई थी। उन राष्ट्रों को जो ऋण दिया गया था वह विना प्रजा वर्ग की सम्मति लिए ही दिया गया था इसलिए वे उस रकम के जिम्मेवार नहीं हो सकते। विदेशी लोगों ने ऋण का वहुत अधिक वोझ तो केवल यही समझकर लादा था जिसमें विजित देश पर उनका अधिकार अधिक दिनों के लिए दृढ़ होजाय। उन्हीं देशों से रुपये उपार्जन कर उन्हीं लोगों को ऋण-रूप में दिये गये हैं; वैसे ऋण तो यदि न वसूल हो सकें तभी ठीक है। अब लोग समझने लगे कि विदेशी लोगों ने देश में रेल, तार, कल, कारखाने आदि जितने भी सुधार किये हैं सभी अपने ही लाभ की दृष्टि से किये हैं; विजित देशों को उनसे कुछ भी लाभ नहीं पहुँचता। विजेताओं के पहुँचने के पहले वे कहीं अधिक सुखी थे। जवतक युरोपियन नहीं पहुँचे थे उन देशों में उतने अकाल नहीं पड़ते थे, भूखे आदमी जूठी पत्तलों पर कुत्तों के ही साथ नहीं टूटा करते थे।

स्वतंत्रता में ही गति है

जापान विदेशी लोगों के कब्जे में नहीं था यही उसके उन्नति करने का मूल कारण था। विदेशी कहते हैं कि देशी लोगों की उन्नति के लिए ही उनका राज्य है, यदि ऐसी ही वात होती तो जापान की वरावरी में दूसरे देशों ने किसी भी क्षेत्र में क्यों न

उन्नति करली; कुछ देर के लिए मान भी लिया जाय कि विजित देशों कीउन्नति हुई है फिर भी तो उन्हें यही कहा जाता है कि वे अपना राज्य आप चलाने के योग्य नहीं हैं। जिस जाति को अपना शासन आप करनेका अवसर नहीं मिलता वह कभी अपना शासन चलाने में केवल विदेशियों से सीखकर ही समर्थ नहीं हो सकती। पराधीन रहकर कोई देश कितनी भी उन्नति क्यों न करले वह न तो नैतिक उन्नति कर सकता है, न उच्च सभ्यता सम्पादित कर सकता है और न अपने आत्मसम्मान की रक्षा ही कर सकता है। विदेशियों को यदि अपने ही देश-जैसा दूसरे देशों को भी समुन्नत बनाना होता तो वे अपने देश-जैसी व्यवस्था विजित देश में भी करते। विदेशियों के निजी देशों में सब लोगों को मत देने का अधिकार दिया जाता है, क़ानून की दृष्टि में सभी समान समझे जाते हैं और वहां पर प्रजातंत्र के सिद्धान्त काम में लाये जाते हैं परन्तु वैसी बातें विजित देशों में नहीं करने दी जातीं। वहां पर तो ऐसी नौकरीशाही क़ायम की जाती है जो उन देशवासिय्रों के सामने उत्तरदायी होने की तो बात अलग रही किसी के भी सामने उत्तरदायी नहीं होती। विजित देशों के अच्छे से अच्छे आदमियों को रुपये अथवा सम्मान के लोभ में फाँसकर उनसे देश के ख़िलाफ़ कार्य कराया जाता है।

विदेशी शासकों के चले जाने पर देश की कैसी अवस्था हो जायगी इसकी भी चिन्ता लोग नहीं करते थे। पराधीनता की अपेक्षा देश को क्रान्ति की अवस्था में देखना लोग कहीं अच्छा समझने लगे। देश को यदि उन्नति के पथ पर अग्रसर होना है

तो आरम्भ में उस क्रान्ति की अवस्था पार करनी ही पड़ेगी। संसार में ऐसा कोई भी देश नहीं जहाँ विना अराजकता, गृहयुद्ध और राज्यक्रान्ति के स्वराज्य स्थापित हुआ हो। कोई ऐसा देश नहीं जहाँ स्वराज्य स्थापित होने के पूर्व बहुत-सी जानें न गई हों और देश की सम्पत्ति नष्ट न हुई हो। किसी भी विदेशी राज्य के शासन में रहकर जिसका धर्म, भाषा, संस्कार सभी भिन्न हों और जो अपने को विजित लोगों से श्रेष्ठ समझता हो कोई भी देश कभी स्वतंत्रता उपभोग करने योग्य नहीं बन सकता। विजित देश के विकास और उन्नति में विदेशी शासन सदा बाधक होता है।

विदेशियों की शिक्षा आदि से लोगों के मनोभावों पर जो प्रभाव हुआ था उसपर भी इस समय बहुत बड़ा आघात पहुँचा। लोगों ने देखा कि जापान स्वतंत्र था इसीलिए वह उन्नति कर सका, और देशों को भी यदि उन्नति करनी है तो उन्हें स्वतंत्र होना चाहिए। इस समय सभी एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि जापान की ही ओर खिंची। उसका ही उदाहरण सभी अपने सामने रखने लगे।

जापान की उन्नति का मूल कारण था उसका अपने आपको सबसे पहले पाश्चात्य सांचे में ढाल लेना। दासत्व से बचने के लिए उसने उचित मार्ग का अवलम्बन किया था। एशियायी राष्ट्रों में अभी तक केवल जापान का आधुनिक इतिहास ही एक ऐसे राष्ट्र का इतिहास था जो अपनी कमजोरियों को समझता था। उसने शौक से वा चमक-दमक में ही आकर युरोपियनों की नक़ल नहीं की वरन् उनके शिकार बनने से अपने को बचाने के

लिए और उनके समान शक्तिशाली होने के लिए ही उनकी नक़ल की। युरोपियनों को श्रेष्ठ समझकर नहीं वरन् समयानुसार अपना वेश परिवर्तन करने की दृष्टि से जापान ने पाश्चात्य विद्या सीखी। जापानियों ने पश्चिम के ढंग पर सैन्य-संगठन किया था; उनके ही समान व्यवसाय, कला-कौशल में वृद्धि की थी, उनकी ही सभ्यता स्वीकार की थी, इसीलिए उसकी विजय हुई।

एशिया के दूसरे राष्ट्रों ने भी इस समय जापान का अनुकरण किया। उन लोगों में पाश्चात्य शिक्षा के प्रति आदर का भाव आने लगा। वे उसी प्रकार की शिक्षा में अपना उत्थान देखने लगे। इन राष्ट्रों ने अपने सुन्दर, मधुर अतीत का गर्व करना छोड़ दिया। वे पश्चिमाभिमुख हो गये। उन्हें अब पुरानी बातें अच्छी नहीं लगने लगीं। उन्होंने नये जगत् की झलक देखी। वे अब अशोक वा चन्द्रगुप्त के राज्य में रहने की अपेक्षा बीसवीं शताब्दी में रहना अधिक सुखकर समझने लगे। वे समझने लगे कि पुरानी बातों को मानते हुए चलने में ही उन्नति नहीं है। उन बातों को बिना समझे मान लेने से अवनति होगी। पुराने ख़याल, विचार वा परिपाटियों का यदि इस समय कोई मूल्य है तो उन्हें मानना चाहिए नहीं तो नहीं। अब वे अपने आप से प्रश्न करने लगे कि यदि बहुत से आदमी अनावश्यक कार्य करते हों तो क्या उन्हें भी करना उचित है? एशियायी राष्ट्रों का पहले आदर्श रहता था—'बड़े-बड़े लोगों के पीछे-पीछे चलो, प्राचीन जगत् को फिर से लाओ।' इस समय से उनका आदर्श होने लगा 'खुद अनुभव प्राप्त करो और नया से नया

जापान का अनुकरण

युग लाओ।' अब लोगों को पुराने धर्मग्रन्थों के पढ़ लेने से ही संतोष नहीं होता था। एशियायी लोगों के भीतर से झूठी आध्यात्मिकता का भाव जाने लगा। वे भौतिक जगत् की ओर भी ध्यान देने लगे। पुराने ग्रन्थों में सिर टकराने के बदले लोग इंजीनियरिंग, कानून, सैनिक शिक्षा, विज्ञान, डाक्टरी, रेल चलाने की कला, फोटो खींचना, कपड़े बुनना, साबुन बनाना आदि कलाओं में दक्षता प्राप्त करने की ओर झुके।

जापान से रूस युद्ध में हार गया तब प्रायः सारे एशिया की आँखें खुल गईं। सभी में पराधीन देशों में अधिकार-प्राप्ति और अपने सर से विदेशी शासन का बोझ उतार फेंकने की इच्छा प्रबल हो उठी। पाश्चात्य शिक्षा ने लोगों के मानसिक जगत् में एकतंत्री और स्वेच्छापूर्ण राज्य के प्रति क्रांति करादी। इसी समय रूस में प्रजातंत्र के विचारों को कार्यरूप में लाने का प्रयत्न हुआ। रूसकी १९०५ की क्रांति का एशियायी लोगों पर बहुत गहरा असर हुआ। तुर्की, फारस, चीन और भारत-वर्ष में प्रजातंत्रशासन स्थापित करने के उद्योग चलने लगे।

तुर्की में इस युद्ध ने महान् परिवर्तन ला दिया। वहां पर 'युनियन ऐण्ड प्रोग्रेस पार्टी' (ऐक्य और उन्नतिदल) की स्थापना हो गई जो अपने देश की रक्षा के लिए सुलतान को गद्दी से उतारने और प्रजासत्तात्मक राज्य क़ायम करने की कोशिश करने लगी।

फारस में विधानात्मक शासन स्थापित करने के लिए एक छोटा-सा राष्ट्रीय दल काम करने लगा। इस दल का मुख्य उद्देश अपने देश को विदेशियों के हाथ में जाने देने से बचाना

था। जब से साम्राज्यवाद का चक्र चला था तभी से लगभग सारा फारस रूसी और अंग्रेज साम्राज्यवादियों के यहां एक प्रकार से रेहन की तरह रखा जा चुका था। उन साम्राज्यवादियों ने अपनी ऋण—वसूली के लिए आय के जरियों पर क़ब्जा कर लिया था। उन्हें फ़ारस के हित-अनहित का कुछ भी खयाल नहीं था। रूस-जापान युद्ध के बाद वहाँ के उदार मतवालों को प्रोत्साहन मिला और राष्ट्रीयदल नई—नई आशाएँ करने लगा। अन्त में शाह को झुकना ही पड़ा।

फारस में राष्ट्रीय दल का जन्म

चीन बॉक्सर-उपद्रव से समझ गया था कि पश्चिमीय जगत् से अपना दरवाजा बन्द रखकर वह जीवित नहीं रह सकता। रूस-जापान युद्ध ने उसकी आँखें खोल दीं। वह पाश्चात्य देशों की शासन—व्यवस्था तथा आर्थिक और सेना-सम्बन्धी विशेषता को समझने लगा। उस युद्ध से सब से बड़ी शिक्षा चीन को ही मिली क्योंकि उसी की भूमि पर उन लड़ाइयों का अधिकांश भाग लड़ा गया था। इस समय राजमाता को भी चेत हुआ। उसने भी समझा कि आत्म-रक्षा का सब से बड़ा उपाय पाश्चात्य ढंग स्वीकार करना है। पहले वह पाश्चात्य ढंग के निकालने का जितना प्रयत्न करती थीं इस समय उतना ही प्रयत्न उसे लाने के लिए करने लगीं।

चीन में जागृति

रूस-जापान युद्ध के बाद बहुत बड़ी संख्या में चीनी विद्यार्थी जापान जाने लगे। वहां पर वे भौतिक शास्त्रों का अध्ययन करते थे। बहुत-से विद्यार्थी अमेरिका भी गये। चीनी अमेरिका

को ही और दूसरी विदेशी महाशक्तियों में अच्छा समझते थे। इसका कारण यह था कि शिमोनोसेकी की सन्धि के समय से लेकर पोर्टसमाउथ की सन्धि के समय तक यदि किसी महाशक्ति ने चीन का पक्ष लिया था तो वह अमेरिका था। उसने चीनी विद्यार्थियों को अपने देश में पढ़ने जाने के लिए सुविधाएँ भी दी थीं। बॉक्सर-विद्रोह के बाद उसे हर्जाने की रक़म में जो भाग मिला था उससे उसने एक ऐसा फंड क़ायम कर दिया था जिससे चीनी विद्यार्थी अमेरिका में जाकर पढ़ सकें। विदेश गये हुए विद्यार्थियों ने देखा कि टोकिओ आदि में कितने ऐसे क्लब (समाज—गोष्ठी)हैं जहाँ पर लोग इकट्ठे होकर शासन-व्यवस्था, शासकों की कार्यवाही आदि की समालोचना खुले आम करते हैं। मंचू सरकार से वे पहले से ही असन्तुष्ट थे; इस समय उनका असंतोष और भी अधिक बढ़ गया। बाक्सर-विद्रोह के बाद महाशक्तियों में जो निर्णय अथवा समझौते हुए थे उनसे उन लोगों के सामने स्पष्ट हो गया था कि विदेशी सब अधिकारों को एक केन्द्र में स्थापित करके फिर उसे टुकड़े-टुकड़े कर बाँट लेना चाहते हैं। जब पेकिंग सरकार ऋण और हर्जाने की रक़मों के बदले अपने देश की आय की भिन्न-भिन्न मदें और साधन व्यापारियों के यहां रेहन रखने लगी, चीन के प्रदेश और बन्दर विदेशियों को सौंपने लग गईं और विदेशी लोगों को लूट मचाने की आज्ञा तक देने लग गई तब चीन-वासियों की आँखें खुल गईं। साम्राज्यवाद की सारी चालें लोगों की समझ में आने लगीं। लोगों ने भीषण आर्थिक शोषण से अपने देश को बचाना चाहा। वहाँ के नवयुवकों ने चीन को

पूर्वी सभ्यता के वस्त्र त्याग कर पाश्चात्य राज्यों के नये वस्त्र पहनाने का प्रयत्न किया और जबतक चीन में प्रजातंत्र-शासन की स्थापना नहीं हो गई उन्होंने दम नहीं लिया। वास्तव में चीन में प्रजातंत्र-शासन स्थापित करने का श्रेय विदेश से लौटे हुए नवयुवकों को ही है।

विदेशियों का विरोधी हो जाना चीन की जागृति के लक्षणों में एक था। जो विद्यार्थी विदेशों में पढ़ने जाते थे उन्हें बड़ा ही कड़ुआ अनुभव होता था। दूसरे देशों में उन्हें तरह-तरह के अपमान सहने पड़ते थे। उन अपमानों के कारण वे इतने व्यथित हो जाते थे कि विदेशियों से बदला लेने के भाव से उनका हृदय जलने लग जाता था। वे विदेशियों से घृणा करने लग जाते थे। यह घृणा करना उनके लिए अच्छा होता था क्योंकि इससे उनमें आत्म-सम्मान का भाव आता था। चीन में विदेशियों को विशिष्ट अधिकार प्राप्त थे; उसे वहाँ वाले सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने रूस-जापान युद्ध के बाद ही सब से पहले विदेशियों को धमकी दी कि यदि उन लोगों ने चीनी प्रजा के साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया तो विवश होकर चीन को बदला लेना पड़ेगा।

आन्तरिक सुधार

आन्तरिक सुधार का कार्य चीनी लोगों ने इसी समय आरम्भ किया। उन्होंने अफ़ीम से पीछा छुड़ाने के लिए कानून बनाये। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध किया कि अफ़ीम खाने वालों को राज्य की ओर से परवानगी लेनी पड़ती थी; उसमें अफ़ीम की मात्रा निश्चित रहती थी और दिन-दिन उस मात्रा में कमी की जाती थी। केवल कुछ वृद्धों

और राजमहल में रहने वाले लोगों को छोड़कर और सभी लोगों को अफ़ीम खाने की मनाही कर दी गई। इस बुरी आदत को छुड़ाने में विदेशी शक्तियों ने भी सहायता की और थोड़े ही समय में चीन ने इससे अपना पीछा छुड़ा लिया।

१९०६ ई० में राजमाता ने सुधार की घोषणा निकाली। इसके अनुसार लोगों का ध्यान सैनिक शिक्षा की ओर आकृष्ट किया गया। घोषणा के एक ही महीने बाद चीन में इतने अधिक युवक सेना में भर्ती हो गये जितने पहले वहाँ की स्थायी सेना में भी नहीं थे। सेनापति चुआनशिकाई ने उत्तरी चीन में छः अच्छी सेनाएँ तैयार कर लीं। सैनिकों को पाश्चात्य ढंग पर शिक्षा दी जाने लगी थी। राजमाता ने चीनी लोगों के अधिकार में रेलें भी बनवानी आरम्भ कर दी थीं। शासन-व्यवस्था को भी नये साँचे में ढालने का विचार किया जाने लगा। १९०५ ई० में विदेशी विधानात्मक शासन देख आने के लिए एक कमीशन बाहर भेजा गया था। उसने १९०६ में सिफ़ारिश की कि चीन में भी विधानात्मक शासन होना चाहिए। राजमाता ने भी भविष्य में प्रतिनिधि शासन स्थापित करने का वादा किया। चीन के उच्च कर्मचारियों के लिए पुराने ढंग की शिक्षा, जिसमें उनका उत्तीर्ण होना आवश्यक रहता था, इस समय उठा दी गई। उसके बदले प्राकृतिक विज्ञान, युरोपीय इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र, अन्तर्राष्ट्रीय विधान तथा विदेशी भाषाओं की शिक्षा पर जोर दिया जाने लगा। इसके लिए वहां के बहुत से मन्दिर कालेजों में परिणत कर दिये गये।

सुधार की घोषणा

विदेशियों के आर्थिक आक्रमणों ने भी चीनियों की आँखें

ठीक उसी प्रकार खोल दीं जिस प्रकार उनके सैन्य आक्रमण ने उनकी सैन्य दुर्बलता के विषय में खोल दी थी। विदेशियों के चंगुल से बचने के लिए वे वर्तमान संसार के लोगों की जीवन-निर्वाह पद्धति का निरीक्षण भली-भाँति करने लगे।

रूस-जापान युद्ध में अंग्रेजों की मित्रता ने जापान को बहुत लाभ पहुँचाया था परन्तु उससे अंग्रेजों का कुछ लाभ नहीं हुआ उल्टे उन्हें हानि ही हुई। जापान की विजय से अंग्रेजों की धाक पर बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। रूस के आक्रमण से अंग्रेजों को उतना धक्का नहीं पहुँचा जितना उसकी हार से पहुँचा। अंग्रेज विद्यालयों में पढ़ने से भारतवासियों को पाश्चात्यजगत् की क्रांतियों के सिद्धान्त मालूम हो गये थे। रूस की १९०५ की क्रान्ति ने उन्हें कार्य-रूप में परिणत करना भी सिखला दिया। सफेद चमड़े वालों की अजेयता का जादू दूर होगया। कुछ ही दिन पहले जो भारतवासी अंग्रेजों द्वारा कुछ थोड़े से अधिकार पाकर ही सन्तुष्ट हो जाते वे इस समय औपनिवेशिक स्वराज्य लेने पर तुल गये। अब दो-चार ऊँचे-ऊँचे पद उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर सकते थे। उनमें भी एशिया के और राष्ट्रों की तरह एक नये प्रकाश का आविर्भाव हुआ था।

एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय ने सारे एशिया को अधिकार-प्राप्ति की इच्छा, राष्ट्रीयता और प्रजातंत्र शासन के मद से मतवाला बना दिया। इस समय से एक नया युग आरम्भ हुआ। इस समय से साम्राज्यवादी राष्ट्रों के एशियायी राष्ट्रों के साथ के व्यवहार बिलकुल ही बदल गये।

नई लहर

इस समय से अपने प्रभुत्व क्षेत्र के लिए झगड़ने वाले राष्ट्रों को और भी अधिक कठिनाई होने लगी क्योंकि एशियायी राष्ट्रों पर से उनकी धाक उठ गई थी। एशियायी राष्ट्रों में नये-नये सामाजिक और राजनैतिक सुधार के भाव आ रहे थे। दूरदर्शी विचारकों ने इसी समय देख लिया था कि साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व एक अतीत की घटना होगई। जापान की विजय ने एशियायी राष्ट्रों को जिन भावों को प्रोत्साहित किया था उनसे क्रांति हुए बिना नहीं रह सकती थी। शिक्षा आदि कार्यों से जितने परिवर्तन नहीं लाये जा सकते थे उतने अकेले इस युद्ध से हुए। राष्ट्रों की विचार-धारा में परिवर्तन हो जाना क्रांति की पूर्व सूचना थी।

[६]

क्रान्ति का उषाकाल

संसार के प्रत्येक पदार्थ में मृत्यु का बीज रहता है। आधुनिक साम्राज्यवाद भी इससे वंचित नहीं है।

जागरण

एशियायी राष्ट्रों में पहले राष्ट्रीयता के भाव का अभाव था। साम्राज्यवाद के ही कारण उनमें उसका प्रादुर्भाव हुआ। अधीनस्थ देशों के वे ही शिक्षित स्वतंत्रता आदि के लिए आन्दोलन करते हैं जिन्हें पश्चिम की हवा लगी रहती है। साम्राज्यवादी कितना भी प्रयत्न क्यों न करें अधीनस्थ लोगों को पश्चिम की हवा से अलग रखने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। भारतवर्ष, तुर्की, अरब, फारस, अफ़गानिस्तान, चीन तथा एशिया के और भी छोटे-छोटे राष्ट्रों में अभी जो राष्ट्रीयता का भाव है उसका आविर्भाव कुछ ही दिनों पहले हुआ है। पश्चिमीय सभ्यता ही इस भाव की जन्मदात्री है और युरोपियन साम्राज्यवादी ही इसका बीज एशिया में बोने वाले हैं। इस राष्ट्रीयता के भाव में ही साम्राज्यवाद की मृत्यु का बीज है। इसी भाव की प्रेरणा से एशियायी राष्ट्रों में स्वतंत्रता के लिए उमंगें उठने लगीं। वे युरोपीय लोगों के खिलाफ़ उठने लगे और उन्हें आगे बढ़ने से रोकने लगे। राष्ट्रीयता के भाव में सबसे पहली चीज एकीकरण है। जब भिन्न-भिन्न वर्ग के, भिन्न-भिन्न जातियों के लोग एक देश-विशेष को अपना राष्ट्र समझते हैं; जब वे भौगोलिक परिस्थिति को भी

वही स्थान देने लगते हैं जो जाति को देते थे तो समझना चाहिए कि उनमें राष्ट्रीयता का भाव आया है। साम्राज्यवाद का प्रभुत्व, धाक और आतंक एशिया में ज्यों-ज्यों बढ़ता गया एशियायी राष्ट्रों में भी आपस का बन्धन उतना ही मजबूत होता गया; वे अपनी विभिन्नताओं को छोड़कर उतनी ही तेजी से एकसाथ मिलकर शत्रु को दबाने के लिए उद्यत होने लगे और उतने ही जोरों से उनके भीतर युरोपीय लोगों के प्रति घृणा के भाव की अग्नि धधकने लगी। साम्राज्यवादी एशिया को जितना ही जकड़ने का प्रयत्न करते थे एशियावासी उतना ही उससे बिगड़कर उनकी चाल को विफल करने की चेष्टा करते थे।

प्रतिक्रिया की लहर

एशिया के इतिहास में सदा से राष्ट्रीयता के भाव का अभाव रहा है। यहाँ के लोगों की सभ्यता बहुत विकसित थी; उनमें उदारता की मात्रा बहुत अधिक थी। वे किसी देश-विशेष से अपनी एकता न मान कर प्राणिमात्र के साथ एकता के भाव का अनुभव करते थे। उनके नीचे गिरने के भी ये ही कारण हुए। साम्राज्यवाद-द्वारा सख्त चोट पहुँचाये जाने पर उन्हें चेत हुआ। पश्चिमीय विद्या, युद्धकौशल आदि को आसुरी समझते हुए भी उन्होंने उसे अपनाया। उन्होंने भी निश्चय कर लिया कि शत्रुओं का सामना करते समय उन्हें अपने पुराने 'असभ्य' वा 'आसुरी' रीति-रिवाजों को ही अपनाना चाहिए। युद्ध के मैदान में उन्हें भी खून का प्यासा हो जाना चाहिए। स्त्री, बच्चों, बूढ़े, कमजोर किसी भी शत्रु को मारने से हिचकना नहीं चाहिए। इससे खून खराबी, दुःख तथा आतंक बढ़ता जाय तो भी परवा नहीं।

शत्रु से बदला लेना ही चाहिए। रूस-जापान युद्ध के बाद सारा एशिया अभूतपूर्व राष्ट्रीयता के भावों से भर गया। लोगों का मन आक्रमणकारी के प्रति ऐसा फिरा कि वे उसके खून के प्यासे हो गये।

विदेशियों के खिलाफ यह भाव कुछ थोड़े-से अखबार निकालने वाले वा इनेगिने राजनीतिज्ञों में ही परिमित न रहकर सभी श्रेणियों के लोगों में बँट गया। साम्राज्यवाद ने सभी वर्गों के लोगों को गहरी चोट पहुँचाई थी इसलिए उसके खिलाफ़ सभी क्रांति करने के लिए उद्यत हो गये। क्रान्ति का भाव सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षित समुदाय में ही आया। जनता का भाव आगे जाकर प्रकट हुआ। देशी राजे-महाराजे और धनी लोग जो विदेशियों की अनुकम्पा से किसी-किसी प्रकार अपना खिताब वा जायदाद कायम रखने में सफल हुए थे वे भी युरोपीय लोगों से बहुत चिढ़ने लगे। उनके चिढ़ने का कारण यह था कि वे बिना अपने राज्य-स्थित विदेशी प्रतिनिधि की अनुमति के कलम जैसी छोटी चीज भी नहीं खरीद सकते थे। परन्तु ऐसे लोगों को भय था कि यदि क्रान्ति सफल नहीं हुई तो उनका रहा-सहा मौज भी छिन जायगा। इसीलिए वे खुलेआम किसी भी प्रकार के क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग नहीं लेते थे। मध्यम वर्ग के लोगों में बहुत अधिक असन्तोष था। वे देखते थे कि अंग्रेजों के समान सभी प्रकार की योग्यता रखते हुए भी वे उनके समान उच्च पद नहीं प्राप्त कर सकते। इससे उन्हें बड़ा असंतोष होता था। उन्हीं लोगों को युरोप की राजनैतिक और सामाजिक परिस्थिति का

विदेशियों के विरुद्ध असन्तोष

ज्ञान था। इसलिए वे ही लोग वन्धन से छूटने के लिए युरोपीय तरीकों को काम में लाना चाहते थे।

युरोपीय विचार के अनुसार राष्ट्र की जो परिभाषा है वैसा राष्ट्र भारतवर्ष कभी नहीं रहा। जाति, भाषा, धर्म तथा राज्य-सम्बन्धी विभिन्नता यहाँ सदा से चली आई है। यहाँ पर कोल, भील, संथालादि जंगली जातियों के सिवा पुराने अरब,अफगान मंगोल, द्रविड़, आर्य आदि अनेक जातियाँ वसती हैं। वंगला, हिन्दी, मराठी, तेलगु, तामिल, कनाड़ी, उड़िया आदि नाना प्रकार की भाषाएँ हैं। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि अनेक सम्प्रदायों के लोग यहाँ वसते हैं। भला इतनी विभिन्नता के रहते हुए भी कोई देश एक राष्ट्र वन सकता है?

इस कल्पनातीत वात को भी अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने सम्भव वना दिया। अंग्रेजों ने भारतवर्ष को एक राष्ट्र वना दिया। भारतवर्ष की अधिक समय के लिए स्थायी राजनैतिक एकता अंग्रेजों के ही समय में हुई। यहां के सभी प्रान्तों में अंग्रेजी शिक्षा दी जाने लगी इसलिए विभिन्न प्रांतों के लोग आपस में अंग्रेजी वोलने लगे। अंग्रेजी शिक्षा के ही कारण यहां के लोगों को पाश्चात्य देशों की राष्ट्रीयता का भाव समझ में आया। यहां पर एक राष्ट्र वनने का सवसे वड़ा कारण विपत्ति थी। एक ही साम्राज्यवादी नीति के कारण तमाम भारतवर्ष के लोग पिसे जाते थे इसलिए उसके खिलाफ सभी एक हो गये। इसी विपत्ति ने मद्रासी और पंजावी, वंगाली और मराठे सभी को एक साथ मिला दिया। विपत्ति के ही कारण लोग आपस का भेद-भाव भूलने लगे। यदि यह विपत्ति नहीं आई

होती तो नीचवर्ग में लोगों को, उच्च समझने वाले ब्राह्मण इस दृष्टि से भी नहीं देखते जिससे वे आज देख रहे हैं।

अंग्रेजी शिक्षा पाये हुए लोग, जिनमें प्रधानता विदेश से लौटे हुए लोगों की थी, असन्तुष्ट हुए। पहले वे अलग-अलग असंतोष फैलाते रहे परन्तु साम्राज्यवाद का चक्र चलने पर सभी एक हो गये। १८८५ ई० में भारतीय राष्ट्रीय महासभा की स्थापना हुई। इसकी स्थापना चाहे किसी और दृष्टि से ही क्यों न की गई हो परन्तु इसने जो कार्य किया वह असंतोष की अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित करने की दृष्टि से ही किया। इसमें जो लोग शामिल होते थे उन्हें अंग्रेजी शिक्षा मिली रहती थी। वे पाश्चात्य राजनैतिक दर्शन तथा इतिहास से परिचित रहते थे इसलिए उन्हें भारतवर्ष में स्वराज्य का नहीं रहना खटकता था। इस सभा का नाम राष्ट्रीय महासभा था परन्तु केवल हिन्दू ही आते थे। इने-गिने मुसलमानों को छोड़-कर और किसी ने इसमें भाग नहीं लिया। इस महासभा के लोग तत्कालीन ब्रिटिश वैध शासन से असन्तुष्ट थे। वे लोग समझते थे कि भारतवर्ष का शासन यहां वालों के लाभ के लिए नहीं परन्तु अंग्रेज व्यापारियों के लाभ के लिए है। उन लोगों को शिक्षा और कलाकौशल में पिछड़ा रहना बहुत खटकता था। सबसे अधिक उन लोगों को यही खटकता था कि उन्हें राज्य के ऊँचे-ऊँचे पद नहीं प्राप्त होते। १९१३ ई० में आठ सौ रुपये मासिक वेतन के २५०१ पदों में केवल २४२ पर हिन्दु-स्तानी थे। जो लोग केवल उच्च पद प्राप्त करने की आशा से

सहयोग एवं संगठन

अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करते थे उनके असंतोष के लिए यह कुछ कम बड़ा कारण नहीं था। जो हो इस समय तक लोगों के भीतर, आम जनता में असंतोष की अग्नि नहीं भड़की थी। असन्तुष्ट लोगों में कुछ को छोड़ कर बाकी लोगों का उद्देश ब्रिटिश साम्राज्य का मूलोच्छेद अथवा स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं था। वे लोग पश्चिमी ढांचे पर भारतीय जीवन का विकास करना चाहते थे और अधिक से अधिक यही चाहते थे कि उन्हें ब्रिटिश साम्राज्यांतर्गत औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त हो जाय।

१९०५ की हवा से असंतोष की अग्नि बढ़ने लगी। उसी समय असंतोष दबा देने के लिए अंग्रेजी सरकार ने एक ऐसा कार्य किया जिससे आग में घी डालने के जैसा कार्य हुआ। उस समय भारतवर्ष के बड़े लाट कर्जन थे। इनकी दृष्टि में भारतवासी बहुत ही नीच थे और अंग्रेजों के ही ज़िम्मे ईश्वर ने उन्हें सुधारने का कार्य सुपुर्द किया था। ये बहुत ही सख्ती से शासन किया करते थे। बंगालियों के विरोध करते रहने पर भी इन्होंने उनकी एक नहीं सुनी और बंगाल के दो टुकड़े कर दिये। बंग-भंग करने का मूल्य उद्देश बढ़ते हुए असंतोष को कम करना था। इन्होंने असंतोष दबाने का प्रयत्न किया, परन्तु इसके बदले वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया। उस समय तक बंगाल काफी जाग्रत हो चुका था। उस समय के लोगों ने रूसी निहिलिस्ट लोगों का अनुकरण किया। भारतवर्ष में 'वन्दे मातरम' की आवाज सर्वप्रथम इसी समय उठी। इसी

भारत में क्रांतिकारी दल

एक शब्द से मालूम हो जाता है कि परिवर्तन कितना अधिक हो गया था। राष्ट्रीयता की झलक इस एक शब्द में ही कूट-कूट कर भरी है। लोगों ने पहले-पहल इसी समय समझा कि हम लोगों का भी एक देश विशेष है जिसे हमें अपना राष्ट्र समझना चाहिए। देश के नवयुवक गुप्त समितियां बनाने लगे जिनका उद्देश षड़यंन्त्र द्वारा अंग्रेजी राज्य को नींव सहित भारतवर्ष से उखाड़ फेंकना था। क्रान्तिकारी भाव फैलाने वाले उस समय के मुख्य पत्र 'कर्मयोगिन' 'युगान्तर' 'केसरी' और 'काल' थे। इन अखबारों में कई खुल्लमखुल्ला अंग्रेजों के प्रति घृणा का भाव फैलाते थे, उनके खिलाफ क्रान्ति कर देने को, उन्हें मार डालने तक की सलाह देते थे।

इस समय के नवयुवकों में जो भाव काम कर रहा था उसे स्वर्गीय लाला लाजपतराय के एक ही वाक्य में कहा जा सकता है—"स्वतंत्रता शहीदों के खून से ही पनपती है।"

भारतीय क्रांति के उषाकाल में ये बातें केवल कागज ही काली करने वाली नहीं थीं। इने-गिने अंग्रेजों और खुफिया पुलिस वालों की तो हत्या हो ही जाती थी, साथ ही नवयुवकों का दल बना रहता था जिनका अपने रोज के कामों में एक काम यह भी रहता था कि वे सारे दिन में किसी अँग्रेज को घूँसे, तमाचे वा लाठियों से अवश्य ही मारेंगे। इस समय राजनैतिक डाके भी डाले जाते थे। उस पैसे से अस्त्र-शस्त्र खरीदे वा वनवाये जाते थे।

इसी समय भारतवासियों ने यह भी देख लिया था कि अंग्रेजों का हमारे ऊपर केवल राजनैतिक ही नहीं परन्तु आर्थिक अधिकार भी है। अंग्रेजों का सब से अधिक व्यवसाय कपड़े

और लोहे का चलता था। भारतवर्ष ही उनका सब से बड़ा ख़रीददार था। वह साल में २० करोड़ डालर का कपड़ा और साढ़े बारह करोड़ डालर की मशीनें ख़रीदता था। इसके ख़िलाफ़ उस समय यहां पर 'स्वदेशी आन्दोलन' चला। भारत इसीलिए निर्धन होता जा रहा है कि यहां का धन कपड़े के बदले प्रत्येक वर्ष विदेश चला जाता है। स्वदेशी आन्दोलन का उद्देश यह था कि जबतक भारतवर्ष को स्वराज्य नहीं मिल जाता वह अंग्रेजी कपड़ों का बहिष्कार करेगा। स्वराज्य होने पर भारतीय उत्पत्ति के विषय में संरक्षण की नीति काम में लाई जायगी। उस समय धीरे-धीरे अंग्रेजी पूंजी भारत से निकाल दी जायगी, बड़े-बड़े अंग्रेज अधिकारियों के स्थान पर हिन्दुस्तानी रखे जायंगे और सब प्रकार से प्रयत्न किया जायगा कि भारतवर्ष का धन विदेश न जाने पावे। धन विदेश नहीं जाने से देश समृद्धिशाली बनेगा।

राष्ट्रीय महासभा के कलकत्तेवाले बाईसवें अधिवेशन में अंग्रेजी माल का बहिष्कार और स्वदेशी माल का व्यवहार करने का प्रस्ताव पास हुआ। यह अंग्रेजी साम्राज्य के सब से कमजोर और परमावश्यक अंग पर आघात था। यह कमजोरों का अस्त्र रहने पर भी बड़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ।

सरकार ने भारतीय आन्दोलन को दबाने में अपनी बहुत शक्ति ख़र्च की। बहुतेरे नवयुवक फांसी के तख़्ते पर लटका दिये गये और बहुतेरे कालेपानी भेज दिये

दमन

गये। उन लोगों को दंड देने के लिए नये-नये क़ानून बनाये गये और क्रान्तिकारी भाव फैलाने वाले अख़बार

बंद कर दिये गये। परन्तु १९०८ के प्रेसऐक्ट और विस्फोटक पदार्थ-सम्बन्धी क़ानूनों से क्रांति दबी नहीं। सरकार ने देखा कि केवल दमन करने से नहीं चलेगा तब उसने १९०९ में मार्ले-मिण्टो सुधार जारी किये और दो वर्ष के बाद घोषणा की कि बंगाल फिर एक कर दिया जायगा।

मार्ले-मिण्टो सुधार

मार्ले-मिण्टो सुधार से सरकार की स्वेच्छाचारिता कुछ कम हुई-सी दीखने लगी। इस सुधार के अनुसार भारतवासियों को बड़े लाट और प्रांतीय लाटों की कार्य-कारिणी में चुने जाने का अधिकार दिया गया। अभी तक की प्रांतीय कौंसिलों को केवल सलाह देने का अधिकार था। उसमें निर्वाचित लोगों की संख्या अधिकारियों की संख्या से अधिक कर दी गई। बड़ी व्यवस्थापिका सभा में अधिकारी ही अधिक संख्या में रहे। प्रांतीय कौंसिलों को बजट तथा अन्य कई बातों पर बहस करने का अधिकार दिया गया। वे सलाह भी दे सकती थीं परन्तु किसी बात को सरकार की इच्छा के ख़िलाफ़ रद्द नहीं कर सकती थीं। वह सभा एक प्रकार की वाद-विवाद समिति थी।

कई वर्षों के तरह-तरह के प्रयत्न से क्रांति दबी हुई-सी दीखने लगी। मालूम होने लगा कि देश में असंतोष की मात्रा बहुत ही कम हो गई है। स्वदेशी-आन्दोलन भी बंग-भंग आन्दोलन मिट जाने पर कम हो गया। उसके लिए काफी जोश नहीं रह गया। फिर भी कुछ व्यक्ति ऐसे हो गये जिन्होंने उसी समय आजन्म स्वदेशी चीज़ें, खास कर वस्त्र, इस्तेमाल करने का प्रण कर लिया। आन्दोलन दब गया परन्तु अपने

असर को अमिट बना गया। इसने दिखला दिया कि भारतवासियों के भीतर अंग्रेजों से डर जाने का भाव जाता रहा है।

तुर्की के राष्ट्रीय नेता भी, जिनमें अधिकांश लोगों ने युरोप में शिक्षा प्राप्त की थी, इस समय युरोपीय ढांचे पर तुर्की का सुधार करने लगे। निःसन्देह तुर्की की राष्ट्रीयता को पाश्चात्य दबाव से प्रोत्साहन मिला।

तुर्की में—

अपनी स्वतंत्रता खो देने के भय से तुर्क लोग अपने देश को जितना अधिक प्यार करते थे और उसका भविष्य उज्वल बनाना चाहते थे युरोपीय शक्तियां तुर्की का अंगच्छेद करने में उतनी ही तत्परता दिखलाती थीं। इससे तुर्क लोगों में देश को बचाने का भाव और भी जबर्दस्त होता गया।

फिर भी तुर्की और भारत के राष्ट्रीय भावों में अन्तर था। तुर्की में 'तुर्कीपन' का भाव काम कर रहा था परन्तु भारतवर्ष में 'हिन्दूपन' कार्य नहीं कर रहा था। तुर्की के राष्ट्रीयदल वालों का उद्देश्य था कि सभी तुर्की भाषा बोलने वाले लोग मिल जायं। तत्कालीन सुल्तान अब्दुल हमीद में भी 'मुसलमानियत' का भाव आ गया था। वह चाहता था कि सारी दुनिया के मुसलमान मिल जायं और युरोपीय शक्तियों से लड़ाई छेड़ दें। उसे जबतक तुर्की के अंगच्छेद का भय था उसने वैध शासनतंत्र चलाया, परन्तु ग्रेटब्रिटेन ने रूस के विरुद्ध ज्योंही उसकी सहायता की उसने समझ लिया कि उसके साम्राज्य की विपत्ति टल गई। उसने तीस वर्षों तक खूब ही अनियंत्रित शासन चलाया।

मेसिडोनिया तुर्कों के अधीन था। उसपर आस्ट्रिया और रूस की नजर थी। १९०३ में सुधार करने के बहाने सब शक्तियों ने

मिलकर अपनी ओर से वहाँ पर एक सेना रख दी। तरुण तुर्कों ने समझ लिया कि महाशक्तियों की नीयत ठीक नहीं है; हमारे साम्राज्य पर विपत्ति आने वाली है। उन लोगों ने उसके खिलाफ आन्दोलन करना आरम्भ किया। अब वैध शासन-तंत्र की मांग होने लगी। उन लोगों ने समझा कि तुर्क साम्राज्य की रक्षा के लिए अनियंत्रित शासन का अन्त करना और वैध-शासन स्थापित करना परमावश्यक है। रूस के जापान-द्वारा हराये जाने पर उन लोगों ने समझा कि अब रूस की कुछ भी नहीं चलेगी; जो काम जापान ने किया है वही वे भी कर सकते हैं। वे युरोपीय लोगों के अधिकार से निकलने की कोशिश करने लगे। शासन-तंत्र में लोग उसी समय परिवर्तन कर देना चाहते थे जिसमें तुर्क-साम्राज्य युरोप में बचा रह जाय। उन लोगों ने तीन वर्ष तक बहुत प्रयत्न किया। अपना आन्दोलन जारी किया और सेना तथा राज्य के उच्च कर्मचारियों तक को अपनी ओर मिला लिया। सब से वे यही कहते थे कि अब्दुलहमीद के ही कारण देश रसातल को जा रहा है। उनसे शासन अपने अधिकार में ले लेंगे तो युरोपीय शक्तियों को हमारा सर्वनाश करने का अवसर नहीं मिलेगा।

आन्दोलन

१९०८ ई० के मध्य में तुर्की सेना में विद्रोह हुआ। विद्रोहियों का किसी ने विरोध नहीं किया इसीलिए इस क्रान्ति में रक्तपात बिल्कुल ही नहीं हुआ। सुल्तान अब्दुल हमीद गद्दी से उतार दिये गये। उनके स्थान पर एक कमजोर सुल्तान गद्दी पर बिठलाया गया और तुर्की

रक्तहीन क्रान्ति

मिली। सुलतान के पक्ष के लोग उनके विरोधी थे। जमींदार और उच्च राज्यकर्मचारी भी उनसे असन्तुष्ट थे क्योंकि उन लोगों का वैभव और प्रभुत्व पुराने शासन में ही बना रह सकता था। साथ ही तरुण तुर्कों को राज्य-कार्य का काफी ज्ञान नहीं था। उनमें व्यावहारिकता का बहुत अभाव था इसीलिए उन्हें विफलता हुई।

अल्बानिया, मेसोपोटामिया और अरब के लोगों ने तरुण तुर्कों का भाव ठीक-ठीक नहीं समझा। उन्होंने उन्हें भी अब्दुल हमीद की ही तरह मुसलमानपन का भाव रखने वाला समझा। इसी कारण उन लोगों ने विद्रोह कर दिया। तरुण तुर्कों के ख़िलाफ़ हो जाने से तुर्कों के सिवा तुर्की में बसने वाली जातियां अरब, यूनानी, कुर्द, आर्मीनियन, सीरियन आदि आपस में इस तरह से मिल गईं जैसी पहले कभी नहीं मिली थीं। अल्बानिया के विद्रोह से मेसिडोनिया में तुर्क-सेना इतनी निर्बल हो गई कि युद्ध में बाल्कन राज्यों की विजय निश्चित हो गई। इसी समय बल्गेरिया ने भी अपनी स्वतंत्रता घोषित करदी। क्रीट भी ग्रीस से मिल गया। तुर्कों के अपने अधिकार के प्रश्न उठाने पर आस्ट्रियाहंगरी ने बोस्निया और हर्जगोविना पर अधिकार कर लिया और इटली ने बिना युद्ध-घोषणा किये ही ट्रिपोली पर अधिकार कर लिया। इस समय सभी शक्तियां चुप बैठी रहीं। जो काम इटली और आस्ट्रियाहंगरी ने इस समय किया वही काम इंग्लैंड ने मिश्र पर और फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार करके पहले ही कर दिखलाया था इसीलिए उन शक्तियों ने चूं तक नहीं की थी।

ग़लतफहमी और गृह-कलह

आरम्भ में तरुण तुर्कों ने समझा था कि वे सारी तुर्की

प्रजा में राष्ट्रीयता का भाव पैदा कर देंगे; उससे राष्ट्र-निर्माण में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं रह जायगी।

फल उलटा निकला

उन लोगों पर फ्रांस, इटली आदि देशों के विप्लवों का प्रभाव पड़ा था, परन्तु उन देशों में और तुर्की में वहुत भेद था इसीलिए तरुण तुर्क उपर्युक्त देशों की तरह तुर्की में सफल नहीं हो सके। तरुण तुर्कों का अधिकार १९०८–१४ तक रहा। इसी वीच में उन्हें इटली और वाल्कन राज्यों से भी लड़ना पड़ा। वे लोग ट्रिपोली, वोस्निया, हर्जगोविना, अल्वानिया, मेसिडोनिया क्रीट आदि देशों को अपने अधिकार में रखना चाहते थे और साइप्रस और मिश्र वापस लेना चाहते थे। इसी उद्देश की पूर्ति के लिए उन्होंने जान खतरे में डालकर क्रान्ति की थी और वड़ी कठिनता से नये शासन की प्रस्थापना की थी परन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। उनके राजत्वकाल में तुर्की की राजकीय सीमा जितनी कम हो गई उतनी और कभी नहीं हुई थी। उनके अधिकार से इस समय अफ्रिका के प्रान्त, ईजियनसागर के टापू, थ्रेस का कुछ अंश और कुस्तुन्तुनियां के अतिरिक्त युरोप का सारा प्रदेश निकल गया। राजकीय सीमा वहुत कम होगई परन्तु नवीन तुर्की में इस समय जो भाव आगया था उसकी तुलना में वह हानि कुछ भी नहीं थी। इस भाव के कारण भविष्य में उससे कहीं अधिक राज्य विस्तार हो जाने की आशा थी। इस समय चाहे भले ही दीखने लगा हो कि युरोप का रोगी राष्ट्र मृत्यु-शय्या पर पड़ा है परन्तु वास्तविक वात वैसी नहीं थी। उस समय तक उसमें इतनी ताकत आगई थी कि जिसे वढ़ाकर वह रोगोन्मुक्त हो सकता था और पुनरुज्जीवन प्राप्त कर सकता था। युरोपीय

राष्ट्रों के खिलाफ इस समय क्रान्ति का भाव उसके भीतर बहुत तीव्र हो चुका था।

जबतक युरोपीय राष्ट्र तुर्की के राज्य में हस्तक्षेप करते थे अरबों ने तुर्कों के साथ का भेद-भाव भुला दिया था। वे दोनों ही युरोपियनों को अपना शत्रु समझते थे।

अरबों की स्वतंत्रता के लिए

जब अब्दुलहमीद का अनियंत्रित शासन चलने लगा तब अरब लोगों पर अत्याचार होने लगे। फिर वे भी तुर्की के चंगुल से निकलने की कोशिश करने लगे। १८९५ में पेरिस में एक 'अरेबियन नेशनल कमिटी' बनी। तुर्की के पंजे से अरब को छुड़ाना ही उसका उद्देश था। उसके सदस्य समझते थे कि उनके सुन्दर-सुखद अतीत वैभव को तुर्कों ने ही नष्ट किया है। तुर्कों ने ही उन्हें संसार में सब से निर्धन राष्ट्र बना दिया है। १९०५ की हवा से अरब भी बचे नहीं रहे। हेजाज और यमन में क्रांति हो गई। उस क्रांति को दबाने के लिए तुर्की से सेनाएँ जाती रहीं परन्तु क्रांति कभी पूरी-पूरी दबाई नहीं जा सकी। १९०८ में तुर्की में अनियंत्रित शासन के अन्त होने पर अरब लोगों को भी असीम आनन्द हुआ। परन्तु जब तरुण तुर्कों ने उन्हें भी तुर्क बनाने का प्रयत्न किया तब वे बिगड़ खड़े हुए। तरुण तुर्कों द्वारा दबाये जाने से उन लोगों में एकीकरण की शक्ति आने लगी। जिस समय महायुद्ध छिड़ा उस समय उन लोगों में वह शक्ति बहुत बढ़ गई थी और तुर्कों के खिलाफ भाव भी बहुत अधिक हो गया था। एशियायी क्रांति के उषाकाल में उनमें भी एक शक्ति का आविर्भाव हो गया था। आगे देखना है उस शक्ति का विकास

किस ओर होता है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक फारस को रूसी और अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने बहुत ही कमजोर बना दिया था। उन लोगों के दबाव से वहां के लोगों में भी राष्ट्रीयता का भाव जाग्रत हुआ। वहां के राष्ट्रीय दल के नेताओं ने अनियंत्रित शासन का अन्त कर देने और वैध अथवा प्रजातंत्र शासन स्थापित करने के लिए जोर लगाया। १९०६ में उन लोगों के आन्दोलन का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि शाह को तेहरान में एक नई मजलिस का उद्घाटन करना पड़ा। इस में प्रजा-द्वारा चुने गये शिक्षित वयस्क प्रतिनिधि जाते थे। आगे चलकर शाह और मजलिस में झगड़ा चलने पर शाह ने मजलिस तोड़ दी। इससे वहां का राष्ट्रीय दल हताश नहीं हुआ। तुर्की का उदाहरण उसके सामने आ गया था। उसके प्रभाव से उन्होंने विचार किया कि जो राजनैतिक स्वतंत्रता उन्हें प्राप्त हो चुकी है उसे वे कदापि नहीं छोड़ेंगे। इसी समय १९०७ में रूस और अंग्रेजों में समझौता हो गया। इस समझौते द्वारा उन दोनों शक्तियों ने फारस को आपस में बांट लिया था। फारस का राष्ट्रीय दल इससे बहुत ही क्षुब्ध हुआ। अब वह मरने-मारने के लिए तैयार हो गया। अन्त में युरोपीय परतंत्रता की जंजीर को तोड़ डालने का विचार उन्होंने निश्चित कर लिया। उन्होंने क्रांति कर दी। क्रांति केवल युरोपियन लोगों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए ही नहीं परन्तु विदेशी क़जर खान्दान का अन्त कर देने की दृष्टि से भी की। मजलिस ने शाह को गद्दी से उतार दिया और

फारस में भी—

१५ नवम्बर १९०९ को नई मजलिस का उद्घाटन शाह के छोटे लड़के द्वारा कराया। वही छोटा लड़का गद्दी पर बिठाया गया।

अब फारस अपने देश का शासन सुव्यवस्थित बनाने में लगा। उसने आर्थिक व्यवस्था ठीक कराने के लिए अमेरिका से शुस्टर महाशय को बुलाया। आर्थिक व्यवस्था ठीक होने से फारस की अवस्था सुधर जाने वाली थी परन्तु उसमें अंग्रेज और रूसी साम्राज्यवादियों का घाटा था। यदि फारस को नये वैध-शासन में सफलता हो जाती तो अंग्रेजों के लिए भारत और मिश्र में एक नई आफत आ खड़ी होती और रूसियों को तब्रेज में अपना पैर जमाना कठिन हो जाता। अंग्रेज और रूसी लोगों ने फ़ारस सरकार के पास एक सूचना भेजी। उसमें कहा गया कि वह उन दोनों शक्तियों के सिवा और किसी शक्ति से ऋण नहीं ले सकता। इसका मतलब था फारस से यह स्वीकार करा लेना कि वह रूस और इंग्लैंड के संरक्षण में है।

अव्यवस्था

दक्षिण फारस के व्यापारिक मार्गों की व्यवस्था के लिए तथा सैनिक और पुलिस के खर्च के लिए फारस-सरकार को ऋण लेने की आवश्यकता हुई। रूस और इंग्लैंड ने स्वयं तो ऋण दिया ही नहीं, साथ ही दूसरी शक्तियों को भी मना कर दिया। इस कार्य से उनका उद्देश फारस में अव्यवस्था ला देना था। इसी अव्यवस्था का बहाना कर दोनों शक्तियों ने फारस में अपनी सेना भी भेज दी। रूसियों ने तब्रेज पर अधिकार कर लिया और आजरबायजान में अपना सैनिक गवर्नर नियुक्त किया। जब फारस ने इसका

विरोध किया तव उन लोगों ने राजच्युत शाह को फिर से सिंहासन प्राप्त करने के लिए उसकाया। इस कार्य में जिस किसी देश-भक्त ने वाधा डाली उसे रूसी सेना ने गोली से उड़ा दिया। इस प्रकार का गृह-कलह उत्पन्न कर रूसी अपना स्वार्थ साधना चाहते थे। फारस की आर्थिक व्यवस्था नष्ट कर देने के लिए इसी समय अंग्रेज और रूसी लोगों ने मिलकर अमेरिका से आये हुए शुस्टर को भी निकलवा दिया। साथ ही उसकी नई पार्लमेण्ट तुड़वा दी गई और १८ फरवरी १९१२ को उसे ऐंग्लो-रूसी-सन्धि स्वीकार करने के लिए वाध्य किया गया। उस समय से फारस किसी दूसरी शक्ति से ऋण नहीं ले सकता था। ये दोनों शक्तियां फारस को छोटी-छोटी रकमें वहुत अधिक सूद की दर पर देती थीं। इन्हीं दोनों के वैंकों में समुद्र-कर की सारी आय जमा की जाती थी। थोड़े ही दिनों में फारस इन दोनों शक्तियों का दास वन गया। ये दोनों शक्तियां नाना-भांति से फारस का नाश करने लगीं। फारस का इस अवस्था से वचना तवतक सम्भव नहीं दीखने लगा जवतक किसी प्रकार का उस देश पर जादू न चल जाय। इस प्रकार के जादू का वीजारोपण हो चुका था। और देशों के ही समान फारस की भी विचार-धारा में महान् परिवर्तन हो चुका था।

अफगानिस्तान में—

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में अफ़गानिस्तान अनेक फिरक़ों के वीच वंटा हुआ था। वे आपस में लड़ा करते थे। उन सव में स्वतंत्रता की चाह वड़ी प्रवल थी। सभी शक्तिशाली भी थे परन्तु अनेक भागों में विभक्त रहने के कारण अफ़गानिस्तान की कोई शक्ति

नहीं थी। सेना भी संगठित नहीं थी, उसे शिक्षा भी नहीं मिलती थी इसीलिए उसकी वीरता का समुचित उपयोग नहीं हो पाता था। देश में चारों तरफ मारकाट मची रहती थी; सड़कें सुरक्षित नहीं थीं। अफ़ग़ानिस्तान का ख़ज़ाना भी ख़ाली-सा ही था। ऐसे समय में साम्राज्यवाद का चक्र चला। रूस और इंग्लैण्ड दोनों ही उसे अपने-अपने राज्य में मिला लेना चाहते थे। शिमला के अंग्रेज कर्मचारी सदा काबुल पर अधिकार जमाने की चेष्टा करते थे; दूसरी ओर ताशकंद की ओर से रूस सदा उस समय की प्रतीक्षा कर रहा था जब वह अफ़ग़ानिस्तान पर विजय करता हुआ उत्तरी भारत तक पहुँच जाता। उस समय अफगानिस्तान की रक्षा का इतना भय होने लगा था कि दरबार में यह एक ख़ास मामला बन गया, जिस पर चर्चा चला करती थी। तत्कालीन अमीर अब्दुर्रहमान ख़ाँ बड़े ही योग्य शासक थे। दरबार की और बातें जहाँ पर लिखी जाती हैं वहीं पर लिखा है कि एकबार अब्दुर्रहमान ख़ाँ ने पहेली के रूप में कहा था—"एक तालाब में एक हंस (अफ़गानिस्तान) है। उसके एक ओर भेड़िया (रूस) और दूसरी ओर शेर (ब्रिटेन) खड़ा है। दोनों ही एक दूसरे पर गुर्रा रहे हैं। वे दोनों एक दूसरे पर केवल इसीलिए रंज खाते हैं कि दूसरा उनके शिकार में क्यों भाग लेना चाहता है? यदि बीच का पानी सूख जाय तो दोनों लड़कर मर जायँगे, लेकिन इंशा-अल्लाह! पानी बहुत गहरा है और वैसा ही रह जायगा।"

साम्राज्यवादियों के दबाव डालने से अफ़गानिस्तान भी एक राष्ट्र बन गया। अब्दुर्रहमान खाँ ने शासन-प्रणाली में सुधार

किया; जो लोग अफगानिस्तान का राजा होने का दावा करते थे उन्हें हराया; हजारा पर अधिकार प्राप्त किया और काफ़िरिस्तान पर विजय की।

नीतिकुशल नरेश

यह अंग्रेज और रूसी दोनों से ही चिढ़े रहते थे। व्यापार-सम्बन्धी बातों में भारत-सरकार का अधिकार नहीं होने देना चाहते थे इसलिए उन्होंने घोषणा कर दी थी कि उनके देश से न तो घोड़े भारत भेजे जायं और न भारत से उनके यहाँ नमक ही जाया करे। इनके शासन-काल में ही साम्राज्यवादियों ने चालें चलीं; ये सचेत हो गये और अफ़गानिस्तान को यथेष्ट समृद्ध और भलीभाँति संगठित करने का प्रयत्न करने लगे। ये विदेशियों की देखरेख में अपने देश की व्यापार और शिल्प सम्बन्धी उन्नति अवश्य ही करना चाहते थे परन्तु उसी के लिए अपनी स्वाधीनता का बलिदान नहीं कर देना चाहते थे। रहमान खाँ को राजकीय मामलों में मुसाहबों पर निर्भर करना पड़ता था क्योंकि उस समय तक जनता की राय लेने की कोई प्रणाली वहाँ नहीं थी। इनके मरने पर हबीबुल्लाखाँ गद्दी पर बैठे। इन्हों ने अपने पिता के कार्य को आगे बढ़ाया। इन्हें अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त हुई थी। राज्यारोहण के दूसरे ही साल इन्होंने अनिवार्य सैनिक शिक्षा की घोषणा कर दी। १९०७ वाले ऐंग्लो रूसी समझौते से अफ़ग़ानिस्तान को बहुत अधिक घाटा नहीं था इसीलिए वहाँ असंतोष भी नहीं हुआ और उसी कारण से क्रान्ति के भाव भी आगे नहीं बढ़े फिर भी इस समय तक अफ़ग़ानिस्तान भी दूसरे मुसलमान राष्ट्रों की ही भांति राष्ट्रीयता के भाव से भर गया था।

चीन में साम्राज्यवादियों की ही नीति के कारण बहुत सी गुप्त समितियां बन गई थीं। उन क्रान्तिकारी-समितियों का केन्द्र कैंटन था। उस समिति के संस्थापक डा० सनयात सेन थे और समिति का नाम था 'कुओमिरण्टांग'। 'कुओमिरण्टांग' का मतलब है 'जनता का—सर्वसाधारण का दल'। इन लोगों की शाखाएँ बहुत से स्थानों पर थीं। क्रान्ति का अधिक जोर दक्षिणी चीन में ही था; वहाँ के ही लोगों पर पश्चिमी शिक्षा का अधिक असर हुआ था। राज्य की तरफ से जो सुधार चल रहे थे उसपर उन लोगों का विश्वास नहीं था। वे लोग महान् परिवर्तन चाहते थे। चीन सरकार क़र्ज के बोझ से लदी हुई थी इसलिए देश की आन्तरिक अवस्था दिन-दिन खराब होती जा रही थी। १९०८ ई० में राजमाता की मृत्यु हो गई। उनके स्थान पर एक तीन वर्ष का लड़का गद्दी पर बिठाया गया। इस समय क्रान्तिकारियों का आन्दोलन बहुत जोरों से बढ़ने लगा। उन्होंने सर्वसाधारण को विश्वास दिला दिया कि यदि शासन-प्रणाली में सुधार कर लिया जाय तो खान और रेलों पर अधिकार जमाया जा सकता है तथा मंचूरिया से रूसी और जापानी लोगों का आधिपत्य भी हटाया जा सकता है। चीन सरकार को कमजोर पाकर क्रान्तिकारियों ने अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करना आरम्भ किया। मंचू चीनी नहीं परन्तु विदेशी थे इस कारण से भी लोग उस वंश का अन्त कर देना चाहते थे। १९१० ई० में एक महासभा कायम हुई। यही प्रजातंत्र शासन स्थापित करने का सबसे पहला कार्य हुआ। इस सभा में आधे राजपरिवार के, आधे प्रान्तीय सूबेदारों द्वारा

चीन में तैयारी

चुने गये लोग थे। चुने गये सदस्य पार्लमेंट की स्थापना बहुत ही शीघ्र करना चाहते थे। महासभा ने विदेशियों को यह भी सूचना दे दी कि भविष्य में विदेशियों से न तो ऋण ही लिया जायगा और न उन्हें विशिष्ट अधिकार ही दिये जायंगे।

साम्राज्यवादियों के लिए इसमें बहुत बड़ा घाटा था। चीन के पूर्णरूप से सचेत होने के पहले ही साम्राज्यवादियों ने अपनी नीति सफलीभूत कर डालने की कोशिश की। रूसी लोगों का मंगोलिया के जिन नगरों में कोई व्यापारिक बहाना भी नहीं हो सकता था उनमें भी उन्होंने अपने प्रतिनिधि रख दिये। अंग्रेज भी बर्मा की ओर से आगे बढ़कर अपनी सीमा बढ़ाने लगे। यूनन के सूबेदार ने अंग्रेज़ों के रास्ते में बाधा डालनी चाही तो पेकिंग सरकार ने उसे मना किया। इस समय महाशक्तियों ने चीन पर इतना दबाव डाला कि उसे महासभा के खिलाफ़ कार्य करना पड़ा। उसने कुछ विदेशी पूँजीपतियों को रेल बनाने का अधिकार दे दिया और कुछ ऋण भी लिया। इन बातों के कारण दक्षिणी चीन में राज्यक्रान्ति हो गई। वहाँ के क्रान्तिकारी पकड़े जानेवाले थे, उसके पहले ही उन्होंने क्रान्ति आरम्भ करदी। ३१ दिसम्बर को डा० सनयात सेन शंघाई में नये प्रजातन्त्र के राष्ट्रपति चुने गये। ५ जनवरी १९१२ को विदेशी शक्तियों को चीन में प्रजातन्त्र स्थापित हो जाने की सूचना दे दी गई। सनयातसेन राष्ट्रपति तो चुन लिये गये परन्तु देश में अधिक प्रभाव युआनशिकाई का था। देश की भलाई के लिए सनयात सेन ने महान् स्वार्थ-त्याग का परिचय दिया। उन्होंने राष्ट्रपति के पद से स्वयं

साम्राज्यवादियों का अड़ंगा

इस्तीफा दे दिया और युआनशिकाई सभापति बना दिया गया। राजधानी का पेकिंग में ही रखा जाना निश्चित हुआ। १९१३ के अप्रैल में चीन की नई पार्लमेंट का अधिवेशन हुआ। इस समय विदेशी शक्तियों के अड़ंगा लगाने के कारण लोग थोड़े हतोत्साह भी हुए। मंगोलिया ने रूस में षड़यन्त्र रचा, इस कारण वह चीनी प्रजातंत्र में शामिल नहीं हुआ। उसने रूस के साथ समझौता कर लिया और रूस की साम्राज्यवादी नीति का शिकार बन गया। चीन को इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य किया गया। इसी प्रकार से तिब्बत में अंग्रेज़ों ने चीनी लोगों के खिलाफ़ क्रान्ति करदी और तिब्बत को स्वतन्त्र क़रार देने के लिए चीन को मजबूर किया, चीन के ब्रिटेन और रूस की बात मानलेने का मतलब मंगोलिया और तिब्बत को अपने से अलग कर देना था। फिर उसे आवश्यकता पड़ने पर रूस और ग्रेटब्रिटेन आसानी से अपने साम्राज्य में मिला ले सकते थे।

युआनशिकाई प्रजातंत्र के विचारों का पोषक नहीं था। महाशक्तियों ने उसे अपने पूँजीपतियों से और बैंकों से ऋण दिला दिया और उसके बदले नमक से होने वाली आय और समुद्री कर से होने वाली बचत रेहन रखली। महाशक्तियाँ अपना हित साधने के लिए चीन के अर्थ-विभाग में अपने निरीक्षक और परामर्शदाता भी रखवा देना चाहती थीं। युआनशिकाई ने ऋण ले लिया और उससे अपनी निजी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करने लगा। ऋण उसने चीनी पार्लमेंट की अनुमति से नहीं लिया था। उस रुपये का उपयोग उसने प्रजातंत्रवादी विचार वालों को दबाने

युआनशिकाई की अदूरदर्शिता

में किया। पुराने क्रान्तिकारियों ने देखा कि पुरानी बला फिर से आ जाना चाहती है तब उन लोगों ने विद्रोह किया। वह विद्रोह तुरंत ही शांत कर दिया गया। युआनशिकाई ने अपने विरोधी दक्षिणी प्रतिनिधियों का दल तोड़ दिया। आगे चलकर उसने पार्लमेंट ही तोड़ दी और स्वयं चीन का सम्राट बन जाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु इसी बीच ६ जून १९१६ को उसकी मृत्यु हो गई। उसका उद्देश सफल नहीं हुआ। परन्तु उसके बाद से उसके भिन्न-भिन्न सेनापति अपना-अपना अधिकार जमाने के लिए लड़ने लगे। चीन गृह-कलह का आदर्श नमूना हो गया। युआनशिकाई के बाद लीचुआन हंग, जो उप सभापति थे, सभापति हो गये। उनके समय में चीन के उन्नति की आशा की जाने लगी।

चीन की यह क्रांति आन्तरिक क्रांति नहीं थी। यह वहां के करोड़ों भूखे लोगों को विदेशी दासता और साम्राज्यवादियों के आतंक से छुड़ाने के लिए हुई थी। मंचू साम्राज्य के उखाड़ फेंकने के पहले ही चीन के राष्ट्रीय दल के प्रवर्तक डा० सनयात-सेन ने कहा था कि मंचू साम्राज्य का उखाड़ना एक महान उद्देश की पूर्ति के लिए रास्ते का एक कांटा हटाना मात्र है। इस क्रान्ति का मूल उद्देश चीन से विदेशियों का दखल उठा-कर राष्ट्रीय पुनरुत्थान करना, जो अधिकार खो गये थे उन्हें प्राप्त करना और जनता की अवस्था में सुधार करना था। डा० सनयातसेन ने राष्ट्रीयदल के जो तीन निम्नलिखित उद्देश बतलाये थे वे ही क्रान्ति के मूल उद्देश थे।

१. राष्ट्रीय पुनरुत्थान और महान् राष्ट्र होने के लिए:—

चीन का विदेशियों के चंगुल से तभी छुटकारा हो सकता है जब असमानता की संधियाँ रद्द कर दी जाँय। इन सन्धियों के रद्द होने से ही चीन को जहाजी चुंगी पर अधिकार करने का अवसर मिलेगा और वह आयात-निर्यात के बन्धनों से मुक्त हो सकेगा। *चीन का नुकसान विदेशियों के रहने के विशेषाधिकार तथा व्यापारिक सुविधाओं के कारण है, उसकी क्षतिपूर्ति असमानता की सन्धियों के रद्द होने से ही हो सकती है।

---

*चीन कृषि-प्रधान देश है। वहां की ७०, ८० प्रतिशत प्रजा खेती पर निर्भर करती है इस कारण से वहां की सरकार की सब से बड़ी आमदनी जहाजी चुंगी (Maritime customs) से होती है। उसपर बिना अधिकार किये केन्द्रीय शक्ति मजबूत नहीं हो सकती। उसके बिना कला-कौशल की वृद्धि नहीं हो सकती और न मजबूत सेना ही रखी जा सकती है। यह इस समय तक विदेशियों के कब्जे में था। चीन का कर्ज गत ७५ वर्षों में २५००००००० पौंड से ३००००००००पौंड हो गया था। विदेशी साम्राज्यवादियों ने लड़ाइयों का हर्जाना तथा रेल इत्यादि बनाने का बहाना कर चीन पर यह कर्ज लाद दिया था। इसी की वसूली के लिए उन्होंने उसके नाविक कर पर अधिकार जमा लिया था। इन्हीं ऋणों के कारण चीन अनेक विदेशी बैंकरों के अधिकार में चला गया था।

२. लोगों के राजनैतिक अधिकार :

एक ऐसे साम्यवादी प्रजातन्त्र भावोंवाली केन्द्रीय शक्ति की स्थापना हो जिसमें लोगों को केवल प्रतिनिधि भेजने का ही नहीं परन्तु शासन में परिवर्तन करने, उस पर टीका-टिप्पणी करने और उसे बदल डालने तक का अधिकार हो।

. लोगों के रहने का अधिकार :

लोगों की अवस्था सुधारने और उन्हें भर पेट अन्न-वस्त्र देने के लिए इस प्रकार के क़ानून रहेंगे जिससे मजदूरों की रक्षा * हो सकेगी, देश के सभी व्यवसाय—रेल, नौका, खान, बैंक आदि राष्ट्रीय कर दिये जायँगे, भोजन और जीवन की आवश्यक चीजों का नियंत्रण हो सकेगा और गरीबों को शिक्षित किया जा सकेगा।

चीन इस समय अपने उद्देश्यों में भले ही सफल नहीं हुआ परन्तु उसमें जो महान् शक्ति आगई थी उसके द्वारा उसे शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर लेने की आशा थी।

जब फ्रेंच और अंग्रेज साम्राज्यवादी श्याम को नोचने-खाने लगे तब उसने भी यथासाध्य यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि वह भी अपने को नये युग का राष्ट्र बना ले सकता है।

---

* इस समय चीन के मजदूरों की मजदूरी बहुत कम थी। वहां पर मज़दूरी सस्ती होने का अर्थ संसार के मजदूरों का सस्ता होना था। चीन की क्रान्ति की सफलता-असफलता पर संसार के मजदूरों का भाग्य निर्भर था।

श्याम ने साम्राज्यवादियों की चालें समझ लीं, इससे उसका विशेष नुक़सान नहीं हुआ। वह अपना धन अपने देश में सुधार करने की दृष्टि से खर्च करने लगा। उसने अंग्रेजी ठीकेदारों से रेलें बनवाईं परन्तु उसके लिए अपनी प्रजा पर कोई नया कर नहीं बढ़ाया। उसने विदेशियों से कोई ऋण नहीं लिया फिर भी १८९६ से १९०४ तक के काल में उसने अपनी आमदनी दूनी कर ली। रेल बनाने के बाद भी उसके ख़जाने में काफ़ी रुपया था। उसे जूएखानों से खासी आमदनी होती थी परन्तु इसे बुरी आदत समझ कर उसने हानि सहने के लिए प्रस्तुत हो उस प्रथा को अपने देश से उठा दिया। १९०४ के बाद से उसे १५ करोड़ रुपये ऋण लेने पड़े परन्तु उस बोझ से वह दबा नहीं। कुछ ही दिनों के बाद उसने उस ऋण का चार करोड़ रुपया चुका दिया। जो प्रांत उसके हाथों से निकाल लिये गये थे उनपर उसका कुछ भी वस नहीं था। उसके प्रांत उसकी विवशता के ही कारण निकले। जितना भाग उसका निज का बचा है उसमें वह साम्राज्यवादियों से बचने के लिए सभी प्रकार का सुधार कर रहा है। उसमें विदेशी लोगों को हस्तक्षेप नहीं करने देता। दूसरी ओर फ्रेंच और अंग्रेज साम्राज्यवादियों में भी झगड़ा है। इसका फ़ायदा उठाना भी श्याम भलीभांति जानता है। श्याम में इस प्रकार के सुधार की भावना जागृत करने का श्रेय साम्राज्यवाद को ही है। उसकी जागृति इसी साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ कार्य कर रही है।

अन्नाम और टौन्किन में फ्रांसीसी मनमाने कर लगाते थे और उन्हें दूसरे देशों के साथ व्यापार नहीं करने देते थे। वे

स्वयं खूब लूट मचाते थे परन्तु देशवासियों अथवा दूसरे राष्ट्रों को लाभ नहीं उठाने देते थे। वहां वाले लाओस की सेना में भर्ती होना अथवा वहां का शासन-व्यय अपने सिर लेना नहीं चाहते थे क्योंकि वहां की खानों और जंगलों से केवल फ्रांसीसियों का ही लाभ होता था। जब से जापान ने रूस पर विजय प्राप्त की, फ्रांसीसियों को वहां राजद्रोह का सामना करना पड़ता है। क्रान्तिकारी आन्दोलन दबाने के लिए ही १९०८ में फ्रांस को वहाँ पर अधिक सेना रखनी पड़ी थी और १९१० में विद्रोह दबाने के लिए विद्रोहियों को द्वीपांतरित करके गायना भेजना पड़ा था। १९११-१२ में भी खूब उपद्रव हुए। १९१२ में वहां के अनाय नगर में बम फेंका गया था। जिससे दो फ्राँसीसी और कई युरोपियनों की मृत्यु हो गई थी। यह उन षड्यन्त्रकारियों का कार्य था जो फ्रांसीसियों का शासन नष्ट करने के लिए षड्यन्त्र रच रहे थे।

अन्नाम और टौन्किन में—

१९०५ की लहर से कोरिया का भी बचा रहना असम्भव था। उसी के कारण युद्ध हुआ था। उसने अपने को जापानियों के अधीन जाते देख क्रान्ति आरम्भ कर दी। १९०६ से ही क्रान्ति शुरू हो गई। स्थान-स्थान पर उन्होंने विद्रोह के झण्डे खड़े किये और प्रमुख जापानियों का खून करना आरम्भ किया। जापानियों ने उसे सेना की सहायता से दबा दिया। १९०७ में वहां के ३२ बड़े-बड़े नेताओं को फाँसी दे दी गई और सैकड़ों कोरियन जापानी सेना की गोली के शिकार हुए। इस मारकाट से कोरिया का

कोरिया में भी—

संगठित विद्रोह दब गया परन्तु अकेले-दुकेले जापानियों की हत्या जारी ही रही। कोरिया के लोगों के पास संगठित सेना नहीं थी इसलिए उनके विजयी होने की आशा नहीं थी फिर भी उन्होंने क्रान्ति जारी रखी। १९०८ में जापानियों-द्वारा बारह हजार कोरियन विद्रोही मार डाले गये। कोरियनों ने भी दो हजार जापानियों को मार डाला। विदेश में गये हुए कोरियन भी विद्रोही दल में शामिल रहते थे। इसी साल सैन-फ्रांसिस्को नगर में दो कोरियनों ने जापानी सरकार के सलाहकार स्वेवेन्स महाशय को मार डाला। उन्होंने यह बात फैलाने की चेष्टा की थी कि जापान कोरिया में बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। १९०९ में प्रिंस ईटो की हत्या हर्बिन नगर में हो गई। कोरिया पर जापान का अधिकार करना अनिवार्य है, कहने के अपराध में जापान के प्रधानमंत्री की हत्या करने का भी प्रयत्न किया गया था। जापान ने विद्रोह पूर्णरूप से दबा देने की चेष्टा की परन्तु सफल नहीं हुआ। अन्त में उसने १९१० में कोरिया को अपने अधीन कर लिया। . . .

. . . चार वर्ष के लगातार दमन से कोरिया की क्रान्तिकारी शक्ति बहुत कम हो गई थी। उसके निज के पास न तो शक्ति थी और न उनका कोई सहायक ही था। पेट्रोग्रेड स्थित कोरियन राजदूत ने बड़ी चेष्टा की कि रूस कोरिया के जापान साम्राज्य में मिलाये जाने का विरोध करे परन्तु उसे सफलता नहीं हुई। देश की दुर्दशा वह सहन नहीं कर सका; उसने आत्महत्या कर ली। कोरियन लोग आगे चलकर किसी प्रकार का भयानक षड्यन्त्र न रचें इस-

दण्ड और पुरस्कार

लिए जापान ने एक दूसरी नीति का भी सहारा लिया। उसने वहां के राजा की पैतृक वृत्ति जारी रखी। पचहत्तर कोरियनों को बहुत बड़े-बड़े ख़िताब दिये और अपने साम्राज्य का सरदार बना लिया। जापान में ऐसे सरदारों की जितनी वृत्ति थी उससे चार, पांच गुनी अधिक वृत्ति इन सरदारों को दी जाने लगी। धन और उपाधियों के बल पर विजित देश को शांत रखने की नीति में जापान ने अंग्रेजों-द्वारा भारतवर्ष में लाई जानेवाली नीति का ही अनुकरण किया। जापान ने लोगों को इसीलिए खरीद लिया जिसमें कोरिया में जापानी शासन का विरोध न हो परन्तु इससे जापान का उद्देश सफल नहीं हुआ। कोरिया वाले जापानियों के घोर विरोधी और उनसे घृणा करने वाले बने ही रहे। १९११ में वहाँ एक षड्यन्त्र रचा गया और १९१४ में शंघाई की कोरियन गुप्तसभा ने भी विद्रोह खड़ा करना चाहा; जिससे पता चलता है कि वहाँ के लोग विदेशी शासन के विरोधी हैं। सारा एशिया जिस साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ क्रान्ति कर रहा था कोरिया भी उसी में शामिल था।

१९०४ से १९१४ तक के दस वर्षों में साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ सारे एशिया ने विद्रोह करना आरम्भ कर दिया था। यही समय एशियायी क्रान्ति का उषाकाल था। आरम्भ में एशियायी राष्ट्रों को सफलता भी मिली परन्तु आगे चलकर साम्राज्यवादियों ने उस सफलता को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया। एशियायी क्रान्ति इससे दब नहीं गई। एशियावासी अपनी ग़लतियों को देखने लगे और उसे सुधारने का प्रयत्न करने लगे। इतने में ही उन सब का ध्यान महासमर की तोपों के भयंकर गर्जन ने आकृष्ट किया।

महासमर की छाया में—

महासमर के समय एक ओर मित्र राष्ट्रों के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ अपनी शक्तिभर चिल्ला-चिल्लाकर कह रहे थे कि महायुद्ध संसार के सबलों का अत्याचार दूर करने के लिए लड़ा जारहा है; संसार के छाटे राष्ट्रों को भी बड़े राष्ट्रों के ही समान जीवित रहने का अधिकार है, बीसवीं शताब्दी के सभ्य जगत के लिए मत्स्य न्याय को आश्रय देना उचित नहीं है, इसलिए जर्मनी के विरुद्ध लड़ने के लिए संसार के छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी राष्ट्रों को एक तरफ मिल जाना चाहिए। दूसरी ओर महायुद्ध की तोपों के गोले आकाश-पाताल एक कर देनेवाली गर्जना करते हुए कह रहे थे—'यह पूर्ण रूप से साम्राज्यवादी महायुद्ध है। स्वयं निष्कंटक अत्याचार करने के उद्देश से एक सबल कंटक को मार्ग से अलग करने के लिए हम भेजे जारहे हैं। भला किसी को अत्याचार से बचाने और किसी के कल-कारखानों को नष्ट करने से क्या सम्बन्ध ? हमें तो जो अपने चाँदी-सोने की चमक दिखलाकर खरीद लेगा हम उसी के हो जायँगे। इस समय मुझे बैंक वालों ने खरीद लिया है। बैंक ही आपस में लड़ रहे हैं, उनका ही युद्ध महायुद्ध है। दूसरों की चिन्ता करना इस आर्थिक साम्राज्यवाद के युग में व्यर्थ है, अपना-अपना हित साधना चाहते हो तो

न्याय के नामपर !

आओ ! देखो ! यही आदर्श नमूना है।' युद्ध कुछ सप्ताहों तक तो युरोपियन शक्तियों के ही बीच रहा परन्तु शीघ्र ही एशिया की शक्तियां भी उसमें शामिल होने लगीं।

जापान के कान राजनीतिज्ञों की आवाज से भलीभांति परिचित थे। उसने अपना हित साधना उन्हीं लोगों से सीखा था। उसे यह अवसर स्वर्णयुग-सा मालूम हुआ। बहुत से जापानियों की सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। जापानी सैनिक अधिकारियों का विश्वास था कि विजय जर्मनी की ही होगी। इससे स्पष्ट था कि वह मित्र राष्ट्रों की सहायता करने के उद्देश से महायुद्ध में नहीं कूदता। रूस के साथ उसने युद्ध किया था, उस समय जिस सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से युरोपियन शक्तियाँ उसकी ओर देखती थीं उसी प्रकार की दृष्टि से वह इस समय युरोपियन शक्तियों की ओर देखने लगा। आखिर वह भी तो उनका ही शिष्य था ! अपने शिष्य होने का उसने प्रमाण भी दे दिया; वह यदि चाहता तो सहज में ही पन्द्रह लाख सेना भेज सकता था परन्तु वह मूर्ख नहीं बनना चाहता था। यदि युरोपीय युद्ध शीघ्र ही समाप्त हो जाता तो उसे लाभ के बदले हानि ही हुई होती। युद्ध जितने ही अधिक दिनों तक चलता युरोपियन शक्तियाँ उतनी ही दुर्बल होती जातीं और वह मालामाल होता जाता। उसने वह अवसर चूकने नहीं दिया। वह दूर से युरोपियनों का नाश होना देख रहा था और धन से अपना घर भरता जाता था। युद्ध के कारण उसका व्यापार खूब चमक गया। युरोपियन कारखानों में जैसे माल तैयार होते थे वे सब जापानी कारखानों

जापान के लिए सुवर्ण-संयोग

में तैयार होने लगे। युद्ध-सामग्री के ठीके भी उसे काफी मिल रहे थे। मित्र राष्ट्रों की सहायता उसने युद्ध-सामग्री तैयार करने में दी थी परन्तु वह सहायता भी आर्थिक लाभ के ही विचार से की गई थी।

युरोपियन शक्तियों के युद्ध में फंसे रहने के समय आर्थिक लाभ तो जापान कर ही रहा था, साथ ही उसने राजनैतिक लाभ सम्पादन करने की भी चेष्टा की। इंग्लैंड के साथी रहने की हैसियत से उसने जर्मनी से कहा कि वह प्रशांत महासागर से अपने सभी लड़ाके जहाज बुलाले और कियाचाऊ दे दे जो उचित समय पर चीन को वापस कर दिया जायगा। जर्मनी की ओर से कोई उत्तर न मिलने पर उसने २३ अगस्त को लड़ाई छेड़ दी और जर्मनी की अधिकृत भूमि पर कब्जा करने गया। लड़ाई के आरम्भ में जापान ने भी और साम्राज्यवादी राष्ट्रों की ही तरह कहा था कि—"जापान किसी के प्रदेश पर कब्जा करने के लिए आगे नहीं बढ़ रहा है। चीन अथवा और राष्ट्रों की जितनी सम्पत्ति है उसमें वह हस्तक्षेप नहीं करेगा।" परन्तु जर्मन प्रदेशों पर अधिकार करने के बाद वह अपने कथन के ठीक प्रतिकूल कार्य करने लगा। अब उस प्रायद्वीप में जर्मन नहीं रह गये थे फिर भी जापानियों ने जर्मन रेलों और खानों पर अपना सैनिक अधिकार कायम रखा। इस समय उसने चीन को काफ़ी कमजोर पाया और इसीलिए उसके ऊपर अपने साम्राज्यवाद का भार डालने लगा।

कियाचाऊ पर अधिकार

चीन में इस समय कोई मजबूत शक्ति नहीं थी। प्रजातंत्र

चीन की इस समय अग्नि-परीक्षा चल रही थी। १८ जनवरी १९१५ को जापान ने अपनी इक्कीस शर्तें, जो पांच भागों में विभक्त थीं, चीनी सभापति के सामने पेश कीं। पहले वर्ग की शर्तों में कियाचाऊ और शांटुंग के सम्बन्ध में जापान जर्मनी से जो कुछ भी समझौता कर ले उसे चीन के मान लेने की बात थी। दूसरे वर्ग में जापानियों की दक्षिण मंचूरिया और पूर्वी भीतरी मंगोलिया में खान खोदने, जमीन खरीदने, रेल और ऋण में पहला मौका देने, पोर्टआर्थर और डाल्नी का निन्नानवे वर्ष का पट्टा साथ ही अन्तुंग, मकदन, दक्षिणी मंचूरिया और किरोनछांग-छुन रेलवे का पट्टा लिख देने की बात थी। इसका मतलब उन देशों पर जापान का आर्थिक एकाधिकार हो जाना और वहां पर जापानी प्रजा का विशिष्ट अधिकार हो जाना था। तीसरे वर्ग में कहा गया था कि यांग्सी तराई में लोहे के सब से बड़े चीनी कारखाने में केवल जापानियों का रुपया लगा करे और सारा नफा केवल जापानियों को ही मिला करे। चौथे वर्ग की शर्तों द्वारा चीन से स्वीकार कराया गया था कि वह चीनी समुद्रतट की कोई खाड़ी, बन्दर या टापू किसी दूसरी शक्ति को ठीके या किसी और शर्त पर नहीं देगा। पांचवाँ वर्ग ही सब से प्रधान था। उसके अनुसार चीन पूर्णरूप से जापान के संरक्षण में चला जाता। उसमें कहा गया था कि चीन अपने यहाँ के राजनीति, अर्थ और सेना विभाग में जापानी परामर्शदाता नियुक्त करे, युद्ध आदि के लिए जितनी सामग्री की आवश्यकता हो उसका कम से कम आधा केवल जापान से खरीदे, जापान को रेल आदि के सम्बन्ध में

चीन के लिए जापान की इक्कीस शर्तें

अधिकार दे, जापानी धर्म-प्रचारकों के लिए अपने देश में सुविधा कर दे और ज़ापानी टापू फारमोसा के सामने के फुकीन प्रांत में भी जापानियों का विशिष्ट अधिकार मान ले।

चीन के हाहाकार मचाने, सिर पटकने और हजार विरोध करने का परिणाम कुछ भी नहीं हुआ। चार महीने बाद जापान ने उसे अन्तिम चुनौती दी। जापनियों की अंग्रेजों के साथ जो सन्धि हुई थी उसमें एक बात यह भी थी कि अन्य राष्ट्रों से जो सन्धियाँ होंगी वे एक-दूसरे को बतलाई जाँयगी। परन्तु जापान ने इस समय उपर्युक्त पाँच वर्गों में अन्तिम को छिपा लिया और बाक़ी चार भेज दिये। उसे डर था कि अन्तिम वर्ग के कारण विदेशी शक्तियों को चिढ़ होगी क्योंकि उससें उनका घाटा था। चुनौती के समय जापान ने सन्धि के पाँचवें वर्ग में थोड़ा परिवर्तन कर दिया, पहले चार वर्गों की शर्तों को पूरा-पूरा और पाँचवें की फुकिनवाली शर्त चीन को मानने के लिए बाध्य किया। चीन असमर्थ था। उसका कोई पक्ष लेनेवाला भी नहीं था। उसके सामने दो ही मार्ग थे। उसे या तो जापान की सभी शर्तें मानकर अपने आपको उसके अधीन कर देना था या उसके आक्रमण से अपनी तबाही कर लेनी थी। २५ मई १९१५ को सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गया। शांटुंग, फुकियान, पूर्वी मंगोलिया और दक्षिणी मंचूरिया जापानी अधिकारक्षेत्र में आ गये और चीन का बड़ा से बड़ा लोहे का कारख़ाना केवल जापान से ऋण लेनेवाला हो गया।

गरीब चीन ने घुटने टेक दिये

यूरोप की सभी शक्तियाँ दूसरे समय में, इन सन्धियों को

जबतक उन्हें भी उस में कुछ भाग नहीं मिलता, नहीं मानतीं परन्तु इस समय वे लड़ाई में फँसी हुई थीं।

दुर्बल का सहायक कौन?

जापान अपने कार्यों के लिए स्वतन्त्र था। वह यहाँ तक आगे बढ़ा कि जब मित्र-राष्ट्रों ने चीन को अपनी ओर से लड़ने के लिए कहा उस समय जापान ने उसका सख्त विरोध किया। जापान नहीं चाहता था कि चीन में सैन्यसंगठन हो, वह मजबूत हो और शान्ति महासभा में जापान को जो भाग मिले उसमें वह हिस्सेदार हो जाय। जब उसे विश्वास हो गया कि चीन किसी भी प्रकार अपने पिछले हक़ को वापस करने में असमर्थ रहेगा तब उसने चीन को युद्ध में शामिल होने दिया। अमेरिका के युद्ध में शामिल होने के पहले ही चीन को विना जताये सभी मित्र-राष्ट्रों ने लिखकर जापान को विश्वास दिलाया था कि जर्मनी से सन्धि होगी, उस समय शांटुंग प्रायद्वीप और भूमध्य-रेखा के उत्तर के जर्मन टापू जापान को मिल जायंगे। विश्वास दिलानेवाले राष्ट्रों में केवल इटली ने जबानी विश्वास दिलाया था। इस प्रकार की कार्रवा-इयों से जापान को विश्वास हो गया था कि मित्र राष्ट्र उसका विरोध नहीं करेंगे। अमेरिका ने युद्ध में सम्मिलित होने के पहले जापान की २१ माँगों का दबी जबान से विरोध किया था परन्तु युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर उसने जापान के अधिकारों को मान लिया। १९१६ के नवम्बर में वाइकाउंट इशाई के साथ अमेरिकन सेक्रेटरी लैन्सिंग की बात हुई उसमें लैन्सिंग ने स्वीकार किया था कि चीन के विशिष्ट भाग में जापान को विशिष्ट अधिकार प्राप्त हैं। जापानी साम्राज्यवादियों को अमे-

रिकन सेक्रेटरी के कथन से अपनी साम्राज्यवादी चाल को आगे बढ़ाने का अच्छा मौक़ा मिला। उन्होंने उसका यह अर्थ लगाया कि 'सारे चीन-साम्राज्य में जापान को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त होना चाहिए।' चीन की अवस्था ख़राब होती जा रही थी; उसी समय उसे कुछ ऋण की आवश्यकता हुई। १९१८ में जापान ने ऋण दिया, चीन में रेल बनाने की सुविधाएँ प्राप्त कीं और गुप्त सैनिक सन्धि कर ली कि चीनी मंचूरिया में जापानी सेना रह सकती है।

जापानी साम्राज्यवादियों की चालें केवल चीन में ही काम नहीं कर रही थीं, रूस में भी उनका काम चल रहा था।

जापान की अन्य चालें

१९१६ में उन्होंने रूस से गुप्त सन्धि कर ली थी कि यदि कोई तीसरी शक्ति चीन में अपना राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहेगी तो दोनों शक्तियां मिल कर आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण कर बैठेंगी। १९१७ में रूस के बोल्शेविक हो जाने पर वह सन्धि प्रकाशित हो गई और जापान का एक साथी जाता रहा। जब साइबेरिया में मित्र-राष्ट्रों ने सेना भेजना निश्चय किया उस समय प्रत्येक राष्ट्र ७५०० से अधिक सेना नहीं भेज सकता था परन्तु जापान ने अनेक प्रकार की बहानेबाजियां करके ७०००० सेना पूर्वी साइबेरिया में भेज दी। जापान का आर्थिक साम्राज्यवाद काम करने लगा। वहां के बाजारों में जापानी चीजें बिकने लगीं। युद्ध के बाद जापानी साम्राज्यवाद ही एशिया में विजयी रहा।

चीन ने तीन वर्ष तक अपनी कोई नीति युद्ध के सम्बन्ध में निर्धारित नहीं की थी। वह अपने घरेलू मामलों में, और आगे

चलकर जापान के साथ झमेले में, पड़ा हुआ था। वहाँ के अधिकांश निवासी युरोपीय युद्ध से उदासीन थे। अभी तक युरोपियन शक्तियों ने उनके साथ जो दुर्व्यवहार किया था इससे वे समझ गये थे कि युद्ध के कारण कोई शक्ति उसके सम्बन्ध में अपनी नीति परिवर्तित नहीं करेगी। चीनवासी जापानियों के खिलाफ़ थे। जापान मित्र-राष्ट्रों की ओर से लड़ रहा था इसलिए वहाँ के सैनिक तथा अन्य लोग जर्मनी के ही साथ थोड़ी-बहुत सहानुभूति रखते थे, पर उनकी सहानुभूति का कोई विशेष महत्व नहीं था। मित्र-राष्ट्र जिन सिद्धांतों की रक्षा को युद्ध का मूल कारण बतला संग्राम में जूझ रहे थे उसी समय उन्हीं की ओर से लड़नेवाले दो राष्ट्र—जापान और रूस उन्हीं सिद्धान्तों के खंडन करनेवाले समझौते आपस में कर रहे थे। चीन के राजनीतिज्ञ जापान के शांटुंग से हटाने और उसकी इक्कीस माँगों की ज्यादती कम करने के विचार से मित्रराष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना चाहते थे इसीलिए वे उनकी ओर से लड़ना भी चाहते थे। जापान अपना घाटा देख चीन को युद्ध में सम्मिलित नहीं होने देना चाहता था परन्तु यदि चीन की प्रबल इच्छा युद्ध छेड़ने की होती तो जापान कुछ नहीं कर सकता था। परन्तु उसकी इच्छा ज़बर्दस्त नहीं थी।

उधर न्याय की पुकार: इधर अन्याय का नाटक

चीन को मिलाने के प्रयत्न

चीन के युद्ध से उदासीन रहने से जर्मन लोगों को मध्य एशिया, तिब्बत, अफ़ग़ानिस्तान, तुर्किस्तान आदि में बल्वा करा देने वाले विचारों के प्रचार करने में सुविधा होती थी। इससे भारतवर्ष

के विषय में भी खतरा था । चीन का जर्मन-एशियाटिक बैंक इन प्रचारकों के मार्फत युद्ध-सामग्री भी भेजता था । चीन के बन्दरगाहों में नजरबन्द किये गये जर्मनी के व्यापारी जहाजों का उपयोग मित्र राष्ट्र नहीं कर पाते थे इसलिए उन्हें बड़ी असुविधा होती थी । वे चीन को अपनी ओर मिलाना चाहते थे इसीलिए उन्होंने चीनी लोगों को युद्ध में शामिल होने के लिए बहुत-सी आशाएँ दिलाई थीं । उनसे कहा गया था कि बॉक्सर-विद्रोह की ऋण-वसूली में जर्मनी का जो भाग है वह रद्द कर दिया जायगा । मित्रराष्ट्रों को चुक्ता करने का भी उसका समय बढ़ा दिया जायगा । सन्धियों-द्वारा उसके कर वसूली में जो बाधाएँ आगई हैं वे भी दूर करदी जायँगी और चीन को अकेले किसी राष्ट्र से ऋण लेने की स्वतन्त्रता रहेगी । चीन-वासियों को इस बात का भी विश्वास दिलाया गया था कि यदि वे युद्ध में शामिल हो जायँगे तो उन्हें शान्तिप्रस्थापन के समय जापानियों के क़ब्जे से शांटुंग प्रांत निकालकर भी दे दिया जायगा। इन्हीं आशाओं से प्रेरित होकर उत्तर-दक्षिण दोनों ही तरफ के लोग मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल होना चाहते थे ।

चीन की युद्ध-घोषणा

राष्ट्रपति विल्सन की बातों को चीनी लोग बड़े ही ध्यान से सुना करते थे । भविष्य के लिए उन्होंने जो सिद्धान्त बतलाये थे उनसे चीनी लोगों को पूर्ण आशा थी कि उन्हें साम्राज्यवाद के चक्र से मुक्ति मिल जायगी और दूसरी इच्छाएँ भी पूरी हो जायँगी । १९१७ के आरम्भ में अमेरिका ने जर्मनी की पनडुब्बी नीति का विरोध करने के लिए उससे लड़ाई छेड़ दी और संसार के सभी लड़ाई से उदासीन

राष्ट्रों को जर्मनी के खिलाफ़ युद्ध-घोषणा कर देने के लिए आमंत्रित किया। अमेरिका युरोप में अपनी बहुत बड़ी सेना भेजने के पहले प्रशांत महासागर में अपना अधिकार सुरक्षित कर लेना चाहता था इसलिए उसे चीन को अपने साथ युद्ध में शामिल कर लेने की बहुत आवश्यकता थी। उसने चीन पर उदासीनता छोड़ने के लिए ज़ोर डाला। अन्त में चीन के नये राष्ट्रपति (?) ली-युआनहंग ने भविष्य के लाभ की आशा से १९१७ के अगस्त में जर्मनी के साथ युद्ध-घोषणा कर दी। युद्ध-घोषणा के समय चीन की आन्तरिक अवस्था अच्छी नहीं थी। वहांपर अनफूदल के अधिकार में अर्थ, सेना और आय के जरिये थे। इन लोगों को जापानी लोग भड़काया करते थे। कुछ ही दिनों बाद ये लोग जापानियों के पक्ष में हो गये। उन लोगों ने बोल्शेवी लोगों के आक्रमण का बहाना कर मंचूरिया के बीच ट्रांस-साइबेरियन रेलवे और पूर्वी चीनी रेलवे पर जापानियों को सैनिक अधिकार कर लेने दिया। इस दल के विरोध में दक्षिण चीन वाले उठ खड़े हुए। डा० सनयात सेन के नेतृत्व में उन्होंने कैंटन में एक प्रतिद्वंद्वी सरकार क़ायम की। ये ही लोग चीन की सच्ची भलाई चाहते थे। जापानियों से ये बहुत चिढ़े रहते थे। १९१७ से ही चीन में गृह-कलह आरम्भ हो गया। कलह के कारण चीन मित्रराष्ट्रों की अधिक सहायता नहीं कर सका परन्तु उसका शामिल होना ही मित्रराष्ट्रों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ।

चीनी बहुत बड़ी-बड़ी आशाओं से प्रेरित होकर युद्ध में शामिल हुए थे। उन्हें अमेरिका पर पूर्ण विश्वास था। परन्तु

लैंसिंग और इसाई की बातें जिस समय प्रकाशित हुई उस समय उन्हें भी सन्देह होने लगा कि अमेरिका भी महाशक्तियों की कूटनीति का अनुकरण करने लगा है। फिर भी चीन मित्र-राष्ट्रों का ही साथी रहा। देखें, उनका साथ देने से उन्हें स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार प्राप्त होता है वा नहीं; उस समय तक किये गये अत्याचार दूर किये जाते हैं वा नहीं; जिन महाशक्तियों ने धोखा देकर, डरा-धमकाकर या मार-पीट कर दूसरों के प्रदेश वा अधिकार छीन लिये हैं उनको उन्हें लौटा देने के लिए विवश किया जाता है वा नहीं! ये बातें तो चीनी लोगों के विश्वास करने लायक़ और बड़ी ही अच्छी थीं।

श्याम-द्वारा चीन का अनुकरण

चीन का ही अनुकरण श्याम ने भी किया। राष्ट्रपति विल्सन ने अपने चौदह सिद्धांत स्थिर किये और कहा कि उन्हीं सिद्धान्तों के लिए अमेरिका लड़ रहा है। उन्हीं सिद्धान्तों से लाभ उठाने के लिए श्याम-वासी भी लड़ने लगे। उन्होंने सेना भेजी और धन से सहायता की। इंडोचीन, बरमा और मलाया वालों को मित्रराष्ट्रों की सहायता करनी पड़ी। अन्नाम और टौन्किन का भाग्य-निपटारा फ्रांस ने कर दिया। वहां के लोगों को ज़बर-दस्ती पकड़कर युद्ध में मजदूरों का काम करने के लिए भेजा। उनमें विरोध करने की पर्याप्त शक्ति नहीं थी इसीलिए फ्रांसीसी उन्हें पकड़कर दक्षिणी फ्रांस के दलदल में ठंड से ठिठुरते हुए कार्य करने के लिए ले गये।

भारतवर्ष के राष्ट्रीय नेताओं को आशा थी कि यदि भारत-वर्ष ने अंग्रेजों की सहायता युद्ध के समय की तो उसे उसके

इनाम में औपनिवेशिक स्वराज्य मिल जायगा। तत्कालीन अंग्रेजी मंत्रि-मंडल के आस्किथ प्रभृति लोगों के आशा दिलाने से उन लोगों का विश्वास पक्का होता जाता था। युद्ध के लिए भारतवर्ष से भी सहायता माँगी गई। अंग्रेजों को सहायता करने के पक्ष में देश के सभी बड़े-बड़े समझदार नेता थे। उन लोगों को अंग्रेज राजनीतिज्ञों की घोषणा पर दृढ़ विश्वास हो गया था। वे लोग भी समझने लगे थे कि वह युद्ध किसी देश पर विजय प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि सभी जातियों को अपने-अपने देश में आप ही राज्य चलाने देने का अधिकार दिलाने के लिए चल रहा है। इसीलिए उन्होंने अंग्रेजों की भरपूर सहायता की; उन्होंने अपने सभी विरोधों और शिकायतों को युद्ध के चालू रहने तक ताक पर रख दिया। लगभग दस लाख आदमी उन्होंने युद्ध के लिए भेजे। ये योद्धा किसी भी स्वतंत्र देश के सर्वश्रेष्ठ योद्धा दल से युद्ध में कम साबित नहीं हुए। फ्रांस, गेलीपोली और मिश्र में उन्होंने बहुत बड़े-बड़े कार्य किये। मेसोपोटामिया पर अधिकार करने का श्रेय, तो एक दृष्टि से प्राप, भारतीय लोगों को ही है। भारतवर्ष ने धन से भी अंग्रेजों की बहुत सहायता की थी। युद्ध के लिए उसने बीस करोड़ पौंड दिये थे। फिर भी अंग्रेजों को सन्तोष नहीं हुआ। वे जबर्दस्ती करने से बाज नहीं आये। युद्ध-व्यय की अधिकांश रक़म भारत-सरकार ने जबर्दस्ती भेंट कराई थी। उसमें भारतवासियों का कोई दखल नहीं था। इसके सम्बन्ध में इंग्लैंड के 'नेशन' पत्र ने 'साफ बेईमानी' शब्द का उचित प्रयोग किया था। वह दान

युद्ध में भारत की सहायता

एक ऐसी कौंसिल का किया हुआ था जो न तो भारतवासियों की सच्ची प्रतिनिधि ही थी और न उसके हित का ही पूरा-पूरा ध्यान रखती थी। उस कौंसिल ने एक दरिद्र देश से धनवान शासकों के पास उतनी बड़ी रक़म भेजने में कुछ भी आगा-पीछा नहीं सोचा। देश के ऊपर अपने आपको और दूसरों को परतंत्र बनाने के लिए खर्च किये हुए युद्ध-व्यय का बहुत बड़ा बोझ तो था ही, उसी में यह रक़म और भी जोड़ दी गई। इतने बड़े अन्याय को भी भारतवासियों ने उस समय जैसे-तैसे सह लिया। इसका कारण था उनका धैर्य और विश्वास। इस प्रकार के धैर्य और विश्वास के टूटने का परिणाम क्या हो सकता है, उसमें कितनी शक्ति होगी, इसका अन्दाजा इसी समय की सहनशीलता से लगाया जा सकता है।

उग्रदल के विचार

इस समय यहां पर भी राष्ट्रीय दल में कुछ ऐसे लोग थे जो अंग्रेजों की इस विकट परिस्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। वे चाहते थे कि अंग्रेज जब तक युद्ध में फंसे हैं यहां क्रान्ति हो जाय, और देश स्वतंत्र बना लिया जाय। कुछ अंग्रेज लेखक कहते हैं कि वे धन के लोभ में आकर जर्मनी से मिले हुए थे और उसकी विजय के लिए प्रयत्न कर रहे थे परन्तु यह बात सरासर झूठ है। वे लोग अंग्रेजों द्वारा बहुत दबाये गये थे। भारतवर्ष में दिन-दिन बढ़ता हुआ आर्थिक कष्ट उनकी आँखों के सामने सदैव नाचा करता था। अंग्रेजों के कृत्यों से उनके भीतर आग-सी लगी हुई थी। वे प्रतिशोध लेना चाहते थे। धन की उन्हें कमी नहीं थी। उस समय इस प्रकार के जितने लोग थे वे सभी अच्छे खान्दान के

और शिक्षित थे। पंजाब के कप्तान हीरासिंह को जर्मनी से भीख मांग कर पेट भरने की आवश्यकता नहीं थी। पकड़े जाने के समय उन्होंने अंग्रेज सर्जेंट को ठीक ही कहा था—"तुम्हारे जैसे अंग्रेजों को मैंने अपना नौकर रखा था।" बंगाल के शिक्षित नवयुवकों के लिए उस समय भी काफ़ी नौकरियाँ थीं। उस समय तक शिक्षित लोगों की बेकारी का प्रश्न नहीं उठा था। वे लोग अंग्रेजों को भगा देना चाहते थे क्योंकि उनके अत्याचारों से उनका हृदय जलता था। १९१५ में इन लोगों ने लाहौर से सिंगापुर तक क्रान्ति कर देने की योजना की परन्तु सफल नहीं हुए। देश के लोगों ने तो उनका साथ दिया ही नहीं, उनके कुछ साथियों ने भी उन्हें धोखा दिया; वे असफल हुए। इतनी बात अवश्य है कि ऐसे लोगों की संख्या बहुत ही कम थी। देश के अधिकांश लोगों को अंग्रेजों पर दृढ़ विश्वास था। वे सोचते थे कि उनकी सहायता से ही स्वराज्य मिल जायगा इसीलिए वे क्रान्ति में तो भाग नहीं ही लेते थे, चुप भी नहीं बैठते थे, वरन् अंग्रेजों की सहायता करते थे। भारतीय मुसलमानों के लिए यह विकट परिस्थिति का समय था। उन्हें अपने समान धर्मावलम्बी तुर्कों से लड़ना पड़ता था फिर भी वे हिचकते नहीं थे। इसका एकमात्र कारण अंग्रेजों पर विश्वास था। तुर्कों के जेहाद और 'मुसलमानपन' का उनपर कुछ भी असर नहीं होता था। अपने अधिकार प्राप्त करने की प्रबल लालसा हिन्दू-मुसलमान दोनों ही जातियों में थी परन्तु वे उस भाव को दबाये हुए थीं। हिन्दू-मुसलमान दोनों अंग्रेजों पर भरोसा करके बैठे थे। उन्हें स्वप्न में भी इस बात की आशा नहीं थी कि उनकी

सारी आशाओं पर अंग्रेज साम्राज्यवादी पानी फेर देंगे।

तरुण तुर्कों द्वारा की गई तुर्की की क्रान्ति के बाद और महायुद्ध के पहले वहाँ के सभी अनुभवी राजनीतिज्ञ अनुभव करने लगे थे कि उन्हें अपनी रक्षा करने के लिए युरोप की किसी न किसी बड़ी शक्ति से समझौता कर लेना चाहिए। वे सबसे पहले रूसी आक्रमण से बचने के लिए इंग्लैंड और फ्रांस से मिलने की चेष्टा करते रहे। यदि उन्हें यह विश्वास दिलाया जाता कि रूस के आक्रमण का वे दोनों शक्तियाँ विरोध करेंगी तो तुर्क उनके ही तरफ़ से लड़ते। तुर्क लोगों से और आस्ट्रिया से अनबन थी क्योंकि बोस्निया और हर्जगोविना पर उसने अधिकार कर लिया था। जर्मनी और आस्ट्रिया उसे इटली के आक्रमण से नहीं बचा सके इसलिए भी उन दोनों से तुर्कों को चिढ़ थी। दजमल पाशा की याददाश्तों में इस बात का काफ़ी सबूत मिलता है कि वे लोग इंग्लैंड और फ्रांस से मिलना चाहते थे परन्तु ये दोनों राष्ट्र रूस के सहायक थे और भविष्य में तुर्की को युरोप से निकालकर रूस को उसका स्थान दे देना चाहते थे इसलिए तुर्क लोगों का प्रयत्न सफल नहीं हुआ।

युद्ध के समय तुर्क लोगों के जीवन-मरण का प्रश्न आ उपस्थित हुआ। इस समय उनके सामने एक ही प्रश्न था कि आत्मरक्षा किस प्रकार की जाय। रूस उनका सबसे बड़ा शत्रु था। वे समझते थे कि यदि रूस विजयी हुआ ता तुर्क अपनी रक्षा और अधिक दिनों तक नहीं कर सकेंगे। आरमीनिया को तुर्कों के खिलाफ़ भड़काने वाले रूसी ही थे। वहां जो क़त्लेआम हुआ उसके उत्तरदायी भी रूसी ही हैं। तुर्क लोगों को इस

बात के बहुत प्रमाण मिल गये थे कि रूस इस बार कुस्तुनतुनिया और दरेदानियाल लेना चाहता है। इसके विषय में अंग्रेज और रूसी लोगों के बीच ठीका—पट्टा हो रहा है, यह भी वे समझते थे। फ्रांस और इटली के बीच की गुप्त सन्धि का भी उन्हें पता चल गया था। वे समझ गये थे कि इटली जब कभी उनका कोई प्रदेश दबाना चाहेगा तो फ्रांस उसमें बाधक नहीं होगा। अंग्रेजों की नीयत का पता उन्हें १९०४ में ही लग गया था। उन लोगों ने फ्रांसीसियों से मिलकर ऐसा उपाय रचा कि मिश्र तुर्कों के हाथ से निकल कर अंग्रेजों के हाथ में चला गया। अंग्रेज मिश्र पर पूरा-पूरा अधिकार और दक्षिणी एशिया में अपने पैर जमा लेने के लिए तुर्की को हर तरह से रूस के हाथ में छोड़ देने के लिए तैयार थे। इन कारणों से मित्र—राष्ट्रों के साथ मिलकर रहने की अपेक्षा जर्मनी के साथ मिलकर रहना ही तुर्कों ने अधिक अच्छा समझा। जिस समय वहां पर राष्ट्रीयता के भाव बढ़ रहे थे और तरुण तुर्कों ने नवीन शासन स्थापित किया था उस समय से ही जर्मनी और राष्ट्रों की अपेक्षा उसके साथ अधिक सहानुभूति रखता था। मित्र राष्ट्रों को तुर्की के उन भावों से डर था। खासकर अंग्रेजों को भय था कि उनकी ही देखा—देखी कहीं उनके अधिकृत दूसरे देश भी वैध-शासन स्थापित करने का उद्योग न करने लग जायँ। जर्मनी ने उस मौके का बहुत फायदा उठाया। उसने युद्ध के समय रूस का संसार से सम्बन्ध-विच्छेद करने के लिए तुर्की को अपनी ओर मिलाये रखना आवश्यक समझा। तरुण तुर्कों की सहानुभूति जर्मनी के साथ बहुत अधिक थी। १९१४ में युद्ध छिड़ने पर

उन्हीं लोगों के, खास कर युद्ध-सचिव अनवरपाशा के जोर डालने से ही, तुर्की युद्ध में शामिल हुआ। तुर्की में सैन्य-शिक्षा देने के लिए भी जर्मन ही अफ़सर रहते थे। उनका बहुत प्रभाव था। युद्ध में शामिल होने के लिए जर्मनी ने तुर्कों को बहुत-सी आशाएँ भी दिलाई थीं। विजय होने पर तुर्की को ईजियन समुद्र के साइप्रस और दूसरे टापू, जिनपर अंग्रेज और इटालियनों का क़ब्जा था, लौटा दिये जायंगे; एशिया में तुर्क राज्य की सीमा बढ़ा दी जायगी। मिश्र पर तुर्की का पूर्ण अधिकार होने को था; काकेशश का पूरा प्रांत जिसमें तेल की खानें हैं तथा बाकू और बातुम भी टर्की को ही मिल जाने वाला था। जर्मनी की इन बातों पर बहुत से तुर्कों का विश्वास नहीं था फिर भी वे लोग यह समझते थे कि जर्मनी के साथ मिले रहने से इस्लाम के भाव का प्रचार किया जा सकेगा और तूरानियन (जिसके एक भाग तुर्क थे) जगत् में नया युग लाया जा सकेगा। इन्हीं कारणों से तुर्की जर्मनी की ओर जा मिला और सितम्बर १९१४ में युद्ध-घोषणा कर दी।

मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल न होने के और तात्कालिक कारणों के साथ एक कारण यह भी था कि इंग्लैंड ने तुर्कों के जहाज रोक लिये थे। तुर्क लोगों को युनानियों का बहुत भय रहता था। इसलिए उन्होंने घर-घर से चन्दा करके अपने लिए इंग्लैंड में दो जहाज बनवाये। ग्रेटब्रिटेन ने युद्ध-घोषणा के एक दिन पहले उन जहाजों को जब्त कर लिया। जर्मनी ने इसी मौके पर अपने दो जहाज दरेदानियाल में भेज दिये। उन जहाजों को तुर्कों ने खरीद लिया और कृष्णसागर

में रूसियों से भिड़ गये। लड़ाई छिड़ गई।

तुर्की के युद्ध में सम्मिलित होने से ग्रेटब्रिटेन को बहुत-सी क़ठिनाइयों का सामना करना पड़ा। जर्मनी आरम्भ से ही इसी प्रयत्न में लगा था कि तुर्की ही हार-जीत का निपटारा करे। तुर्की के ही मिलजाने से रूसियों का मार्ग बंद हो गया और मित्र राष्ट्रों को अपनी बहुत-सी सेना काकेशस, फ़ारस, मेसोपोटामिया और मिश्र में लगा रखनी पड़ी। इससे मित्र राष्ट्र बड़े ही हैरान हुए।

यह बात सबों को ज्ञात है कि युद्ध में जर्मनी की हार हुई। इस हार से १९१८ में तुर्क-साम्राज्य के नाश की सम्भावना आ पहुँची। ऐसी परिस्थिति आ पहुँची कि उसका नक़्शे में कहीं नामोनिशान भी नहीं रह जाता परन्तु राष्ट्रीयता का भाव क्या इतना दुर्बल होता है ?

युद्ध के समय अरबों से अंग्रेजों ने बहुत फायदा उठाया। अरब लोग तुर्कों से पहले से ही चिढ़े थे। अंग्रेजों ने उन्हें और भी अधिक भड़काया और तुर्की शासन के खिलाफ़ वहां पर बग़ावत करादी। अरब के छोटे-छोटे शासकों से भी अंग्रेज अपना बहुत फायदा निकालना चाहते थे। उन लोगों को युद्ध के समय केवल तुर्की के खिलाफ़ भड़काकर ही उनका कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था। उनसे बड़ा काम वे यह निकालना चाहते थे कि उनके द्वारा भारतीय मुसलमानों की अंग्रेजी शासन में श्रद्धा का भाव बढ़ा लिया जाय। इसीलिए बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञ तुर्की के चंगुल से अरब को निकालने के परोपकारी कार्य में लग गये। प्रमुख अरब अधिकारियों को

तोहफ़ा पहुँचा कर, उन्हें सालाना बंधी हुई रक़म देकर अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। तुर्कों ने इसी विषय में कहा है 'यह अरब अधिकारियों को घूस के रूप में दिया जाता था जिसमें वे अंग्रेजों की इच्छानुसार चलें।'

युद्ध के समय मक्का के शरीफ़ हुसैन इस बग़ावत के नेता बनाये गये। उन्हें बहुत-सी आशाएँ दिलाई गईं। उनसे कहा गया कि अरब स्वतंत्र कर दिया जायगा। अरब साम्राज्य के सभी राष्ट्र स्वतंत्र होकर एक सूत्र में बंध जायंगे और उन सबों का एक गुट्ट (Confidracy) बन जायगा। इसी समय तुर्कों की ओर से थोड़ी ज्यादती की गई। तुर्कों के सीरिया स्थित सेनापति दजमलपाशा ने मित्रराष्ट्रों के साथ मित्रता करने के अपराध में अरब के थोड़े से राष्ट्रीय नेताओं को दबाया। इससे अरब लोग और भी अधिक भड़क गये। मक्का के शरीफ़ हुसैन मिश्र के अंग्रेजी हाईकमिश्नर से बातें करने लगे। इन दोनों के बीच किसी सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं हुआ। साधारण चिट्ठी-पत्री से ही सभी बातें तै हो गईं। बात-चीत लगभग एक साल तक चलती रही। अंग्रेजों ने वादा किया कि 'ग्रेट ब्रिटेन उस प्रकार की सन्धि में कभी हाथ नहीं बंटायगा जिसमें जर्मन और तुर्की लोगों के अधिकार से अरबों के स्वतंत्र होने की बात न हो। अरब साम्राज्य का विस्तार मक्का के शरीफ़ के कथनानुसार तो रहेगा ही साथ ही उसमें मर्सिना, एलेक्जैंड्रट्टा के जिले (जिनमें अधिकतर तुर्क बसते थे) और सीरियन लिट्टोरल उसमें मिला दिये जायंगे। इसके बदले अरब मेसो-पोटामिया में अंग्रेजों के हितों का ख़याल रखेंगे और उनसे राज्य-

कार्य में सलाह लेते रहेंगे।' अरबों को इस बात पर विश्वास हो गया कि अंग्रेजों की सहायता करने पर उन्हें अवश्य ही स्वतंत्रता मिल जायगी।

मक्का पर वहाबी लोगों के आक्रमण का भय था। वहाबी लोगों का जोर नज्द में बहुत अधिक था। वे लोग सदा मक्के-मदीने पर कब्जा करने की फिक्र में रहते थे। उन लोगों के नेता इब्न-सऊद थे। अंग्रेजों को भय हुआ कि कहीं युद्ध के समय मक्के-मदीने पर आक्रमण कर दिया गया तो बना-बनाया खेल बिगड़ जायगा। उन्होंने उन्हें रुपया देकर चुपचाप बैठे रहने के लिए कहा। इब्नसऊद ने रुपया ले लिया और उससे अपनी सेना संगठित की। हेजाज पर इस समय उसने आक्रमण नहीं किया।

अंग्रेज एक तरफ अरबों को उपर्युक्त प्रकार की उज्ज्वल आशाएँ दिला रहे थे और दूसरी ओर गुप्त सन्धियों द्वारा अरब को आपस में बांट लेने की बातें कर रहे थे। फ्रांस और इंग्लैंड के बीच साइस-पीकौट समझौते के अनुसार सारे अरब का बंटवारा हो गया। ये समझौते केवल हुसेन से ही नहीं बल्कि सारे संसार से गुप्त रखे गये। १९१७ में बोल्शेविक क्रान्ति के बाद वे सभी सन्धियां प्रकट कर दी गईं।

इस समय अरब में क्रान्ति करा देने के लिए मिश्र से बहुत से अंग्रेज़ अफ़सर भेजे गये थे। उन्हीं अफ़सरों में प्रसिद्ध कर्नल लारेंस भी थे। इन लोगों ने अरबों को भुलावे में डाले रखने का भरपूर प्रयत्न किया। ऐसे कार्यों में अंग्रेजी अधिकारी बड़े ही दूरदर्शी होते हैं। लोगों से सहायता लेने के विषय में किस

अंग्रेजों की कूट चालें

प्रकार धन खर्च करना चाहिए इसे वे अच्छी तरह जानते हैं। लोगों की सहायता मिलने पर अपना लाभ सिद्ध कर लेते हैं। कर्नल लारेंस ने अरबों को भड़काने में एक करोड़ पौंड खर्च किये परन्तु अरबों ने युद्ध के समय अंग्रेजों की जितनी सहायता की उसकी तुलना में ये रुपये अधिक नहीं थे। इन रुपयों को सूद-सहित वसूल कर लिया गया, ऐसा समझना चाहिए।

क्रान्ति करने के लिए हुसैन के लड़के अमीर फ़ैजल की अधीनता में एक सेना तैयार की गई। अंग्रेजों के तरफ से जेनरल ऐलन्बी ने अपनी सेना सहित उनकी सहायता की। शरीफ की चार हजार सेना ने एक पूरी तुर्की सेना को मदीना और हेजाज़ रेलवे के पास रोक रखा। यदि यह तुर्की सेना पैलेस्टाइन पहुँच जाती तो ऐलेन्बी का आगे बढ़ना कठिन हो जाता। कर्नल लारेंस ने एक करोड़ पौंड खर्च करके युद्ध का दो दिन का व्यय कम कर दिया तो उससे लाभ भी कुछ कम नहीं हुआ। ऐलेन्बी की जीत लारेंस की नीति के कारण हुई। अरब लोगों ने तुर्की को लड़ाई के मैदान से हटा दिया। १९१६ के अन्त तक लगभग सभी प्रांतों से तुर्की का प्रभुत्व उठा दिया गया। जितने प्रांतों से अधिकार उठता जाता था उनमें कर्नल लारेंस आदि तुर्कों के ख़िलाफ खूब भाव भर दिया करते थे। १९१७ में इन लोगों का जेरुसलम पर भी अधिकार हो गया। जो प्रांत एक समय तुर्की के अधीन थे—सीरिया, पैलेस्टाइन, हेजाज़, मेसो-पोटामिया, साइलेशिया तथा अनाटोलिया का कुछ भाग और कुस्तुन्तुनियां तक इस समय अंग्रेजों के अधिकार में आ गया। अंग्रेजों ने उन्हें दुश्मनों का प्रांत कहकर उन पर अधिकार

कर लिया। अरब अभी भी आशा लगाये बैठे थे।

युद्ध के समय तक फ़ारस का बंटवारा अंग्रेज और रूसियों के बीच हो चुका था, वह बिल्कुल कमज़ोर भी बनाया जा चुका था। युद्ध आरम्भ होने पर उसमें किसी तरफ भी शामिल होने की शक्ति नहीं थी। लड़ने वाले दलों में किसी के साथ भी उसकी विशेष सहानुभूति नहीं थी फिर भी वह समझता था कि यदि रूस और ग्रेटब्रिटेन के पक्ष की विजय हुई तो उसके परिणाम-स्वरूप उसका बंधन और भी दृढ़ हो जायगा। फ़ारस ने युद्ध में तटस्थ रहने की घोषणा की परन्तु तटस्थ रहने पर भी वह युद्ध की किसी प्रकार की खराबियों से बचा नहीं रहा।

फ़ारस की दुर्दशा

युद्ध आरम्भ होते ही रूस ने काकेशिया से उत्तरी फ़ारस में अपनी सेनाएँ भेज दीं जिसमें उस ओर से तुर्कों पर हमला किया जा सके और असीरियन लोगों को तुर्कों के ख़िलाफ़ भड़काया जा सके। फ़ारस ने रूस से सेना हटाने के लिए कहा जिसमें उसका देश तुर्की और रूसी लोगों के लड़ने का रण-क्षेत्र न बन जाय। सेना हटाना तो दूर रहा रूस ने वहां पर और भी अधिक सेनाएँ भेज दीं और सैनिक कार्य के लिए वहां पर अपना एक अड्डा भी बना लिया।

तुर्की और फ़ारस की सीमा पर तुर्कों को रूसी लोगों का भय पहले से ही था। वे लोग भी मध्यएशिया में रूसियों के खिलाफ़ बग़ावत फैलाने और फ़ारस और अफ़ग़ानिस्तान के रास्ते से अंग्रेजों पर चढ़ाई करने के लिए आजरबायजान में घुस आये। फ़ारस का सब से हराभरा प्रांत यही था। तुर्की

और रूसी लोगों ने उसे रणक्षेत्र बनाकर सारे प्रांत को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इसी समय जर्मन और तुर्कों ने अरबिस्तान में उपद्रव खड़ा करने के लिए अपने कुछ आदमी वहां पर भेजे। उन्हें रोकने के लिए अंग्रेज़ों ने फ़ारस की खाड़ी के बन्दरों में सेना भेज दी; इससे दक्षिणी फ़ारस भी रणक्षेत्र बन गया। ऐंग्लोपर्शियन कंपनी की तेल की खानों की रक्षा के लिए भी अंग्रेजों ने अपनी बहुत सी सेना फारस में उतार रखी थी। राजधानी में दोनों ही दलों के लोग षड्यंत्र रचा करते थे। फारस की तटस्थता अथवा वहां के निवासियों की भलाई पर कोई भी ध्यान नहीं देता था। १९१५ में तुर्कों ने पश्चिमी फ़ारस में घुसकर वहां के अनेक सरदारों को मार डाला। उन्होंने एक नगर भी जला दिया। एक जातिवालों को उनका युद्ध में तटस्थ रहना अपराध बतलाकर मार डाला। इसी साल राजधानी में रूसी सेना ने घुसकर तुर्की राजदूत को पकड़ लिया। जर्मन सलाहकारों की बात मानकर शाह ने राजधानी इस्फ़हान में ले जाने का विचार किया परन्तु इसी समय रूस और इंग्लैंड ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि सेनाएँ राजधानी पर अधिकार नहीं करेंगी, इसीलिए राजधानी बदली नहीं गई।

इसी बीच ग्रेटब्रिटेन ने सर पर्सी साइक्स की अधीनता में कुछ भारतीय सेना दक्षिणी फारस में शान्ति-स्थापन और व्यापारिक मार्ग खोल देने के लिए भेजी। वे शीराज पहुँचे और एक सेना वहाँ पहरा देने के लिए नियुक्त की। उस सेना का आतंक इतना अधिक बढ़ गया था कि लोग जहन्नुम में जाने की अपेक्षा भी अंग्रेजों से अधिक डरने लगे। १९१७ में पर्सी

साइक्स ने अपने को तेहरान की सरकार से दक्षिणी और मध्य फ़ारस की सेना का सेनापति मनवाया और ग्यारह हज़ार फ़ारसी, पांच हज़ार पहाड़ी और थोड़े से हिन्दुस्तानी और अंग्रेज सेनाओं को अपनी अधीनता में संगठित किया। अंग्रेजों का यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय विधान के खिलाफ़ था, फिर भी अपनी पुष्टि के लिए अंग्रेज कहा करते हैं कि यदि वे वैसा नहीं करते तो जर्मनी उसी प्रकार की कार्रवाई द्वारा लाभ उठा लेता। अंग्रेजों की दलील ठीक इसी प्रकार की है कि आपकी चीज़ कोई डाकू ले जायगा इसलिए हमही पहले से उस पर अधिकार क्यों न जमा लें? साम्राज्यवादियों के लिए इस प्रकार की दलीलों का आविष्कार करना कोई आश्चर्य की वात नहीं है। स्वार्थ जो न कराये वही थोड़ा है। इस समय फ़ारस की जो दुर्दशा हो रही थी उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। युद्ध में सम्मिलित नहीं रहने पर भी उसकी वहुत अधिक दुर्दशा हुई। देश पहले वहुत सम्पन्न था परन्तु युद्ध के समय लूटमार होते रहने से १९१७-१८ में वहां पर भयानक दुर्भिक्ष पड़ा। उस समय कितने मरे इसकी संख्या निश्चित नहीं है फिर भी इतना अवश्य ज्ञात है कि इससे सारे फारस के लोग पीड़ित थे और खास कर उत्तर फ़ारस की तो अवस्था वहुत ही खराव थी। उत्तरी फ़ारस में रूसी सेना ने देश में क्रान्ति होने के कारण तनख़ाह नहीं मिलने पर लूट मचाई थी। कुर्द, तुर्कमान और असीरियन लोगों ने भी लूटमार ही अपनी जीविका बना ली थी। सर्वनाश होने में जो कुछ कमी थी उसे अंग्रेज़ों ने पूरा कर दिया। १ अगस्त १९१७ को फारस के अपनी रक्षा के उपाय

करने पर मित्रराष्ट्रों की ओर से कहा गया कि 'फारस स्वीकार करले कि उस पर रूसी और अंग्रेजी सेना का आधिपत्य है। वह अपने यहां नई सेना भर्ती करे जो उत्तर में रूसी और दक्षिण में अंग्रेज अफ़सरों की अधीनता में रहे। अर्थ-विभाग का सारा अधिकार अंग्रेज और रूसी लोगों के अधिकार में रहे। यदि ये बातें फारस नहीं मानेगा तो उसके साथ भी युद्ध छेड़ दिया जायगा। १९१५ में ही अंग्रेजी रूसी सन्धि द्वारा यह भी मनवा लिया गया था कि उस समय अंग्रेज और रूस के अधिकार में जितने प्रांत हैं वे फिर फारस को लौटाये नहीं जायँगे। १९१८ में तुर्क और अंग्रेज फिर से आजरबायजान में घुसकर युद्ध-समाप्ति तक लड़ते रहे। रूस में राज्य-क्रांति हो जाने के कारण फारस की दुर्दशा कुछ कम हुई फिर भी उसकी अवस्था अत्यन्त शोचनीय हो गई थी। लड़ाई के बाद वह विजित वा विजेता कुछ भी नहीं रहा। उसके आदमियों के प्राण व्यर्थ ही नष्ट हुए। युद्ध के समय वहां वालों की अवस्था पशुओं से भी वदतर हो गई थी। उन्हें जो चाहता था पकड़ कर अपनी ओर से लड़ने के लिए वाध्य करता था। सारा देश अंग्रेजों के अधीन दिखलाई देता था और मालूम पड़ता था कि वे ही उसके भाग्य-निर्णायक होंगे।

युद्ध के समय अफ़ग़ानिस्तान की अवस्था बहुत अच्छी रही। महायुद्ध में रूस और ग्रेटब्रिटेन एक ही तरफ थे इसलिए वहाँ पर चालें नहीं चली गईं। तुर्की ने जेहाद बोल दिया था; उस समय समान धर्मावलम्बी होने के कारण अफ़ग़ानों का भी उनके साथ मिलजाना स्वाभाविक था परन्तु कई कारणों से ऐसा

नहीं हो सका। अंग्रेज वहाँ के अमीर हबीबुल्लाखाँ को पहले से ही रुपया देते आते थे इसलिए वे अंग्रेजों के ही पक्ष के थे। १९१५ के अन्त में जर्मनी ने अफ़ग़ानिस्तान को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने के लिए अपने कुछ दूत भेजे थे परन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली। १९१९ तक अंग्रेजों के लिए अफ़ग़ानिस्तान में कोई भय नहीं था। तिब्बत में भी जर्मन दूतों को सफलता नहीं मिली। तिब्बत ने अंग्रेजों की सहायता की। युद्ध के समय लड़ने के लिए उसने अपने कुछ सैनिक भेजे थे।

इस समय तरुण तुर्कों को छोड़कर एशिया के प्रत्येक राष्ट्र ने युरोपियनों पर विश्वास करके उनकी सहायता की। अब देखना है कि उन लोगों ने उसका समुचित पुरस्कार दिया अथवा धोखा किया। उन लोगों ने यदि उन्हें पुरस्कार दिया तब उनके भीतर उनके प्रति पहले से ही जो क्रान्ति के भाव आ रहे थे वे दब जायँगे। यदि उन्होंने विश्वासघात किया तो सारा एशिया एक नई लहर से लहराने लगेगा। महायुद्ध ने और कुछ किया हो वा न किया हो साम्राज्यवाद का नग्नरूप लोगों के सामने खोलकर रख दिया।

१९०५ में जापान ने युरोपीय राष्ट्रों को चुनौती दी थी, जिसका परिणाम हम लोगों ने पिछले अध्यायों में देखा है। इसबार युद्ध में सम्मिलित होकर उसने पुनः युरोपियन लोगों को चुनौती दी। पहली वार उसने रूस को एशिया से निकाल दिया था। इसवार उसने प्रयत्न किया कि जर्मनी का एशिया में कोई उपनिवेश न रह जाय। उसका अन्तिम उद्देश यही है कि एशिया से युरोपीय राष्ट्रों का प्रभुत्व उठ जाय। महायुद्ध

के समय में उसने अवसर आया हुआ समझा और एक युरोपियन राष्ट्र के चंगुल से एशिया को बचाया।

जापान ने चीन के ऊपर आक्रमण किया इसी से उसके उपर्युक्त भाव में शंका उत्पन्न होती है परन्तु शंका करने की बात नहीं। जिस समय चीन-जापान युद्ध हुआ था उस समय समझदार जापानी यह नहीं समझते थे कि उन्होंने चीन में विजय पाई है। विजय-स्मारक बनने का प्रस्ताव उपस्थित होने पर जेनरल काकमी ने बड़े ही आवेशपूर्ण शब्दों में कहा था—'स्मारक कैसा! युद्ध हम लोगों ने केवल इस उद्देश से किया है कि हम दोनों एक साथ मिलकर उन्नति करें। हम अपने उद्देश में सफल नहीं हुए। परिणाम विपरीत ही हुआ है। युरोपियन लोगों ने चीन को बांट लिया है।' जापान ने चीन के साथ इसी दृष्टि से युद्ध किया था जिसमें चीन पर रूस का विशेष प्रभाव न रह जाय। जापान के ही बलिदान के प्रभाव से एशिया में जागृति हुई। *

---

* लेखक के विचार से हम सहमत नहीं हैं। जापान हो या अन्य यूरोपीय राष्ट्र, सभी साम्राज्यवाद के नशे में प्रमत्त थे। उन्होंने जो कुछ किया, अपने स्वार्थ के लिए किया। हाल की घटनाएं इसे स्पष्ट कर देती हैं।

—सम्पादक।

शांति-स्थापन वा कलह-आवाहन ?

बोल्शेवी लोगों द्वारा अनेक गुप्त सन्धियों के प्रकाशित कर दिये जाने से एशियायी राष्ट्रों का मित्रराष्ट्रों पर से बहुत-कुछ विश्वास उठ गया था फिर भी १९१९ की पेरिस की शांति महासभा से उन लोगों को कुछ उम्मीद थी। राष्ट्रपति विल्सन पर उन लोगों का बहुत अधिक विश्वास था।

राष्ट्रपति विल्सन में चीनियों का विश्वास

जिस समय शांति महासभा आरम्भ होने को थी उस समय चीनवाले राष्ट्रपति विल्सन को साक्षात् धर्म का अवतार समझते थे। उनके विषय में यह शंका ही नहीं उठती थी कि वे भी साम्राज्यलोलुप युरोपीय शक्तियों के फेर में पड़ कर अपने सिद्धान्तों से मुँह मोड़ लेंगे। चीनी समझते थे कि शांति महासभा में वे जापान, ग्रेटब्रिटेन और दूसरी युरोपीय शक्तियों के अत्याचारों का विवरण सुनायंगे; उस समय उनकी बातें लोगों को माननी पड़ेंगी और उनके साथ जितने अन्याय हुए हैं, सबों का समुचित उपाय कर दिया जायगा। उनका विश्वास था कि सन्धि राष्ट्रपति विल्सन के चौदह सिद्धान्तों के अनुसार ही होगी। मित्र-राष्ट्रों ने संसार में न्याय और शांति-स्थापन के लिए जिन उच्च सिद्धान्तों की घोषणा की थी उन्हीं पर विश्वास करके चीनी शांति महासभा में आये थे। चीनी प्रतिनिधियों

ने अपनी मांगों में शांटुंग वापिस दिलाये जाने की मांग पेश की थी। जर्मनी का नुकसान जिन मांगों से होता था उससे युरोपियन राजनीतिज्ञ प्रसन्न होते थे; वे लोग चाहते थे कि चीन में जर्मनी ने जितने अधिकार प्राप्त किये हैं वे नष्ट हो जायं; उसका चीन में व्यापार-सम्बन्धी वा अन्य कोई विशिष्ट अधिकार न रह जाय; पेकिंग की वेधशाला के यंत्र वह वापिस कर दे; वाक्सर युद्ध के हर्जाने का उसे कुछ भी भाग नहीं दिया जाय। युरोपियन राजनीतिज्ञ अपने शत्रुदल के प्रत्येक व्यक्ति को चीन से बाहर करना चाहते थे परन्तु मित्रराष्ट्र खुद उसी प्रकार की जबर्दस्ती से अपनाये हुए अधिकारों को छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। उन लोगों की क्याऊचाऊ और शांटुंग के सम्बन्ध में जो गुप्तसन्धि हुई थी उसे भी मनवाने के लिए कमर कसे हुए थे। अमेरिका नहीं चाहता था कि प्रशांत महासागर में जापान की शक्ति बढ़े; उसने गुप्त सन्धि का विरोध किया परन्तु युरोपियनों के सामने उसकी कुछ भी नहीं चली। युरोपियन राजनीतिज्ञों ने साफ शब्दों में कह दिया कि 'हमारे ये समझौते पहले हुए हैं, उनका विचार हो लेगा तब आपकी बातें सुनी जायँगी। आपको इसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।' राष्ट्रपति विलसन भी युरोपियनों के चक्कर में पड़ गये। १८९८की सन्धि के अनुसार जर्मनी को चीन में जो अधिकार प्राप्त थे, वे और उसके शांटुंग के अधिकार, जापान को दे दिये गये। पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में शांति महासभा के ऐसे कार्य से चीन को घोर निराशा हुई। वह समझने लगा कि अभीतक वह भ्रम में पड़ा था। १८९८ में जर्मनी ने जिस घोर अन्याय

और बलप्रयोग का उदाहरण दिखलाया था उसी अन्याय और अत्याचार की पुष्टि इस समय जर्मनी के हाथ के अधिकार छीन-कर एवं जापान को देकर शांति महासभा ने की है। चीन ने युरोपीय शक्तियों के विश्वासघात का प्रत्यक्ष अनुभव किया। युरोपीय शक्तियों के इस कार्य से साफ पता चलता है कि उन लोगों ने पहले ही तै कर लिया था कि जब चीन उन लोगों का सहायक और साथी बन जायगा उस समय वे लोग अमुक प्रकार से उसके भाग्य का निपटारा कर देंगे। जिन देशों का भाग्य-निपटारा वे आपस में किया करते थे, उन देशों से पूछने अथवा उन्हें सूचना देने की भी वे आवश्यकता नहीं समझते थे।

ठोकर खाकर जगे !

जब शांति महासभा में जापान ने शांटुंग पर अधिकार पाने में सफलता प्राप्त कर ली और विजयी शक्तियों ने चीन के अधि-कारों पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया तब उत्तर और दक्षिण के चीनी नेता मिलकर एक हो गये। पेकिंग और कैंटन दोनों ने ही मिलकर निश्चित किया कि वे वार्साई की घृणित सन्धि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जिन पाश्चात्य राष्ट्रों ने अन्याय द्वारा वहां पर विभिन्न प्रकार के अधिकार प्राप्त किये थे और उसका सर्वनाश किया था उन्हें निकाल भगाने का जो उद्योग इस समय तक दबा हुआ था वह इस समय से बढ़ने लगा।

श्याम की दलील

श्याम ने बड़ी-बड़ी आशाएँ की थीं। उसने शांति महासभा में कहा —"हमलोग मनुष्य मात्र की भलाई और छोटे राष्ट्रों के अधिकार के लिए लड़ते रहे। अब हम लोगों को पुराने अन्यायों को दूर कर देना चाहिए। उन सभी पुरानी सन्धियों को रद्द कर देना चाहिए जिससे श्याम

की बहुत हानि हो रही है। उन सन्धियों को श्याम में काम में लाने का समय बीत गया। उन्हें रद्द कर देने पर हमारे देश में बहुत से सुधार किये जा सकेंगे। हमारे देश में किसी प्रकार के न्याय का कार्य विदेशियों के हाथ में नहीं रहना चाहिए क्योंकि उससे हमारा व्यय बढ़ता है, देश में वैमनस्य का भाव फैलता है, प्रजावर्ग के प्रति अन्याय होता है और सब से बड़ी बात है कि उसमें हमारा अपमान है। देश में सुधार करने के लिए हमें पूर्ण आर्थिक स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। आज हमें उस प्रकार की स्वतंत्रता नहीं है इसीसे हमारे अधिकार परिमित हैं; हमारी आय काफी नहीं है जिससे बाध्य होकर चंडूखानों और जूएखानों से आय करनी पड़ती है और बहुत-सी असुविधाएँ झेलनी पड़ती हैं।"

श्याम का कहना युक्तिपूर्ण और और न्याय-संगत था परन्तु इससे मित्रराष्ट्रों के अधिकार में बट्टा लगता था। वे अपने हाथ से शिकार जाने देना नहीं चाहते थे इसीलिए वे अपना अधिकार वापस करने को तैयार नहीं थे। वासोई की सन्धि के अनुसार केवल यही निश्चय हुआ कि श्याम में जर्मनी का किसी प्रकार का अधिकार नहीं रह जायगा। श्याम चुप नहीं बैठा रहा। उसे जापान ने शिक्षा दी थी। उसने इस समय तक अपनी बहुत अधिक उन्नति कर ली थी। इस कारण पुरानी सन्धियों को काम में लाने की कोई युक्ति नहीं रह जाती थी। अन्त में युरोपियनों को श्याम का कथन मानना ही पड़ा।

भारतवर्ष पूर्णरूप से पराधीन देश था। यहां के कर्ता-धर्ता, भाग्य-विधाता सब अंग्रेज ही थे इसीलिए शांति महासभा में यहाँ के प्रतिनिधि मांटेगू महाशय हुए। उनकी हां-में-हां मिलाने वाले दो

भारतवासी—लार्ड सिनहा और महाराजा वीकानेर भी उनके साथ महासभा में भारतीय प्रतिनिधि हो कर गये। भारतीय प्रतिनिधि अपने स्थान के लिए चाहे जितना ही अभिमान करें, यह प्रत्येक भारतवासी जनता है कि राष्ट्रसंघ में भारतीयों का कोई स्थान नहीं है। वे किसी भी हालत में युरोपियनों की बराबरी के नहीं समझे जाते। यह भारतवर्ष के राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्तों के मान लेने और अंग्रेजों के लिए अपना खून बहाने के बाद की अवस्था है।

भारतवासियों में आस्किथ महाशय के वचनों पर अविश्वास और अंग्रेजी राज्य से घोर असंतोष होने के चिन्ह दिखलाई देने लगे। भारतवर्ष ने स्वराज्य प्राप्त करने के लिए अंग्रेजों की सहायता की थी परन्तु उसे रौलट ऐक्ट, जलियांवाला बाग़ और धोखे में डाले रहने तथा आपस में फूट पैदा करने के लिए मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधार दिया गया। यही उसकी सहायता का उचित पुरस्कार था? रौलट ऐक्ट द्वारा क्रान्ति का सन्देह होने पर भी कड़ी से कड़ी सजाएँ दी जा सकती थीं। अधिकारियों के लिए भारतीय जागृति को दबाने का यह बहुत बड़ा अस्त्र था।

भारत की सेवा का पुरस्कार

मांटेगू-चेम्सफोर्ड सुधार के अनुसार यहाँ पर ६० सदस्यों की राजपरिषद् (कौंसिल ऑव् स्टेट) और १४४ सदस्यों की व्यवस्थापिका सभा की स्थापना हुई। दोनों सभाओं में प्रत्येक में अधिकारियों की संख्या चुने हुए लोगों से कम रखी गई। इसी समय से द्वैध शासन प्रणाली की प्रथा प्रांतीय सरकारों में चलाई गई। शिक्षा, कृषि, सार्वजनिक स्वास्थ्य आदि का भार कौंसिल के निर्वाचित सदस्यों में से ही किन्हीं-किन्हीं को दिया

जाने लगा। न्याय, कानून, पुलिस आदि के मुहक़मे सरकार ने अपने ही हाथों में रखे।

इस प्रकार का सुधार देकर सरकार फूट डालकर अपना काम निकालना चाहती थी। यदि यह बात नहीं होती तो उसे

भारत का असन्तोष

ऐसी सभाओं की स्थापना करने की क्या आवश्यकता थी जो आपस में एकमत कभी हो ही न सकें (A house divided against itself.) ये सभाएँ इस समय भी विद्यार्थियों की वादविवाद सभाओं के ही जैसी रहीं। उन्हें कुछ विशेष अधिकार नहीं मिले।

भला इस प्रकार के सुधार से भारतवासी सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे? उनका असंतोष इससे बहुत अधिक बढ़ गया। भारतवासी और इंग्लैंड के अनुदार दलवाले दोनों ही इस सुधार से असन्तुष्ट थे। भारतवासी इसे काफी नहीं समझते थे इसलिए असुन्तुष्ट थे और अनुदार दलवाले इसे बहुत अधिक समझकर असन्तुष्ट थे। भारतवासियों ने १९१८ की कांग्रेस में प्रस्ताव पास किया कि "भारतवासी उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के सर्वथा योग्य हैं; भारतीय सुधार—सम्बन्धी रिपोर्ट में इसके विपरीत जो भाव प्रकट किया गया है उसका यह कांग्रेस खंडन करती है। जबतक भारतवर्ष को साम्राज्यान्तर्गत पूर्णस्वराज्य नहीं मिल जायगा और साम्राज्य के अन्तर्गत दूसरी स्वराज्योपयोगी जातियों के समान अधिकार प्राप्त न हो जायँगे तबतक यह कांग्रेस कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकती।" भारतवासी अपने देश में वे ही अधिकार प्राप्त करना चाहते थे जो अंग्रेजों को अपने देश में प्राप्त थे परन्तु उन अधिकारों के दिये जाने की

बात तो दूर रही, उनके ऊपर यह दोषारोपण करके उनका दमन किया जाने लगा कि यहाँ के राष्ट्रीय दलवालों को जर्मनी तथा बोल्शेविकों से आर्थिक सहायता मिलती है और वे लोग उन लोगों के बहकावे में आ गये हैं। इसी समय रौलट ऐक्ट भी पास हुआ। देशवासियों ने उसका विरोध किया तो जलियांवाला बाग़ का हत्याकाण्ड हुआ। इसमें जेनरल डायर ने पाँच सौ निहत्थे आदमियों को मारकर और १५०० को घायल कर अपनी असीम बहादुरी और देश-भक्ति का परिचय दिया!

जलियांवाला बाग़ हत्याकाण्ड

शहीदों का खून राष्ट्रीयता को प्रोत्साहित करने वाला होता है। इस समय हिन्दू-मुसलमान दोनों के ही खून एक साथ बहे थे इसलिए दोनों ही मिल गये। इसके बाद से देश में जैसी लहर उठी वैसी लहर का सामना अंग्रेजों को और कभी करना नहीं पड़ा था। भारतवासियों की उच्चाकांक्षाओं की उपेक्षा जर्मनी तथा बोल्शेवी लोगों की चाल कहकर की गई थी इसलिए यहाँ पर ऐसी भीषण जागृति हुई जिसने सारे ब्रृटिश साम्राज्य को कंपा दिया।

फारस भी समझता था कि शांति स्थापित होते ही उसकी सभी आशाएँ पूरी हो जायँगी। मित्रराष्ट्रों ने बतलाया कि वह तो युद्ध में सम्मिलित ही नहीं हुआ था। युद्ध के सभी दुःखद परिणाम उसे झेलने पड़े थे और वह स्वयं युद्ध में सम्मिलित भी होना चाहता था परन्तु अंग्रेज और रूसी लोगों ने अपनी कुत्सित नीतियों के खुल जाने के भय से उसे शामिल नहीं होने दिया था। फारस के

फारस की निराशा

प्रतिनिधि बिना बुलाये ही शांति महासभा में अपनी दुःखद गाथा सुनाने गये थे। उनके प्रतिनिधियों को महासभा में बैठने की आज्ञा नहीं मिली; फिर भी विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों के सामने उन्होंने अपनी मांगें पेश कीं। वे किसी नये प्रांत पर अधिकार नहीं करना चाहते थे। युद्ध के समय उनके हाथ से जितने प्रांत निकल गये थे। वे उन्हीं को फिर से अपने हाथ में लाना चाहते थे। फारस के साथ जितनी अन्यायपूर्ण सन्धियां हुई थीं, उनमें वह इस प्रकार से परिवर्तन कराना चाहता था जिससे उसकी आर्थिक व राजनैतिक स्वतंत्रता में बाधा न पहुँच सके। इन्हीं सब माँगों को दस भागों में विभक्त करके उसके प्रतिनिधियों ने दस मांगें पेश की थीं। उनके पूर्ण होने से साम्राज्यवादियों की कुछ भी नहीं चलती इसलिए उनकी बातों का महासभा में विचार ही नहीं किया गया। सभी शक्तिशाली राष्ट्रों ने अपना-अपना मतलब साध लिया और दुर्बल राष्ट्रों की पुकार उन्हीं लोगों के विजयोल्लास में लीन हो गई।

यदि शांति महासभा में अंग्रेज कुछ दबाव डालते तो इस प्रकार का समझौता हो जा सकता था जिससे राष्ट्रसंघ की ओर से फारस का संरक्षण उनकी हाथों में दे दिया जाता परन्तु लार्ड कर्जन के साम्राज्यवादी आदर्श इतने छोटे नहीं थे। उन्होंने युद्ध के समय से ही एक प्रकार से उसका संरक्षण अपनी हाथों में ले लिया था। फ़ारस के मामलों से भली-भांति परिचित एक अंग्रेज अफसर ने ठीक ही कहा है—"महासमर के समय और खास कर रूस के समर से प्रस्थान करने पर फारस अंग्रेजों के केवल संरक्षण में ही नहीं था परन्तु प्रत्येक

महीने में उनसे ही पैसे लेकर अपना खर्च चलाता था। अंग्रेजों की ओर से व्यक्तियों को पैसे दिये जाने के सिवा राज्य को प्रत्येक महीने में २२५००० पौंड दिया जाता था।"

लड़ाई के बाद भी इस प्रकार रुपया दिया जाता रहा है। इस समय अंग्रेज़ क्या इतने उदार हो गये थे कि एक दूसरे राष्ट्र के खर्च के लिए अपना निजी रुपया खर्च कर रहे थे ? इस रुपये के खर्च करने का एक मतलब था। इस समय फ़ारस अस्तव्यस्त अवस्था में पड़ा था। रूस अपने घरेलू झगड़ों में फँसा था इसलिए वह भी कुछ नहीं कर सकता था। अंग्रेजों के लिए मैदान साफ़ था। १९१९ में इन्हीं घूस के रुपयों के बल पर अंग्रेज़-फारसी सन्धि पर हस्ताक्षर कराया गया। इस सन्धि के द्वारा अंग्रेज फारस को अपने अधिकार में रखने का क़ानूनी अधिकार प्राप्त कर लेना चाहते थे। इस सन्धि के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को भली-भांति समझने वाले लोगों का कथन है—'उस सन्धि की भूमिका में फारस की स्वतंत्रता मानने की बात बिल्कुल बेकार थी। उसका कोई अर्थ नहीं था।' इस सन्धि के द्वारा फारस पूर्ण रूप से अंग्रेज़ों के क़ब्ज़े में ही आजाता और साम्राज्यवादियों की पूर्ण विजय हो जाती। ९अगस्त १९१९ को फारस के मंत्रिमण्डल ने उस सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिया। इसके अनुसार फारस के अर्थ-विभाग, सैन्य-विभाग और परराष्ट्र विभाग का कुल अधिकार अंग्रेजों के हाथ में आ जाता। अंग्रेज़ी सलाहकार द्वारा ही ये विभाग संचालित किये जाते। फारस की कर-प्रणाली का संचालन करने के लिए

घूस और सन्धि

अंग्रेज ही रखे जाते। फारस की रेलों में अंग्रेजों की ही पूंजी लगाई जाती और उसे वीस लाख पौंड ऋण स्वीकार करना पड़ता।

लार्ड कर्जन और सर पर्सी काक्स इस लाभ को इतना महत्व देते थे कि उन्होंने सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए पचहत्तर हज़ार तोमन (फारसी सिक्का) फारस के तीन राजनीतिज्ञ वासुकदौला (तत्कालीन प्रधान मंत्री) प्रिंस फीरोज़ (अर्थ सचिव) और सरमुदौला (जिसने फारस की ओर से सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किया) को घूस के रूप में दिये। मजलिस के बहुत से सदस्यों को अंग्रेज-फारसी सन्धि मनवाने के लिए रुपये दिये गये। अंग्रेजों के परराष्ट्र-सचिव वालफोर महाशय ने लिखा है कि "अंग्रेजी सरकार ने १३१००० पौंड फ़ारस के तीन मंत्रियों को (जो सन्धि के पक्ष में थे) प्रत्यक्ष रूप से दिये।" इसके खर्च का कोई हिसाब नहीं दिया गया क्योंकि वह रुपया मजलिस से सन्धिपत्र के मनवाने के लिए ही खर्च किया गया था।

क्या फारस इस प्रकार से अंग्रेजों के हाथ बिक जायगा? अंग्रेजों ने यह कार्य शांति-प्रस्थापन का नहीं किया। इसने फारस के राष्ट्रीय नेताओं के भीतर आग पैदा कर दी। वे लोग अपने देश के उद्धार के लिए एक महान् क्रान्ति की योजना करने लगे।

तुर्क लोगों को शांति महासभा से कुछ लाभ होने की आशा पहले से ही नहीं थी। मडरौस के युद्धावसान के समय से ही वे अपने पतन का चित्र देखने लगे थे। मित्र राष्ट्रों ने तुर्की को बांट लेने का विचार पहले से ही कर लिया था। जिस समय घमासान युद्ध चल रहा था।

तुर्की के हाल-चाल

उसी समय सब काम ठीक कर लिया गया था । गुप्त सन्धियों के द्वारा तै हो गया था कि रूस को कुस्तुनतुनिया मिल जायगा और उत्तर-पूर्वी तुर्की का साठ हज़ार वर्गमील का प्रदेश उसके साम्राज्य में मिला दिया जायगा । तुर्की के दक्षिण-पश्चिम का भाग फ्रांस को मिलनेवाला था;इसी में सीरिया भी आ जानेवाला था और उसका अधिकार क्षेत्र भी निश्चित हो जाने वाला था । तुर्क साम्राज्य के दक्षिणी भाग में अंग्रेजों का प्रभुत्व होने वाला था । मेसोपोटामिया के साथ ही साथ पैलेस्टाइन के भीतर के अक्का और हइफ़ा भी इनके ही हाथ में आने वाले थे। पैलेस्टाइन का शासन अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को सौंपा जाने वाला था । इटली को अनाटोलिया और स्मर्ना का उत्तरी भाग मिलने वाला था । तुर्कों के साथ १० अगस्त १९२० को सैवरे की सन्धि इन्हीं गुप्त सन्धियों के आधार पर हुई, जिसके अनुसार उनकी प्राचीन राजधानी ऐड्रियानो पोल उनके अधिकार से निकल जाती थी । युरोप और पूर्वी थ्रेस में भी उनका कोई अधिकार नहीं रह जाता था । तुर्की की सीमा अनाटोलिया, कुस्तुन्तुनिया और उसके आस-पास ही कुछ मीलों में परिमित हो जाती थी । रूस ने क्रान्ति होने के बाद अपना भाग छोड़ दिया था; इस कारण परिस्थिति वैसी विकट नहीं हुई । इस सन्धि द्वारा तुर्कों की ऐसी अवस्था हो जाती थी कि वे स्वतंत्र कहलाने योग्य नहीं रह जाते थे । अंग्रेज और फ्रांसीसियों को तुर्की की लूट में बहुत बड़ा भाग मिल रहा था । इटली और यूनान भी उनके लाभ में कुछ दूर तक साथी हो जाते थे । यदि युनानियों ने स्मर्ना से बढ़कर ब्रूसा पर अधिकार नहीं कर लिया

होता और कुस्तुन्तुनिया तथा अंगोरा का रास्ता बन्द नहीं कर दिया होता तो इस सन्धिपत्र पर तुर्क हस्ताक्षर न करते। सन्धि-पत्र पर उन्होंने हस्ताक्षर कर दिया परन्तु इसी समय उन्होंने एक वार और छुटकारा पाने का प्रयत्न किया। मरता क्या न करता ! इस समय अपनी रक्षा के सिवा उन्हें और कुछ भी नहीं सूझ रहा था। शान्ति-स्थापन की चेष्टा ने ही उन्हें क्रांति के लिए मजबूर किया।

अरवों की निराशा

अरव के लोगों को शांति महासभा से वहुत आशा थी। वे समझते थे कि एशिया में एक नये युग का आरम्भ होगा; वे स्वतंत्र कर दिये जायँगे और संसार में स्थायी शांति स्थापित होगी। इन लोगों को जितनी अधिक आशा थी निराशा भी उतनी ही अधिक हुई। राष्ट्रपति विल्सन के सिद्धान्त इनके मामले में जितने बुरे रूप में सामने आये उतने और किसी के मामले में नहीं आये थे। शान्ति के नाम से कलह का आवाहन जितने स्पष्ट शब्दों में यहाँ किया गया उतना और कहीं भी नहीं किया गया था।

संरक्षण नीति की छुरी

साम्राज्यवादियों की गुप्त सन्धियों और उदार दल वालों की उसकी विरोधी नीति के वीच लड़ाई चल रही थी। उदार दल वाले साम्राज्यवादियों के सामने नहीं टिक सके। साम्राज्यवादियों की ही अन्त में विजय हुई। इन दो दलों में झगड़ा होने के वाद जो सन्धि हुई उसमें संरक्षण की नीति को प्रधानता दी गई! संरक्षण का तरीक़ा उदार मतवालों को ठगने के सिवा और कुछ भी नहीं था। संरक्षण के सिद्धान्त के प्रवर्तक दक्षिण अफ्रिका के जेन-

रल स्मट्स थे। १९१८ में इन्होंने इस विषय पर पर्चे निकाले थे। राष्ट्रपति विल्सन गुप्त सन्धियों के अनुसार कमज़ोर राष्ट्रों को बाँट लेने का विरोध कर रहे थे, इसीलिए इस धोखा देने वाली नीति की सृष्टि की गई थी। साम्राज्यवादियों ने अपनी इच्छानुसार उसे बनाया था और राष्ट्रसंघ से उसे मनवा लिया था। संरक्षण के सिद्धान्त के अनुसार निश्चित हुआ था कि जो उतने शक्तिशाली वा आगे बढ़े हुए नहीं हैं कि अपने पैरों पर खड़े हो सकें उनकी सहायता करना सभ्य और उन्नत राष्ट्रों का कर्तव्य है। वैसे छोटे राष्ट्र सभ्य और उन्नत बड़े राष्ट्रों के अधीन कर दिये जायँ। वे बड़े राष्ट्र इस प्रकार के होने चाहिएँ जो अपने साधनों, अनुभवों और भौगोलिक परिस्थिति की अनुकूलता के कारण उनकी सब प्रकार से सहायता कर सकें। इसी प्रकार के बड़े-बड़े राष्ट्रों के हाथ में राष्ट्र-संघ छोटे-छोटे राष्ट्रों को सौंप देगा। इस विषय में इस बात का पूरा ख़याल रखा जायगा कि छोटे-छोटे राष्ट्र लूटे न जा सकें और विदेशियों की जितनी पूँजी उन देशों में लगी है उसे भी धक्का नहीं पहुँचे। जिस देश में संभव हो उस देश के लोगों से राय भी लेली जाय कि वे किस बड़े देश के संरक्षण में रहना चाहते हैं। संरक्षक प्रत्येक वर्ष अपने अधिकार में दिये गये देश के विषय में एक रिपोर्ट निकालेंगे। उस रिपोर्ट पर राष्ट्र-संघ वा उसकी कौंसिल विचार किया करेगी।

बँटवारा

इसचाल को पूर्णरूप से साम्राज्यवादी मत्स्यन्याय कह सकते हैं। इस प्रकार का मसविदा तैयार करने में उन्होंने अपने लाभ का विचार पहले

ही कर लियाथा। तुर्की के अधिकार से निकाले गये प्रदेश 'ए' वर्ग के माने गये। इस वर्ग में रखे जाने योग्य सीरिया, पैलेस्टाइन और मेसोपोटामिया समझे गये। पहले तुर्क साम्राज्य के छः हिस्सेदार थे। इस समय जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के निकल जाने पर ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस और इटली ही बच गये थे। इन तीनों में भी अपने-अपने स्वार्थ के लिए बहुत झगड़ा चला करता था। इसी झगड़े से बचने के लिए अमेरिका ने किसी देश का संरक्षक होना स्वीकार नहीं किया।

गुप्त सन्धियों-द्वारा इंग्लैंड और फ्रांस में देशों का जिस प्रकार बंटवारा हुआ था, संरक्षण की नीति के अनुसार भी उसी प्रकार का बंटवारा किया गया। अमेरिका के बाधा डालने पर युरोपियन राजनीतिज्ञ कह बैठते थे—"इन बातों का मुझसे सम्बन्ध है, इसे हम लोग समझते हैं, आप चुपचाप देखते रहें।" सीरिया फ्रांस के और मेसोपोटामिया तथा पैलेस्टाइन अंग्रेजों के संरक्षण में रखे गये थे। पेट्रोलियम के विषय में भी दोनों शक्तियों में तै हो गया कि फ्रांस को मेसोपोटामिया का पच्चीस प्रतिशत मिला करेगा और इसके बदले में वह उत्तरी मेसोपोटामिया से अपने सभी अधिकार हटा लेगा। अंग्रेजों के मेसोपोटामिया पर अधिकार हो जाने से अमेरिकन लोगों को तेल के विषय में असुविधा होती थी। उन्होंने लिखा-पढ़ी करके उसमें से अपना भाग लिया और राष्ट्र-संघ के सदस्यों की बराबरी के अधिकार संरक्षित देशों पर प्राप्त कर लिये।

जो देश संरक्षण में रखे गये उनकी राय मानना उचित नहीं समझा गया। एक बार कुछ अमेरिकनों ने उन देशों में जांच

की तो पता चला कि सीरिया के लोग फ्रांस से और पैलेस्टाइन तथा मेसोपोटामिया के लोग अंग्रेजों से बिल्कुल ही असन्तुष्ट हैं। वे दूसरे राष्ट्रों के संरक्षण में रहना पसंद करेंगे परन्तु इन दोनों राष्ट्रों के संरक्षण में रहना कदापि नहीं चाहेंगे। फिर भी मेसोपोटामिया और पैलेस्टाइन पर भारत के भागों की रक्षा करने के लिए अंग्रेजों का अधिकार रखना ही उचित समझा गया। सीरिया में फ्रांस को क़ानून बना देने और शासन के मामलों में पूर्ण अधिकार रखने का हक़ दिया गया। सीरिया से फ्रांस को बहुत अधिक लाभ होने की आशा थी इसीलिए उसने वहाँ पर अपना अधिकार जमाया था। पैलेस्टाइन में अंग्रेजों को शासन-विषयक सभी अधिकार प्राप्त हुए। आरमीनिया अमेरिकन लोगों के संरक्षण में दिया जा रहा था परन्तु उसने देखा कि इंग्लैंड और फ्रांस ने अच्छे-अच्छे स्थान स्वयं ले लिये हैं और जहां शीघ्र ही झगड़ा होने की सम्भावना है वैसे स्थान उसे दिये जा रहे हैं इसी विचार से उसने संरक्षण का भार अपने ऊपर नहीं लिया। आरमीनिया का प्रश्न आगे चलकर आप ही हल हो गया।

गुलामी की बेड़ी

मेसोपोटामिया, अरब, सीरिया, पैलेस्टाइन आदि का तुर्क साम्राज्य से बहुत ही कम सम्बन्ध था। ये लोग वास्तव में बहुत-कुछ स्वतंत्र थे। अंग्रेज़ उनके मुक्तिदाता नहीं हुए। उन्होंने उन्हें एक ढीले बन्धन से निकालकर गुलामी की बहुत ही कड़ी जंजीर से जकड़ दिया। इन लोगों की बची हुई स्वतंत्रता भी मित्रराष्ट्रों ने नष्ट करदी। इतना ही नहीं इन राष्ट्रों ने पैलेस्टाइन, अरब, सीरिया, कुर्दिस्तान,

आरमीनिया आदि की समस्याएँ और भी जटिल बना दीं।

पैलेस्टाइन की समस्या यहूदियों को बसाकर और भी विकट बना दी गई है। निःसन्देह यहूदी लोगों का आदि स्थान पैलेस्टाइन में था। उन्होंने उसे बहुत दिनों से छोड़ दिया था, वे सारे संसार में भटका करते थे।

यहूदियों की समस्या

रूस पौलैंड आदि स्थानों में वे बहुत सताये जाते थे फिर भी आज तक किसी ने भी इस समस्या पर विचार करने की आवश्यकता नहीं समझी थी कि पैलेस्टाइन में यहूदियों का एक स्वतंत्र राष्ट्र होना चाहिए। यदि साम्राज्यवाद का चक्र नहीं चलता, जिसमें सभ्यता परोपकार आदि सिद्धान्तों की ओट में आर्थिक लाभ संपादित किया जाता है, तो सम्भव है यह प्रश्न कभी उठता ही नहीं। गत महायुद्ध के बाद से पश्चिमी एशिया की अत्यन्त जटिल समस्याओं में यह भी एक समस्या हो गई है।

यहूदी लोगों का कोई खास स्थान नहीं था फिर भी राष्ट्रीयता के विचार रखनेवालों के भीतर जैसे भाव काम करते हैं वैसे सभी प्रकार के भाव इनके भीतर विद्यमान हैं। वे लोग अधिकतर व्यापारी वर्ग के होते हैं। वर्तमान युग व्यवसाय का है इसलिए ये लोग अधिकतर धनी ही होते हैं। आजकल जिसके पास धन अधिक होता है वही सभ्य गिना जाता है फिर भला यहूदी अपने को क्योंकर जंगली समझते? धनी होने के कारण बड़े-बड़े राज्यों में इनकी बहुत इज्जत है और बहुत से देशों के राजनैतिक मामलों का संचालन करने में भी ये भाग लिया करते हैं। १८९७ ई० के बाद से इन लोगों में 'जियोनिष्ट' आन्दोलन चला। उस समय से ये पैलेस्टाइन को अपना कहने

लगे परन्तु उस समय भी एक स्वतंत्र राज्य बसाने का मामला नहीं आया था।

महायुद्ध के समय यहूदी लोगों ने धन से अंग्रेजों की सहायता की और उन पर अपना प्रभाव डाला। अंग्रेजों ने भी उनसे अपना फ़ायदा निकलना चाहा। पैलेस्टाइन अंग्रेजों के ही संरक्षण में था। यहाँ पर अरबों की ही संख्या अधिक है। १९२२ में यहाँ की कुल आबादी ७५७००० थी जिसमें ५९१००० मुसलमान और ७३००० ईसाई थे। इन लोगों में अधिकांश संख्या अरबों की ही थी। यहूदी केवल ८४००० थे। अरबों की प्राचीन सभ्यता बहुत ही उच्च रह चुकी है। वे जङ्गली नहीं हैं। वे यहूदी लोगों पर योंही अत्याचार नहीं किया करते थे। पैलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या कम थी इसलिए ये लोग दबे रहते थे। इनसे अरबों का झगड़ा नहीं चलता था। पैलेस्टाइन में व्यापार करने की सड़कें, रेल, नहर, स्कूल, सार्वजनिक मकान आदि नहीं थे। साम्राज्यवाद के पूर्णरूप से अपना अधिकार जमाने के लिए इन चीजों का होना आवश्यक है। इन चीज़ों के बिना राज्य स्थायी भी नहीं बनाया जा सकता। अंग्रेज़ों ने महायुद्ध के समय विचार किया कि यहूदी धनी होते हैं, वे यदि पैलेस्टाइन में जाकर बसेंगे तो अंग्रेजों का कार्य मुफ़्त में ही हो जायगा। वहाँ पर सड़कें, मकान, स्कूल, रेल सभी चीजें हो जायँगी। अरब वैसे धनी नहीं इसलिए वे उन चीज़ों में उतना अधिक रुपया खर्च नहीं कर सकेंगे। यहूदियों के जाने से सारा काम बन जायगा। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी अंग्रेज़ों की धाक जम जायगी। सभी समझेंगे कि यहूदी मारे-मारे फिरते

थे, उनका कोई घर नहीं था, वैसे सताये जाते हुए लोगों का पक्ष अंग्रेज़ ले रहे हैं। दबे हुए लोगों के साथ सहानुभूति दिखलाना अवश्य ही महान् कार्य है। लड़ाई के कारण फ़सल आदि भी नष्ट हो गई थी। बहुत से लोगों ने खेती करना छोड़ दिया था। इसलिए अंग्रेज़ों को बेकार पड़ी हुई ज़मीन यहूदियों को दे डालने में सुविधा थी।

१९१७ में ग्रेटब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव बालफोर महाशय ने इस महान् उद्देश की पूर्ति के लिए कार्य आरम्भ किया।

बालफोर की घोषणा

उन्होंने एक घोषणा की, जिसमें यहूदियों के पैलेस्टाइन में बसने की बात से सहानुभूति दिखलाई और उन्हें यथा-साध्य सुविधा देने का भी वचन दिया। उनकी घोषणा के सभी शब्द सोच-विचार कर रखे गये थे। उसमें न तो दूसरों को ही आपत्ति हो सकती थी और न अंग्रेज़ ही किसी बात में बंधते थे। यहूदियों को इससे बहुत प्रोत्साहन मिलने लगा। वे सोचने लगे कि अब अंग्रेज़ सभी प्रकार से हमारी भलाई करने लगे हैं। शांति-महासभा में इसकी चर्चा छिड़ी तो इसके अनुकूल-प्रतिकूल दोनों ही भाव दीख पड़ने लगे। जिन यहूदियों की पीठ अंग्रेज़ों ने ठोकी थी वे ही अंग्रेज़ यहूदी पैलेस्टाइन में जा बसने के पक्ष में थे। फ्रांस के यहूदी इसके कट्टर विरोधी थे। वे स्वतन्त्र राज्य का प्रश्न उठाकर एक नया झगड़ा खड़ा करना नहीं चाहते थे। वे समझते थे कि यह अंग्रेज़ों की एक चाल है। अंग्रेज़ पैलेस्टाइन को अपने संरक्षण में रखना चाहते थे और इस कार्य में यहूदियों से सहायता लेना चाहते थे इसलिए उन्होंने उन्हें अपनी ओर मिला लिया था।

इनका उद्देश उन्हें मिलाकर अरब-राज्य को कमजोर करना था। हेजाज़ के शरीफ़ तुर्क-साम्राज्य के भग्नावशेष पर स्वतंत्र अरब साम्राज्य का किला बाँधना चाहते थे। इन्हीं की वृद्धि रोकने के लिए यहूदी बसाये जा रहे थे। साढ़े पाँच लाख अरबों के ऊपर लगभग एक लाख यहूदियों का प्रभुत्व स्थापित करके वे मिस्र तथा स्वेज नहर की रक्षा करना चाहते थे।

मुसलमानों के चार पवित्र क्षेत्रों में दो केवल पैलेस्टाइन में ही हैं। यदि मुसलमानों के धार्मिक क्षेत्रों पर दूसरों को अधिकार करने दिया जायगा तो वे कभी चुप-चाप नहीं बैठ सकते। १९०४ में जब यहूदी लोगों के अफ्रिका में बसने की बात चल रही थी उस समय वहाँ के थोड़े से अंग्रेजों के विरोध करने पर ही वह विचार छोड़ दिया गया था परन्तु यहां पर साढ़े पांच लाख लोगों की कोई सुनवाई नहीं हुई। थोड़े से लोगों के हित के सामने बहुत से लोगों के बलिदान का खयाल नहीं किया गया। यह भी नहीं सोचा गया गया कि अरब यहूदियों को सभी प्रकार से उन्नत देखकर उनसे चिढ़ेंगे और अपनी पुरानी दुश्मनी, जिसे वे भूले हुए हैं, फिर से याद करने लग जायँगे। आगे यही हुआ; जब से अरबों को मालूम हुआ कि वे अंग्रेजों के संरक्षण में रखे जायंगे और यहूदी भी वहाँ पर बसाये जायँगे तब से उन्होंने बग़ावत का झंडा खड़ा कर दिया।

कूट चालें

अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों और दूसरी ओर हेजाज के शरीफ़ दोनों से ही परस्पर विरोधी गुप्त सन्धियाँ कर ली थीं, इसलिए लड़ाई के समय अंग्रेजों ने जो वादे अरबों से किये थे उन्हें फ्रांस के हस्तक्षेप के कारण पूरा

नहीं कर सके। सहायक अरबों को सन्तुष्ट करना कठिन हो गया। हुसैन, फैजुल आदि को कुछ भी नहीं मिलता तो वे उनके बहुत ही अधिक विरोधी हो जाते इसलिए अंग्रेजों ने इराक का राजा फैजुल को और ट्रांसजारडोनिया का राजा उसके भाई अबदुल्ला को बनाया। इराक के रहनेवाले अपने यहां हेजाज के आदमी का राजा होना पसन्द नहीं करते थे। वहां के लोग अब्दुल तालिब को राजा बनाना चाहते थे परन्तु अंग्रेजों ने अपना हित साधने के लिए धोखा देकर फैजुल को राजा चुन दिया। वहाँ के राष्ट्रीय दल के लोग बिगड़ गये और उस समय से अंग्रेजों को बराबर झगड़ों का सामना करना पड़ता है।

सीरिया के लोग तुर्कों से छुटकारा पाकर—स्वतंत्र होकर दूसरे अरब राष्ट्रों के साथ मिलना चाहते थे। फ्रांस की अधीनता वे किसी भी हालत में स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। राष्ट्रपति विल्सन ने कुछ लोगों को वहां पर जांच करने के लिए भेजा तो पता चला कि वे लोग स्वतंत्र होना चाहते हैं और यदि किसी के संरक्षण में रहना ही है तो अमेरिका के संरक्षण में रहना चाहते हैं। अंग्रेजों ने उनकी इच्छा पूरी होने नहीं दी। अंग्रेजी सेना ने अरबी सेना की सहायता से दमिश्क में सीरिया का राजा फैजुल को बना दिया। १९१९ में फ्रांसीसी सेना ने अंग्रेजी सेना का स्थान लिया। १९२० के मार्च में अंग्रेजों के प्रयत्न से वहां के प्रसिद्ध सरदारों द्वारा फैजुल ही राजा मान लिया गया। फैजुल, अब्दुल्ला और हुसैन सब एक परिवार के ही लोग राजा हो जाते, इससे अरब एक राष्ट्र बन जाता। फ्रांसीसी इस प्रकार से अरब की शक्ति

सीरिया की व्यवस्था

बढ़ने देना नहीं चाहते थे। फ्रांसीसी सेना ने नब्बे हज़ार सैनिकों के जोर से फैजुल को फ्रांस के संरक्षण में आने के लिए कहा। फ़ैजुल मान भी गया था परन्तु उसे राजा बनाने वालों ने नहीं माना। उनसे फ्रांसीसी सेना की लड़ाई हुई। लड़ाई में फैजुल की हार हुई और वह सीरिया से निकाल दिया गया। अंग्रेजों ने वहां से निकाले जाने पर उसे इराक़ का राजा बना दिया। सीरियन लोगों के खिलाफ़ कार्य करने से फ्रांसीसियों के प्रति सीरिया में बहुत विरोध का भाव खड़ा हो गया। वहाँ के राष्ट्रीय दल के लोगों ने फ्रांसीसियों का विरोध करके उनका शासन चलाना दुष्कर कर दिया।

मित्रराष्ट्रों ने शांति महासभा में एशिया में शांति प्रस्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया बल्कि उसके प्रत्येक भाग में कलह की सुलगती हुई अग्नि को भड़का दिया। १९२८ में जर्मनी के भूतपूर्व सम्राट् क़ैसर ने एक पत्र-सम्पादक से कहा था:—

"पाश्चात्य सभ्यता क़ायम रखने के लिए दो चीजें बहुत आवश्यक थीं;—सफ़ेद चमड़े वाले राष्ट्रों का एकमत रहना और दूसरे देशों में, ख़ासकर अधीनस्थ देशों में, उनके लिए आदर का भाव होना। इन्हीं दोनों चीजों के कारण ही गोरों का एशियायी राष्ट्रों के ऊपर प्रभुत्व था। गोरों में एकता नहीं है इसे महासमर ने प्रत्यक्ष करके दिखला दिया। गोरों ने गोरों के खिलाफ़ प्रचार किया और एशियायी लोगों को उनके साथ लड़ाया। इससे एशियायी लोगों पर से गोरों की धाक जाती रही......वार्साई की शान्ति महासभा के समय अंग्रेजों के झूठ, फ़साद, जाल, फ़रेब आदि एशिया-वासियों के सामने प्रकट हो

गये इसलिए उनकी इज्जत जाती रही। युरोपियन लोगों ने इतना जाल-फरेब और झूठ-प्रपंच रचा कि झूठ का उत्पन्न करने वाला भी उससे लज्जित हुए बिना नहीं रहेगा।"

वास्तव में महायुद्ध के समय और उसके बाद युरोपियन शक्तियाँ एशियायी राष्ट्रों की दृष्टि में जितनी गिर गईं उतनी और कभी नहीं गिरी थीं। अपनी पूर्व इज्जत को प्राप्त करना उन लोगों के लिए बहुत कठिन होगया। जो लोग युद्ध में गोरों के साथ लड़ने गये थे उन लोगों ने देख लिया था कि युरोपियन वीरता में उनसे श्रेष्ठ होने का दावा नहीं कर सकते। फिर भी उन लोगों को युरोपीय सैनिकों की अपेक्षा कम तनख्वाह दी जाती है। पहली बात से उनके भीतर यह भाव दृढ़ हुआ कि युरोपियन श्रेष्ठ नहीं हैं और दूसरी से उनमें असंतोष फैल गया। उन लोगों ने अपने-अपने गाँवों में जाकर उसी प्रकार असंतोष फैलाना आरम्भ किया।

युरोपियनों के नैतिक प्रभाव का नाश

युद्धोपरान्त सारे एशिया से एक ही बात, केवल स्वभाग्य-निर्णय करने का अधिकार प्राप्तकरने की आवाज उठ रही थी। युरोप में यदि स्वभाग्यनिर्णय के अधिकार की नीति वर्ती जाती है तो वह एशिया में भी वर्ती जानी चाहिए। युरोपीय लोगों ने उनकी पुकार पर ध्यान नहीं दिया। न्याय और सचाई के नाम पर दुहाई देनेवाले बड़े से बड़े राजनीतिज्ञ भी अपने साम्राज्यांतर्गत एशियायी देशों के साथ दूसरी नीति वर्तने की सलाह देते रहे। फ्रांस के एक राजनीतिज्ञ एम. रिवेट्ट महाशय का कथन है कि 'शांति तभी स्थापित हो सकती है जब प्रत्येक

राष्ट्र को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार हो।' परन्तु उन्हीं लोगों के कथनानुसार यदि फ्रांस के साम्राज्यांतर्गत एशियायी राष्ट्रों को वह अधिकार दिया जाने लगे तो रिचर्ड महाशय ही उसका विरोध करने के लिए सबसे पहले खड़े हो जायँगे। उस समय वे कहने लगेंगे कि उनका कहने का अभिप्राय केवल युरोपीय राष्ट्रों के विषय में था। युरोपियन शक्तियाँ जबतक एशियायी राष्ट्रों को अपनी ही तरह के अधिकार नहीं प्राप्त करने लेने देतीं तबतक शांति की कल्पना को स्वप्न ही समझना चाहिए।

महासमर के बाद से एशियावासी स्वभाग्यनिर्णय का अधिकार लड़-झगड़कर प्राप्त करने की चेष्टा करने लगे। इसी समय रूस ने अपनी कायापलट की। उसने प्राच्य राष्ट्रों के भावों को और भी दृढ़ करना आरम्भ किया। पर साम्राज्य-वादियों ने अपनी नीति में कोई परिवर्तन नहीं किया।

एशिया की क्रान्ति

[द्वितीय खण्ड]

[१]

पूर्वाभिमुख रूस

१९१७ का वर्ष संसार के इतिहास में बड़ा महत्वपूर्ण है। वह केवल रूस के ही नहीं बल्कि सारे संसार के इतिहास में परिवर्तन करने वाला है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति के बाद संसार में भयानक परिवर्तन करा देने वाली रूस की ही राज्यक्रान्ति हुई। इस क्रान्ति ने एशियायी राष्ट्रों को साम्राज्यवाद के खिलाफ़ क्रान्ति करने के लिए बहुत अधिक प्रोत्साहित किया है और उन्हें सहायता भी पहुँचाई है। क्रान्ति में सफलता प्राप्त करने के बाद रूस ने देखा कि सभी पूँजीवादी देश उसके विरुद्ध हो रहे हैं, सभी ने उसके साथ अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है, उसे दबा देने के लिए जी-जान से सब उसके पीछे पड़ गये हैं, कोई भी उसके साथ व्यापार नहीं करना चाहता। रूस ने देखा कि यदि जीवित रहना है तो संसार के और देशों के साथ सम्बन्ध रखना ही पड़ेगा। पश्चिम का दरवाज़ा उसके लिए बिलकुल बन्द था इसलिए प्राच्य देशों की ओर उसने अपनी आँखें फेरीं।

१९१७ की रूसी क्रान्ति

रूस की एशियायी राष्ट्रों के साथ बहुत अधिक समानता है बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि रूस भी एक एशियायी ही राष्ट्र है। युरोप के दूसरे राष्ट्र रूस के इतने

एशियावालों के आचार-व्यवहार वा देश की परिस्थिति से नहीं मिलते इसीलिए महासमर के बहुत पहले ही एशिया में रूसी साम्राज्य की जड़ जितनी मजबूत थी उतनी युरोप के और किसी भी राष्ट्र की नहीं थी। उसने एशिया के लगभग आधे उत्तरी भाग पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था और उत्तरोत्तर दक्षिण की ओर बढ़ते जाने का प्रयत्न कर रहा था। पाश्चात्य देशों से व्यापार बन्द हो जाने पर उसने एशियायी राष्ट्रों के साथ व्यापार करना आरम्भ किया। एशियायी राष्ट्रों के रीति-रिवाजों से परिचित रहने के कारण उसे अपना विश्वास एशियायी राष्ट्रों के भीतर जमा देने में विशेष असुविधा नहीं हुई।

रूस की एशियायी संस्कृति

रूस के बोल्शेवी क्रान्तिकारी समाज के वर्तमान संगठन को पलट देना चाहते हैं। युरोप के लोग उन्हें कमज़ोर समझते हैं फिर भी उनमें अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस, चीन भारतवर्ष तथा अन्य एशियायी राष्ट्रों में साम्राज्यवादियों के ख़िलाफ़ धावा बोल देने की शक्ति है। एशिया के प्रत्येक देश में उनके प्रचार का कार्य जारी है। युरोप के लोगों का, ख़ासकर साम्राज्यवादी विचार वालों का, ख़याल है कि साम्यवादी विचार वाले समाज के बड़े ही ख़तरनाक शत्रु हैं परन्तु रूसी अपने को संसार में शांति स्थापित करने वाला और मनुष्य-समाज का सबसे बड़ा मित्र समझते हैं। वे कहते हैं कि पूँजीवाद के जगत् में अविश्वास, झगड़ा, असमानता, दासता, क्रूरता और लड़ाई के भावों का निवास रहता है, दूसरी ओर साम्यवाद के जगत् में परस्पर

समाज-संस्कार का लक्ष्य

विश्वास, मैत्री, शांति, स्वाधीनता, समानता तथा भाईचारे का भाव वास करता है। वे मनुष्यमात्र का सबसे बड़ा शत्रु पूँजीवाद को मानते हैं। संसार के सभी राष्ट्रों की वास्तविक सरकार बड़े-बड़े बैंकरों और पूंजीपतियों के हाथ में है। वे ही लोग अपने लाभ के लिए कमज़ोर लोगों को सताते हैं और उनके खून से अपना शरीर मोटा बनाते हैं। पूंजीवाद की सबसे बड़ी खराबी यही है कि उत्पत्ति उपयोग वा उपभोग करने के लिए नहीं बल्कि लाभ उठाने के लिए की जाती है। वर्तमान व्यवसायी किसी वस्तु की उत्पत्ति स्वयं उपभोग करने के लिए नहीं परन्तु बेचने के लिए करते हैं। बहुत से कारखाने ऐसे हैं जहाँ वैसी चीजें बनती हैं जिनका उपयोग बनाने वालों को मालूम भी नहीं रहता। सभी चीजें बिकने के लिए बनती हैं इसलिए उनमें प्रतिद्वंद्विता चलती है। प्रतिद्वंद्विता आने से देश की भीतरी तथा अन्तर्राष्ट्रीय बुराइयाँ आ उपस्थित होती हैं। साम्यवाद के जगत् में उत्पत्ति का संचालन वे ही लोग करेंगे जिन लोगों को अपने उपभोग की आवश्यकता रहेगी। खरीद-बिक्री का बखेड़ा नहीं रहता इसलिए प्रतिद्वंद्विता भी नहीं रह जाती। ऐसी अवस्था में संसार में स्थायी शान्ति स्थापित रहने की संभावना है। ऐसी ही स्थायी शान्ति स्थापित करने के लिए रूसी लोगों ने साम्राज्यवादियों से लड़ाई छेड़ दी है। रूसी सारे संसार में समानता चाहते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी के पास तो इतना अधिक धन हो कि वह अपनी सीढ़ियों में भी सोने लगवाले फिर भी उसे अपने बचे हुए धन को किस काम में लगाया जाय यह मालूम न हो और दूसरी ओर किसी की औसत् आमदनी

दो रुपये महीने से कौड़ी अधिक न हो । इसीलिए वे एशियायी राष्ट्रों में बोल्शेवी भाव फैलाना चाहते हैं । धनी वर्ग का नाश कर देना ही रूसी लोगों का अन्तिम उद्देश है । एशिया का वायुमंडल इस प्रकार का नहीं था कि वह बोल्शेवी लोगों के भावों को अपना सके ।

आत्म-निर्णय की आवाज

युद्ध के बाद सारे एशिया में 'आत्म-निर्णय' की आवाज़ गूँज रही थी । राष्ट्रपति विल्सन के इस एक शब्द ने ही लोगों की आशाएँ बहुत अधिक बढ़ा दी थीं । फ्रांस की राज्यक्रान्ति के समय सारा संसार स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व के भाव से भरा था । इस समय सारे संसार में 'आत्म-निर्णय' की पुकार मच रही थी । रूस ने देखा कि साम्यवादी भावों का प्रचार 'साम्यवाद' के नाम से एशिया में नहीं होगा । उसे भी वायु-मंडल के ही अनुसार 'आत्म-निर्णय' के सिद्धान्त पर जोर देना चाहिए । उसने कहा हम सोवियट राज्य का प्रचार नहीं करते परन्तु 'आत्म-निर्णय' का प्रचार करते हैं ।

रूस के परराष्ट्र-सचिव शिशेरिन ने एक अवसर पर ठीक ही कहा था—"राष्ट्रपति विल्सन ने आत्म-निर्णय को जहाँ पर छोड़ दिया वहाँ से ही सोवियट सरकार ने उसे अपनाकर आगे बढ़ाया है ।" महासमर के समय छोटे-छोटे राष्ट्रों की अभिलाषाओं को खूब ऊँचा उठाकर एक-ब-एक सीढ़ी हटा ली गई थी । उनके साथ बहुत बड़ा विश्वासघात किया गया था । रूस ने एशियायी राष्ट्रों पर इस प्रकार का रंग जमाना चाहा कि जिस आत्म-निर्णय के अधिकार को पाश्चात्य साम्राज्यवादी राष्ट्र

उन्हें नहीं दिला सके वही रूस की सोवियट सरकार स्वयं दे रही है और झगड़कर उसके लेने में सहायता भी पहुँचा रही है। बोल्शेवी प्रचारकों ने असन्तुष्ट एशियायी लोगों के मन में युरोपीय साम्राज्यवादियों के प्रति घृणा और प्रतिशोध का भाव बहुत अधिक बढ़ा दिया है। उन राष्ट्रों की आकांक्षाएँ, माँगें, विदेशियों द्वारा किये गये अन्याय और अपमान ही उनके भड़काने का खास विषय होता था।

ज़ारशाही का अन्त होते ही रूस की नीति बदल गई थी। उसने ९ अप्रैल १९१७ को अपनी नई नीति निम्नलिखित रूप में घोषित की—

रूस की नई सरकार की घोषणा

"मज़दूरों और सैनिकों की नई स्थापित की गई पंचायती सरकार घोषणा करती है कि स्वतंत्र रूस का विचार दूसरे देशों पर अधिकार जमाने का नहीं है। उसका उद्देश सैन्यबल से दूसरे देशों के किसी भी प्रान्त पर क़ब्ज़ा करने का अथवा उन देशों की राष्ट्रीयता को दबाने का नहीं है। वह चाहता है कि सभी देशों को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार मिले और सी के आधार पर संसार में स्थायी शांति स्थापित हो। पंचायती सरकार दूसरे देशों को लूटकर उन्हें अपने अधिकार में लाकर अथवा अपमानित कर अपनी शक्ति दृढ़ नहीं करना चाहती।"

बोल्शेवी क्रान्ति के बाद १९१८ की जुलाई में रूसी साम्यवादी पंचायती प्रजातंत्र सरकार एक पग और आगे बढ़ी। उसने अपनी घोषणा में कहा कि सभी राष्ट्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार है। सोवियट सरकार का उद्देश उपनिवेशों को स्वतंत्र

करना और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सभी औपनिवेशिक क्रान्तियों का साथ देना है।

महायुद्ध के समय रूस के अधीनस्थ प्रदेशों में भी 'आत्म-निर्णय' के अधिकार के लिए आन्दोलन चल रहा था इसलिए रूस में क्रान्ति होते ही उनमें से कई स्वतंत्र हो गये। मध्य एशिया के तूरानी भी रूस के ही अधीन थे। जार के समय से ही उन लोगों में कई कारणों से असंतोष हो गया था और एक 'पैन-तूरानियन' आन्दोलन चल रहा था। तूरानी अपना एक राज्य क़ायम करना चाहते थे। कितने लोगों का कथन है कि तुर्की के मुस्तफ़ा कमाल पाशा भी इस तूरानी साम्राज्य के पक्ष में हो गये थे। इस साम्राज्य के अन्तर्गत तुर्की, ट्रांस-काकेशिया, ट्रांसकास्पियन, खीवा, बुख़ारा, तुर्किस्तान, फ़ारस का कुछ भाग और मेसोपोटामिया लाया जाने वाला था। इस साम्राज्य के पश्चिमी भाग के डिक्टेटर (Dictaior) कमाल पाशा उत्तरी फ़ारस, मेसोपोटामिया और काकेशस के दजमलपाशा और मध्यएशिया के भागों के अनवरपाशा होने को थे· परन्तु दजमल पाशा की हत्या हो गई और अनवरपाशा तथा कमाल-पाशा में अनबन हो गई। कमालपाशा ने बोल्शेवी लोगों से सहायता ले अनाटोलिया से युनानियों को भगा दिया। तूरानी-साम्राज्य कायम करने के प्रयत्न में अकेले अनवरपाशा कार्य करते रहे परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अन्त में वे लड़ाई में ही मार डाले गये। उनके साथ-ही-साथ तूरानी साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न भी जाता रहा। रूसी लोगों को प्रचार करने की सुविधा

रूस की एशियाथी नीति

के लिए मध्यएशिया के खीवा, बुखारा आदि स्थानों की आवश्यकता थी, इसलिए वे उन प्रदेशों को स्वतंत्र नहीं होने देना चाहते थे। उन लोगों ने तूरानी लोगों से तै कर लिया कि तूरानी-संस्कृति, सभ्यता, धर्म-प्रचार आदि मामलों में रूसी हस्तक्षेप नहीं करेंगे। आर्थिक मामलों के लिए यदि वे रूस के साथ मिल जायँ तो दोनों की ही भलाई होगी। तूरानी लोगों ने रूस की बातें मान लीं और वे रूस के पंचायती प्रजातंत्र में शामिल हो गये। रूस के हाथ से क्रान्ति के समय जितने प्रदेश निकल गये थे इस समय उनमें से अधिकांश उसके दख़ल में फिर से आ गये। उसके घरेलू झगड़े भी शांत हो गये, तब उसने एशिया में अपना कार्य आरम्भ किया। यों तो १९१७ में क्रान्ति के बाद ही उसकी एशियायी नीति निर्धारित हो गई थी परन्तु इस समय से उसका कार्य अच्छी तरह से चलने लगा।

रूस में एशियायी प्रतिनिधि

१९१९ में एशियायी राष्ट्रों के बहुत-से प्रतिनिधि रूस गये। अफ़ग़ानिस्तान का प्रतिनिधि सन्धि की शर्तों के विषय में चर्चा चलाने लगा। दजामलपाशा रूसी सरकार और तुर्की के साथ समझौते की बातें करने लगे। फारस के राष्ट्रीय नेता अपने देश से अंग्रेजों को निकाल देने के लिए रूस से सहायता माँगने लगे। भारतवर्ष भी इस समय पीछे नहीं था। यहाँ के प्रसिद्ध क्रांतिकारी बरकतुल्ला और एम. एन. राय भारत में क्रान्ति सफल बनाने के लिए रूसी सरकार की सहायता माँगने लगे। ये सभी लोग साम्यवादी विचार के हैं या नहीं, इसकी परवा नहीं की जाती थी। इन सभी एशियायी प्रतिनिधियों का रूसी सरकार

स्वागत करती थी। उस साल सोवियट सरकार के आवश्यक कार्यों में एक यह कार्य भी था कि वह अपने और एशियायी राष्ट्रों के शत्रु साम्राज्यवादी राष्ट्रों के खिलाफ़ भाव फैलावे। एशिया अंग्रेज और फ्रांसीसी साम्राज्यवादियों द्वारा ही पिसा जाता था इसलिए इन्हीं दोनों के खिलाफ़ अधिक भाव फैलने लगा। रूस का सबसे बड़ा शत्रु इंग्लैंड था। युरोप में इंग्लैंड से लड़ाई ठानकर रूस के विजयी होने की आशा नहीं थी इसलिए एशियायी राष्ट्रों को भड़काकर उसने इंग्लैंड को हराने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया। १९१९ में रूस के परराष्ट्र सचिव की हैसियत से शिशेरिन ने जो रिपोर्ट रूस की सातवीं पंचायत के अवसर पर भेजी थी उससे यह बात और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। उस रिपोर्ट में लिखा था कि "हम लोगों ने उत्तरी और दक्षिणी चीन सरकार, मंगोल सरकार, फारस की सरकार और कोरिया के क्रान्तिकारी दल के पास अपना प्रत्यक्ष उद्देश (आत्म-निर्णय के अधिकार की प्राप्ति के लिए उन्हें सहायता कर साम्राज्यवादियों से लड़ाना) लिख भेजा है। ज़ार के समय में और उसी के सिलसिले में करेंस्की की सरकार के समय में जो सन्धियाँ की गई थीं वे रद्द कर दी गईं। हम लोगों ने तुर्की और दूसरे मुसलमान राष्ट्रों को लिख दिया है कि उनके खोये हुए स्वातंत्र्य की प्राप्ति के लिए युद्ध में हम लोग उनकी सहायता करेंगे।"

अफगानिस्तान का स्वतन्त्रता-लाभ

एशियायी राष्ट्रों को मित्रराष्ट्रों ने धोखा दिया था। इसलिए बोल्शेवी लोगों को बहुत-कुछ सफलता हुई। इस समय भारतवर्ष के लोगों में जैसा भाव आया वैसा १८५७ के बाद उनमें कभी नहीं

आया था। अंग्रेजी सरकार इस समय बहुत ही हैरान थी। अफ़गानिस्तान के तत्कालीन अमीर हबीबुल्लाखाँ अंग्रेजों के पक्ष में थे; उनकी इसी समय हत्या कर दी गई। कहा जाता है कि उनकी हत्या का मुख्य कारण उनका अंग्रेजों के पक्ष में रहना था। उनके स्थान पर अमानुल्लाखां, जिनके भीतर अंग्रेजों के खिलाफ़ कूट–कूट कर भाव भरा था, गद्दी पर बैठे। उन्होंने अंग्रेजों को खुद रूस के साथ मिल जाने की धमकी दी। उसी समय उन्होंने देखा कि पंजाब में अंग्रेजों के खिलाफ़ बहुत अधिक भाव है इसलिए उपयुक्त समय आया जान उन्होंने जेहाद बोल दिया। उन्हें आशा थी कि असन्तुष्ट भारतीय उनकी सहायता करेंगे। जिस समय अफ़गानिस्तान अंग्रेजों से लड़ता रहेगा उसी समय भारतीय देश में क्रान्ति मचा कर अंग्रेजों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करेंगे। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। अमानुल्ला खां को विजय की आशा पहले से ही नहीं थी। उन्होंने थोड़े ही दिनों के बाद सन्धि की चर्चा भी छेड़ दी। अंग्रेज भी उस समय सन्धि कर लेना चाहते थे। वे चाहते थे कि यदि अफ़गानिस्तान उनके हाथ से निकल जाय तो स्वतंत्र रहे, किसी दूसरी शक्ति के अधिकार में नहीं जाय, इसीलिए उन्होंने उसे स्वतंत्र हो जाने दिया।

रूस का नैतिक प्रभाव

अफ़गानिस्तान के जैसी छोटी शक्ति स्वयं युद्ध छेड़े और हार जाने पर भी स्वतंत्रता प्राप्त करले यह आश्चर्य की बात थी। इस विजय में रूस की ही चाल मुख्यतः कार्य कर रही थी। इस समय तक रूसी तुर्किस्तान में रूसी प्रचारकों ने अपना अड्डा जमा

लिया था, उन्हीं लोगों के प्रचार का यह परिणाम था। इसी साल नवम्बर के महीने में मास्को में लेनिन ने अफगान मिशन का स्वागत किया और सोवियट सरकार का प्रतिनिधि काबुल भेजा गया। इसी समय रूस के परराष्ट्र-विभाग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा—'एशिया के चाहे जिस भाग पर हम लोग दृष्टि डालते हैं, चाहे वह फारस, चीन, तुर्की जो भी हो, देखने में आता है कि अमेरिकन और युरोपीय पूंजीवाद के खिलाफ लड़ाई उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है। इन देशों का अन्तिम लक्ष्य हम लोगों के उद्देश्यों पर ही पहुँचना है।' ठीक इन्हीं बातों को अंग्रेजी सरकार ने भी महसूस किया और उसके रूस के साथ समझौता कर लेने का यह एक भारी कारण था। एशियायी नीति के कारण सोवियट सरकार का नैतिक बल बहुत अधिक बढ़ गया और इस कारण से उसकी शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ गई।

बोल्शेवी लोग जनता में बहुत अधिक भाव भरते थे। वे वे चाहते थे कि साम्राज्यवाद का चारो ओर से विरोध हो।

रूस का प्रचार

१९१९ में ही लेनिन ने सोवियट सरकार की की ओर से तुर्कों को लिखा था—

"संसार भर के मुसलमानो! तुम लोग पूंजीपतियों के शिकार बन रहे हो; जाग्रत हो जाओ। जारशाही के ज़माने की वक्रदृष्टि रूस ने अब त्याग दी है। तुम्हें अब वह सताना नहीं चाहता। अब वह अंग्रेजों के अत्याचार से तुम्हें बचाने में सहायता करेगा। रूस अब तुम्हारे राजनैतिक वा धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। युद्ध के पहले तुम्हारी जो

राजकीय सीमा थी वह कायम रहेगी। तुम्हारा कोई भी प्रांत छीना नहीं जायगा। कुस्तुनतुनिया, डार्डेनिलीज और आरमीनिया सब तुम्हारे ही अधिकार में रहेंगे। रूस के मुसलमानों को स्वराज्य दिया जायगा; इसके बदले में हम लोग तुम से एक ही चीज चाहते हैं—निरंकुश पूंजीपति जो तुम्हारे देश को लूटना और दास बनाये रखना चाहते हैं उनसे लड़ते रहो।"

रूसी अपने प्रचारकों को उनके कार्य में सदा प्रोत्साहन दिया करते थे। वे उन्हें समझाते थे कि तुम बड़े ही महान कार्य के संपादनार्थ भेजे जा रहे हो; स्वतंत्रता का झंडा खड़ा करने के लिए, दासों को गुलामी से छुड़ाने के लिए, मुट्ठी भर अंग्रेजों के हाथ से बत्तीस करोड़ लोगों को छुड़ाने के लिए भेजे जा रहे हो। उनसे वे कहते थे कि जहाँ-जहाँ प्रचारक जायँ लोगों के साथ मिल जाया करें। भारतवर्ष में भेजे जाने वाले प्रचारकों से उन्होंने कहा था—

'स्वतंत्रता-प्रेमी भारतीय लोगों के साथ एक हो जाओ। अपनी बातों और कार्यों से उनके क्रान्तिकारी भावों को बढ़ाओ। ऐसा प्रयत्न करो जिसमें रूस के क्रन्तिकारी और एशियायी लोगों का सम्बन्ध चिरस्थायी हो जाय।'

मित्रराष्ट्रों ने एशियायी लोगों के साथ बहुत बड़ी धोखेबाजी का कार्य किया था इसलिए उन लोगों पर रूस का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उनमें बहुत से आदमी साम्यवादी विचारों के न होते हुए भी केवल एशिया से साम्राज्यवादियों को निकालने के लिए ही रूस के विचार से सहमत हो गये। उन लोगों के लिए विदेशी, साम्राज्यवादी, अंग्रेज तथा फ्रांसीसी किसी

शब्द में विभेद नहीं रहा। ज़ार के समय की सन्धियों को दूर फेंक देने से रूस का और भी अधिक प्रभाव पड़ा। एशिया के सभी राष्ट्रीय विचार वाले रूस की ओर आकृष्ट हुए और स्वतंत्रता के युद्ध में उसे अपना सहायक समझने लग गये।

एक साल के बाद से बोल्शेविकों ने केवल विदेशी ही नहीं परन्तु सभी प्रकार के पूँजीपतियों के खिलाफ़ आन्दोलन करना आरम्भ किया। १९२० में उन्होंने तुर्की के निवासियों के लिए जो घोषणा निकाली थी उसमें लिखा था:—

"काम करनेवाले मजदूर सभी स्थानों पर पूँजीपतियों से लड़ रहे हैं। तुम्हारे यहाँ आये हुए पूँजीपति देश के धनी वर्ग से मिलकर तुम्हारे यहाँ के मज़दूरों को दास बना लेते हैं। वास्तव में, युरोप के ही धनी तुर्की में भूख की बीमारी लाये हैं। वंधुओ! आओ, हम सभी मजदूर मिल जायँ। हम सब यदि अलग-अलग रहेंगे तो सफलता नहीं मिलेगी। तुर्की के क्रान्तिकारी दल को बोल्शेवी दल में शामिल हो जाना चाहिए। थर्ड इंटरनेशनल की जय! अल्ला की जय!!"

एशियायी लोगों के प्रति अपनी नीति ज़ाहिर करने के लिए रूसी लोगों ने १९२० के सितम्बर में बाकू में एशियायी लोगों की एक कांग्रेस की। सैंतीस विभिन्न राष्ट्रों के लगभग दो हज़ार प्रतिनिधि इस कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस का उद्देश केवल एशिया से साम्राज्यवादियों का आधिपत्य उठा देना ही नहीं था वरन् साम्यवाद के सिद्धान्तों को किस प्रकार कार्यान्वित किया जाय, इस पर विचार करना भी था। यह कांग्रेस थर्ड इंटरनेशनल

बाकू की कांग्रेस

(मास्को) ने बुलाई थी। लोगों को बुलाने के लिए उसने जो घोषणा प्रकाशित की थी उसी से उसके उद्देश्यों का पता चलता है। घोषणा निम्नलिखित शब्दों में थी—

"फारस के मजदूर तथा किसानो! अनेक शताब्दियों से तेहरान की क़जर सरकार और प्रांतीय खाँ तुम्हें लूट रहे हैं। ज़मीन जिस पर शरियत के अनुसार तुम सभी का समान अधिकार होना चाहिए, तेहरान की सरकार ने अपना ली है। वह जैसे चाहती है वैसे उस जमीन को काम में लाकर अपना लाभ कर लेती है। वह अपनी इच्छानुसार तुम्हारे ऊपर टैक्स लगाती है और जब उसने देख लिया कि वह खुद तुमसे और अधिक धन चूसने में असमर्थ है तो उसने तुम्हें पूँजीपतियों के हाथ बेंच देना निश्चित कर लिया। पूँजीपतियों ने तुम्हें बीस लाख पौंड में खरीद लिया जिसमें वे फारस में सेना संगठित कर सकें तथा तुम्हें पहले से भी ज्यादा दबा सकें। फ़ारसी सेना द्वारा ही वे अंग्रेज पूँजीपति तुमसे अधिक कर वसूल करायंगे और उसी में से थोड़ा भाग प्रान्तीय खान (शासक) और तेहरान सरकार को भी दे देंगे। तुम्हारे यहाँ के शासकों ने फारस की सभी तेल की खानें बेच दी हैं जिससे देश और भी अधिक लुटता जा रहा है।"

"अनातोलिया के किसानो! अंग्रेज, फ्रांसीसी और इटालियन तुम्हारे कुस्तुनतुनिया पर तोप के बल से अधिकार किये बैठे हैं। उन्होंने सुलतान को कैद कर लिया है और तुर्की के सभी प्रांत आपस में बाँट लेना चाहते हैं। वे लोग सुलतान पर दबाव डालकर तुर्की का अर्थ-विभाग अंग्रेज पूँजीपतियों के हाथ

सौंप रहे हैं जिसमें वे अच्छी तरह लूट मचा सकें। तुम लगातार छः साल की लड़ाई से तबाह हो गये हो; अंग्रेज पूंजीपति तुम्हें और भी तबाह कर रहे हैं। हेराकली की कोयले की खानों पर, तुम्हारे बन्दरगाहों पर उनका अधिकार हो गया है। साम्राज्यवादी अपनी सेना भेजकर तुम्हारी खेती नष्ट कर रहे हैं।"

"आर्मीनिया के मजदूर तथा किसानो! कई वर्ष पहले से तुम अंग्रेजी पूँजी के शिकार बन गये हो। अंग्रेजी और फ्रांसीसी पूँजीपति तुम्हारे साथ तुर्कों का हमेशा झगड़ा लगाये रखते हैं जिसमें लाभ का अधिकांश भाग वे स्वयं उठा ले जायं। ये पूँजीपति ही तुम्हारे सभी प्रकार के कष्टों के कारण हैं।"

"सीरिया और अरब के किसानो! अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने तुम्हें तुर्की राज्य से स्वतंत्र कर देने की आशा दिलाई थी परन्तु तुर्की के कब्जे से निकालकर उन्होंने तुम्हें अपने कब्जे में रख लिया है। भेद इतना ही हुआ कि पहले की अपेक्षा तुम अधिक मजबूत शक्ति की अधीनता में आ गये और दिन प्रतिदिन अधिक लूटे जाने लगे।"

"तुम सभी देशों के लोग अपनी हालत से वाकिफ़ हो। फारस के लोग तेहरान सरकार के खिलाफ़ उठ खड़े हुए हैं। मेसोपोटामिया में अंग्रेजी सेना के खिलाफ़ विद्रोह मच गया है। अनाटोलिया के लोग विदेशियों को निकालने के लिए कमालपाशा के साथ हो गये हैं। यह भी सुना जाता है कि उपर्युक्त देशों के मजदूरों ने अपना अलग संगठन कर लिया है जिसमें बड़े-बड़े पाशा यदि मित्रराष्ट्रों से सन्धि करने का विचार करें तो वे किसान संगठित रूप में विरोध कर सकें। तुम सभी लोग

जानते हो कि मित्रराष्ट्र तुम्हें स्वतंत्रता नहीं दे सकते। तुम्हारे यहाँ के सभी लोग इस समय सहायता के लिए रूसी मजदूर और किसान सरकार के पास पहुँचे हैं।"

"एशिया के मजदूर और किसानो! यदि तुम लोग संगठित होकर रूस के साथ मिल जाओ तो निश्चय ही अंग्रेज, फारसी और अमेरिकन पूँजीपतियों को निकाल भगा सकोगे। इसके बाद तुम अपने देश के पूँजीपतियों से समझ लोगे। जब तुम्हारे अधिकार तुम्हारे ही हाथों में आ जायँगे तब तुम समझ सकोगे कि भूमि से सुख कैसे प्राप्त किया जाता है। इन सभी मामलों पर हम लोग बाकू में विचार करना चाहते हैं। तुम सभी दासता के बन्धन से छूटने के लिए, सभी मनुष्यों के भाई-भाई का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और समानता का अधिकार प्राप्त करने के लिए वहां इकट्ठे होना।"

इसी प्रकार का निमंत्रण एशिया के लगभग सभी राष्ट्रों को दिया गया था। चीन, भारत, फ़ारस आदि सभी एशियायी राष्ट्रों के प्रतिनिधि इस कांग्रेस में शामिल हुए थे। इस कांग्रेस के सभापति थर्ड इंटरनेशनल की कार्यकारिणी के सभापति जिनोविफ थे।

सभापति ने अपने भाषण में लोगों को समझाया कि 'मजदूर और किसानों की ही संख्या संसार में अधिक है इसलिए पूँजी और श्रम के संघर्ष का निपटारा वे ही लोग कर सकते हैं। रूस सभी एशियायी राष्ट्रों को पहले भी विश्वास दिला चुका है और इस समय भी विश्वास दिलाता है कि सभी श्रमी स्वतंत्र कर दिये जायँगे।

अध्यक्ष का भाषण

एशिया के श्रमी लोगों में शिक्षा, सफाई कुछ भी नहीं है । इन सभी बुराइयों के जिम्मेवार पूँजीपति हैं । रूस में भी उनका आतंक था । रूस ने उनसे छुटकारा पा लिया है । और चीन, भारत, तुर्की, फ़ारस, आरमीनिया भी प्राप्त कर सकते हैं । सभी एशियायी देशों में पंचायती राज्य का प्रसार होना चाहिए । जो लोग हम लोगों के विचारों से सहमत नहीं हैं उनकी बातों पर भी हम ध्यान देते हैं । सोवियट सरकार कमालपाशा को सहायता देती है फिर भी वह जानती है कि कमालपाशा साम्यवाद के पक्ष-पाती नहीं हैं ।' सभापति ने लोगों को समझाया कि और राष्ट्रों को कमालपाशा का अनुकरण नहीं करना चाहिए । अब सुलतानों का समय पूरा हो गया; इसलिए उन्हें हटा देना चाहिए । धनी लोगों का राज्य उठा देना चाहिए । रूस के लोगों का भी जार पर विश्वास था परन्तु वह उठ गया । उसी प्रकार सभी एशियायी राष्ट्रों से सुलतान, राजा वा धनीवर्ग का राज्य उठ जाना चाहिए । अंग्रेजी सरकार के ख़िलाफ जो कोई भी क्रान्तिकारी आन्दोलन होगा रूस उसकी सहायता करेगा । अंग्रेज पूँजीपति ही हमारे सबसे बड़े शत्रु हैं, उन्हें भगाने में हमें अपनी सारी शक्ति लगा देना चाहिए । देश के धनीवर्ग के ख़िलाफ़ भी घृणा और शत्रुता का भाव रहना ही चाहिए । ऐसा नहीं होना चाहिए कि अंग्रेज पूँजीपति उनका स्थान ले लें । राज्य सभी जगह मजदूरों का ही होना चाहिए ।

एशियायी राष्ट्रों में पूँजीपति तथा धनीवर्ग का रूसी सिद्धान्तों का विरोध करना स्वाभाविक ही था । विदेशी लोगों ने भी भरपूर प्रयत्न किया कि बोल्शेवी लोगों का असर उनकी जनता

पर न पड़ने पावे परन्तु युवा विद्यार्थी और मजदूरों को वे किसी भी प्रकार उस हवा से अलग नहीं कर सके । उन लोगों पर रूस का खूब असर पड़ा । तभी वे उसे स्वतंत्रता प्रदान करने वाला समझने लगे।

अनेक बातों में समानता रहते हुए भी रूस और एशियायी राष्ट्रों में बहुत भेद है, जिससे साम्यवाद का यहाँ पर प्रचार होना कठिन है । चीन के विषय में लेनिन ने ठीक यही बात कही थी । साम्यवाद का प्रभाव चीन में विद्यार्थियों के ऊपर बहुत अधिक पड़ा है । अभीतक लोगों का खयाल था कि कला-कौशल की वृद्धि के लिए उसका व्यक्तिगत पूँजीवाद की अवस्था पार करना आवश्यक है परन्तु रूसी लोगों के प्रचार से वे विद्यार्थी समझने लगे हैं कि कला-कौशल की उन्नति व्यक्तिगत पूँजीवाद की अवस्था पार किये बिना भी हो सकती है । आगे चलकर रूस को 'नई आर्थिक नीति' अपनाते देखकर लोगों का विचार कुछ ढीला हुआ । एशिया में साम्यवाद के सिद्धान्त नहीं चल सकने के और भी कई कारण हैं । साम्यवाद के लिए एक केन्द्रीभूत मजबूत राजसत्ता चाहिए । एशिया के अधिकांश राष्ट्र बहुत कमजोर और बिखरे हुए हैं । साथ ही यहाँ पर व्यक्तियों की स्वतंत्रा पर अधिक जोर दिया जाता है; साम्यवाद के लिए सरकारी शक्ति बहुत प्रबल रहनी चाहिए । व्यक्ति व्यापार करें यह साम्यवाद नहीं चाहता परन्तु एशिया में व्यक्ति ही अधिक व्यापार किया करते हैं । एशिया के धनी भी और देशों के धनियों जैसे नहीं हैं । लेनिन ने भी कहा है कि जहाँ पर धनी लोगों की संख्या

साम्यवाद के प्रचार में कठिनाइयां

बहुत ही कम है, इने-गिने आदमी धनी हैं, वहाँ पर उन्हें लूट लेने से जनता का बिशेष लाभ नहीं होगा। इसके अलावा साम्यवाद के प्रचार के लिए शिलप्रधान देश होना चाहिए क्योंकि उसीसे सम्पत्ति अधिक होगी और वह लोगों में बाँटी जायगी तो अधिक आदमी सुख से रह सकेंगे। मजदूरों का सारा समय अपनी रोजी चलाने में ही व्यतीत नहीं होगा, उन्हें भी छुट्टी मिला करेगी। जहांपर इने-गिने आदमियों के पास धन है और जीविका उपार्जन के अलावा समय बच जाता है वहाँ पर साम्यवाद के प्रचार होने से उन्हें भी छुट्टी नहीं रहेगी। यह उचित नहीं होगा। इन कारणों से एशिया में साम्यवाद का प्रचार होना कठिन है।

हम लोगों को यहां पर साम्यवाद के इस पहलू पर विशेष ध्यान नहीं देना है। यह रूसी लोगों का दूर का उद्देश है। एशिया में साम्यवाद का प्रचार करना आगे की बात है। पहली बात एशिया को युरोपियन और अमेरिकन पूँजीवाद से बचाने की है। रूस की आन्तरिक इच्छा एशिया से साम्राज्य-वादियों को, खासकर अंग्रेजों को, निकाल देने की है। इसके लिए उसने क्रांति के बाद से ही प्रयत्न आरम्भ कर दिया। उसे अपने कार्य में बहुत-कुछ सफलता मिली है। रूसियों के प्रचार से अंग्रेजों की बहुत हानि हुई है।

रूस के उद्देश्यों में अविश्वास

बहुत से लोगों का विचार है कि सोवियट सरकार भी साम्राज्यवादी है। वह भी जारशाही के समय की नीति अपनाती है। भेद केवल इतना है कि जारशाही के समय की अपेक्षा इस समय के

लोग अधिक शक्तिशाली और चालाक हैं। अमेरिकन साम्राज्यवादी जिस प्रकार से अपने को मनुष्यमात्र का दोस्त और पिछड़े हुओं को आगे बढ़ानेवाला बतलाते हैं उसी प्रकार से रूसी भी कहते हैं। अमेरिकन साम्राज्यवादी मनुष्यों की सहायता की ओट में उनका खून इस प्रकार से चूसते हैं कि चूसे जानेवाले आदमी को पता भी नहीं चलता। उसी प्रकार से सोवियट सरकार भी एशियायी राष्ट्रों को सहायता की आशा दिलाकर उनपर दखल जमाती है। सोवियट सरकार के पूर्वी एशिया के कार्यों से इस विचार के लोग इन भावों की पुष्टि करते हैं। जारशाही के समय में भी रूसी सरकार का एक लक्ष्य यह था कि वह चीन सागर में एक ऐसे बन्दरगाह पर दखल करे जहाँ बरफ न जमती हो; वह चीन के व्यापार पर भी अपना आधिपत्य जमाना चाहती थी। १९२१ से सोवियट-सरकार ने भी मंगोलिया में अपना पांव फैलाना शुरू किया। पहले उसने वहाँ के 'जीवित बुद्ध' (राजा, जिसे लोग जीवितबुद्ध मानते थे।) के नाममात्र के अधिकार में 'जनता की क्रांति-कारी सरकार' स्थापित की। कुछ ही दिनों बाद वहाँ पर सोवियटसरकार का प्रतिनिधि रहने लगा जिसके अधिकार में वहाँके सभी विभाग आगये। १९२४ में जीवित बुद्ध के मरने पर उनके उत्तराधिकारी का चुनाव नहीं हुआ। १९२५ में मंगोलिया में सोवियट प्रजातन्त्र स्थापित होगया और उसने रूस के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया। अब केवल सोवियट यूनियन में उसका शामिल होना बाक़ी रह गया। मंगोलियन सेना को सोवियट सैनिक ही शिक्षा देने लगे। विदेशी लोगों

की पूँजी वहाँ लगी थी; वह निकाल दी गई और देश का आर्थिक विभाग सोवियट सरकार के हाथ में आ गया। १५२४ ई० में चीनी-रूसी सन्धि हुई थी उसमें बाहरी मंगोलिया चीनी प्रजातन्त्र के अधीन समझा गया। फिर भी वह प्रायः रूसी लोगों के ही कब्जे में है। वे ही वहाँ पर रेल आदि बनवाने का प्रबन्ध कर रहे हैं। रूसी लोगों ने युरियनहाई पर क़ब्जा कर-लिया और चीनी तुर्किस्तान में भी उनका प्रचार बहुत जोरों से चल रहा है।

मंचूरिया में—

मंचूरिया में सोवियट-सरकार ने एक दूसरी ही नीति से काम लिया। वहां के तीन प्रान्तों में चांग-सो-लिन के व्यक्तिगत तथा जापानी लोगों के प्रभाव के कारण साम्यवाद का राजनैतिक भाग अपना पाँव नहीं जमा सका। १९१७ के आखिर में सोवियट सरकार ने जारशाही के समय की प्राप्त की हुई सभी सुविधाएँ छोड़ दी थीं। इसका मतलब रेल-सम्बन्धी सुविधाओं को भी छोड़ देना था। परन्तु १५२४ में चीन के साथ जो सन्धि हुई उसमें निश्चित हुआ कि रेल केवल व्यवसायी कार्यों के लिए रहेगी; उसके द्वारा वहांपर अधिकार जमाने की कोशिश नहीं की जायगी। इस सन्धि के बाद से रेलें रूसी लोगों के अधिकार में फिर से आगई और जारशाही के समय निन्नानवे वर्ष का जो पट्टा लिखवाया गया था वह भी जारी रहा। उसमें अभी छियासठ वर्ष बाक़ी थे। सोवियटसरकार ने किसी न किसी प्रकार से क्रान्ति के समय हाथ से निकली हुई भूमि पर फिर से अधिकार जमा लिया। मंचूरिया पर कब्जा कर लेने से पेकिंग की

सरकार पर भी अपना प्रभुत्व जमाना सोवियट सरकार के लिए सहल हो गया। जापान को इससे बहुत अधिक हानि होने की सम्भावना थी। रूस और जापान के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर था। रूस के मंचूरिया पर उस प्रकार के अधिकार हो जाने से जापान को घाटा था; चीन की खान तथा अन्य जापानी व्यवसायों में मजदूरों के बीच रूसी लोगों के असंतोष फैलाने से जापान को घाटा हो रहा था, फिर भी जापान ने खुद २० जनवरी १९२५ को रूस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के कारण रूस के आगे बढ़ने में कोई भी बाधा नहीं पहुँचती थी। इसी के अनुसार पूर्वी साइबेरिया में व्यवसाय करने के लिए ३०००००००० येन (जापानी सिक्का) से एक जापानी कम्पनी खोली गई। कंपनी ने अपने विधान-पत्र में साफ-साफ लिखा है कि उसका उद्देश जापान और रूस में मेल बढ़ाना है। इस कंपनी में सोवियट सरकार ने भी भाग लिया। जापान से ९०००० मजदूर वहां की खानों और खेतों में काम करने के लिए भेजे जाने वाले थे। जापान और रूस में बहुत अधिक विरोध रहते हुए भी क्या कारण है कि ये दोनों राष्ट्र आपस में मेल करने के लिए आगे बढ़ रहे हैं ? इस मेल के कारण रूस-जापान युद्ध के पहले रूस का चीन में जितना प्रभाव था उतना फिर से होता जा रहा है। इनके मिलने का एक ही कारण है, अंग्रेजों को एशिया से निकाल देना। इसी उद्देश की पूर्त्ति के लिए दोनों राष्ट्र मिले हुए हैं। अंग्रेजों के चले जाने पर रूसियों का ही साम्राज्य सब से शक्तिशाली हो जायगा। इसीलिए रूसी प्रयत्न कर रहे हैं

और यही उनका गुप्त ध्येय है।' इस प्रकार का तर्क प्रायः वे लोग करते हैं जो रूस को साम्राज्यवादी बतलाना चाहते हैं।

रूस को साम्राज्यवादी बतलानेवालों की बातें मान ली जायँ और कुछ देर के लिए यह भी अनुमान कर लिया जाय कि रूस अपने उद्देश्यों में सफल हो गया, तो उस समय की अवस्था कैसी रहेगी? कम से कम वर्तमान अवस्था की अपेक्षा वह अवस्था अवश्य ही अधिक अच्छी रहेगी क्योंकि रूस के पास इतनी राक्षसी शक्ति नहीं है कि वह इंग्लैंड, अमेरिका वा जापान की तरह आतंक फैला सके। रूसी लोगों की एशियायी लोगों के साथ बहुत-कुछ समानता है और इससे अनुमान किया जा सकता है कि वे एशियायी लोगों के साथ समानता का व्यवहार करेंगे। रूस के शक्तिशाली होने पर एशियायी राष्ट्रों का इस-प्रकार का संगठन रहेगा कि वे अपनी रक्षा विदेशी लोगों से भलीभांति कर सकेंगे। आक्रमण करके दूसरों को तहस-नहस कर देना एशियावासियों का उद्देश कभी नहीं रहा है। वे उतने शक्तिशाली रहेंगे भी नहीं कि दूसरों पर आक्रमण कर सकें। हाँ, अपनी रक्षा वे भलीभांति कर सकेंगे। इससे शान्ति रहेगी और मनुष्यमात्र की भलाई होगी।

रूस के इतने अधिक शक्तिशाली हो जाने की संभावना भी अभी नहीं दिखलाई देती। साम्राज्यवादियों का अभी बहुत दबदबा है। साम्राज्यवादियों में भी सबसे अधिक शक्तिशाली अमेरिका बन रहा है। जबसे उसने शांतिमय साम्राज्यवाद की नीति अपनाई है सारे एशिया में उसकी ही दुन्दुभि बज रही है। यदि उसकी विजय हो गई तो एशिया उसी के अधीन हो

ज़ायगा। वैसी अवस्था में साम्यवादियों को कोई पद नहीं दिया जायगा। विदेशी चीन-जैसे देशों में कोई मजबूत राजशक्ति क़ायम नहीं होने देंगे। वे एशिया को कभी इस योग्य नहीं होने देना चाहेंगे कि वह आर्थिक रूप से स्वतंत्र रह सके; रेल आदि बनाने की कलाओं में वे उसे सदा ही अनभिज्ञ रखना चाहेंगे। वे बाहरी शक्तियों का प्रभुत्व पूर्णरूप से दूर करना चाहेंगे। इन कारणों से एशियायी राष्ट्र शक्तिशाली नहीं हो पायँगे। साथ ही आपस में और बाहरी शक्तियों से जैसी लड़ाई अभी चल रही है चलती रहेगी। उससे न तो शान्ति स्थापित होगी और न मनुष्यमात्र की भलाई ही होगी।

सम्भावना निर्मूल है

परन्तु इसकी सम्भावना नहीं है। एशियायी राष्ट्र जाग्रत हो चुके हैं। उनकी लड़ाई युरोपीय देशों से चल रही है। रूस ही पिछड़े हुए एशियायी लोगों का नेता बन रहा है। और लोगों को साम्राज्यवाद के साथ लड़ाई करने के लिए आगे बढ़ा रहा है। इस लड़ाई में काफ़ी सफलता भी हुई है और आगे होने की सम्भावना भी है। एशियायी राष्ट्र कम से कम इतने जाग्रत अवश्य हो गये हैं कि एक साम्राज्यवादी राष्ट्र से अपना छुटकारा करके दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्र की अधीनता नहीं स्वीकार करेंगे। रूस के विषय में यदि उन्हें यही सम्भावना रहेगी कि वह ग़ुलाम बनाना चाहता है तो उससे भी लड़ाई छेड़ देंगे। इस बात की जिन राष्ट्रों को आशंका होने लगी है वे काफ़ी सचेत हो गये हैं। अभी वे यही चाहते हैं कि वर्तमान साम्राज्यवादियों, खास कर अंग्रेजों, को भगाने में रूसियों से जितनी सहायता ली जा सके ले ली जाय।

साम्यवाद के विरोधी राष्ट्र यदि एशिया में हैं तो खासकर वे ही हैं जिन्होंने अंग्रेजी साम्राज्यवाद से अपना पीछा छुड़ा लिया है। अभी जिन लोगों को सफलता प्राप्त नहीं हुई है वे साम्यवाद के कट्टर अनुमोदक हैं। तुर्की अथवा चीन ने जबतक अपने यहाँ से साम्राज्यवादियों के प्रभुत्व को निकाल नहीं फेंका था तबतक उन्होंने रूस से काफ़ी सहायता ली थी। भारतवर्ष के लोग साम्यवाद के पोषक हो रहे हैं क्योंकि उनके ऊपर अंग्रेजों का अधिकार है। जबतक वे उनके अधिकार से नहीं निकल जाते साम्यवाद के विरोधी नहीं हो सकते।

रूस जबान-वीर नहीं है

रूस पर एशियायी राष्ट्रों के इतना अधिक विश्वास ज़म जाने का कारण यह था कि रूस केवल बातें ही नहीं बनाता था। उसने 'आत्म-निर्णय' की धूम मचाई थी तो अपने अन्तर्गत लोगों को उसका अधिकार भी दिया। उसका इस प्रकार का कार्य सुचारु रूप से १९२१ से आरम्भ हुआ। इसी साल उसने एशियायी राष्ट्रों के साथ मित्रता की सन्धि कर ली। फ़ारस के साथ उसने २६ फ़रवरी १९२१ को जो सन्धि की थी उसका सारांश निम्नलिखित है :—

१. जार के समय जितनी संधियाँ हुईं थीं वे रद्द कर दी जाती हैं।
२. फ़ारस के सम्बन्ध में ज़ारशाही के समय तीसरी शक्तियों के साथ जो समझौते हुए थे वे रद्द कर दिये जाते हैं।
३. ज़ारशाही के समय के सभी कर्ज रद्द कर दिये जाते हैं।

४. फ़ारस के भीतरी मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप रूसी सरकार नहीं करेगी; सिवा—

५. उस हालत के जब कोई तीसरी शक्ति रूस पर आक्रमण करने के लिए आधार फ़ारस को बनावे वैसी हालत में सोवियट सेना उस ख़तरे को रोकने के लिए जा सकेगी।

६. व्यापारिक सम्बन्ध जारी हो जायँगे।

रूस-तुर्की सन्धि

१९२० के अप्रेल में जब अंगोरा में 'तुर्की की महान् राष्ट्रीय मजलिस की सरकार' स्थापित हुई तो रूसी परराष्ट्र-सचिव शिशेरिन ने उस सरकार के पास बधाई का संदेश भेजा और अपने साथ राजनैतिक सम्बन्ध जोड़ने के लिए लिखा। १६ मार्च १९२१ को रूस और तुर्की का समझौता हुआ। वह इस प्रकार था:—

'रूसी साम्यवादी सोवियट प्रजातंत्र-संघ तथा तुर्की की राष्ट्रीय महासभा (ग्रेट नेशनल असेम्बली) का राष्ट्रों के आपस में भाईचारे के वर्ताव और लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार पर विश्वास है; वे दोनों साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में अपनी एकता मानते हैं। वे आपस में यह भी समझते हैं कि उनमें से एक देश का ख़तरा दूसरे देश का ख़तरा है इसलिए उन दोनों की प्रबल इच्छा है कि आपस में दोस्ती क़ायम करने के लिए और एक दूसरे के लाभ के लिए मित्रता की सन्धि स्थापित हो। इसी भाव से प्रेरित होकर दोस्ती और भाईचारे की सन्धि की गई।'

रूस ने अफ़ग़ानिस्तान से भी २८ फरवरी १९२१ को मित्रता

की सन्धि कर ली।

१९१९ में सोवियट सेना ने कोलचक का पीछा किया और युराल पहाड़ पार किया। उस समय सोवियट-सरकार द्वारा सभी एशियायी देशों के नाम घोषणा की गई कि रूसी सेना सब को परतंत्रता से मुक्त करने के लिए भेजी गई है। चीन से उसी समय कहा गया कि बॉक्सर-ऋण रद्द कर दिया गया और दूसरी सुविधाओं का भी उपयोग नहीं किया जायगा। सितम्बर १९२२ में एक दूसरी घोषणा—द्वारा जारशाही के समय की सभी सन्धियाँ रद्द कर दी गईं और कहा गया कि चीन-सरकार से जार ने जो प्रदेश छीन लिये थे वे बिना किसी प्रकार का बदला लिये ही लौटा दिये जायँगे।

चीनी सरकार इससे कुछ भी विचलित नहीं हुई परन्तु चीनी जनता पर इसका गहरा असर पड़ा। ३१ मार्च १९२४ को रूसी-चीनी सन्धि की गई थी। इस सन्धि के अनुसार मंगोलिया स्वतंत्र समझा गया और उपर्युक्त घोषणा की बातें लिख ली गईं। चीन अभी तक दूसरी श्रेणी का राष्ट्र समझा जाता था। अभी तक दूसरे देशों के मंत्री वा दूत ही वहां रहते थे। इस समय सोवियट-सरकार ने काराखां को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा जिससे मालूम हो कि चीन अब फ्रांस, इंग्लैंड आदि की श्रेणी का देश हो गया है।

इस समय की सन्धियों में इसका भी उल्लेख है कि रूस अपने को एशियायी राष्ट्र मानता है और उसने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि रूस साम्राज्यवाद का शत्रु है और यह कि साम्राज्यवाद की लड़ाई में सारा एशिया एक होकर लड़े।

रूस और एशिया के सभी राष्ट्र साम्राज्यवाद के शत्रु हैं इसलिए सब में परस्पर मित्रता स्थापित हो जानी चाहिए।

रूस ने पिछड़े नामधारी राष्ट्रों के साथ अच्छा व्यवहार करके दिखला दिया, इससे उसका नैतिक बल बढ़ गया। यहाँ पर आपस में साम्राज्यवादियों की तरह बँटवारा करने की बात नहीं थी। रूस की इस चाल ने अंग्रेजों का सारा खेल बिगाड़ दिया। अंग्रेज अब रूसियों की तुलना में नीचे दिखने लगे।

सोवियट सरकार ने साम्राज्यवाद को दूसरा धक्का १९२६ में दिया। इस समय रूसी सरकार ने एशियायी राष्ट्रों के साथ दूसरी सन्धि करली। अफ़ग़ानिस्तान के साथ ३१ अगस्त १९२६ को निम्नलिखित सन्धि हुई—

साम्राज्यवाद को दूसरा धक्का

१. यदि दूसरी शक्ति के साथ किसी एक की लड़ाई छिड़ जाय तो दूसरा देश तटस्थ रहे।
२. एक-दूसरे पर न तो चढ़ाई करेंगे और न दूसरे देशों के साथ चढ़ाई करने का समझौता ही करेंगे।
३. एक देश दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा और किसी एक के शत्रु को अपने देश में आश्रय भी नहीं देगा।
४. यह सन्धि तीन वर्ष के लिए रहेगी।

सोवियट युनियन और तुर्की प्रजातंत्र में १७ मार्च १९२५ को अफ़ग़ानिस्तान की सन्धि के ही समान सन्धि हो गई थी। कुछ ही दिनों बाद दोनों देशों में व्यापारिक सन्धि भी हो गई

जिसके सिलसले में रूसी कौमिस्सर (रूसी मंत्रि-मण्डल) के सभापति ने कहा थाः—

'पश्चिमी एशिया के राष्ट्रों में सर्वप्रधान तुर्की से १९२१ की सन्धि, १९२५ की तटस्थता की सन्धि और १९२७ की व्यापारिक सन्धि हो जाने पर मित्रता बढ़ाने के लिए और कुछ भी बच नहीं जाता है। हम दोनों राष्ट्रों में भविष्य में आर्थिक सम्बन्ध और भी दृढ़ हो तो दोनों को ही अधिक लाभ होगा। ये सन्धियाँ बहुत उपयुक्त हैं।'

जब से रूस एशियायी राष्ट्रों की ओर झुका अंग्रेजों को मजबूर होकर अपनी पर-राष्ट्र-नीति बदलनी पड़ी। आरम्भ में अंग्रेजों को यह विश्वास नहीं था कि सोवियट सरकार रूस में स्थापित हो सकती है इसीलिए वे रूस से सम्बन्ध-विच्छेद किये रहे; परन्तु आगे चल कर उनका अनुमान भ्रान्तिमूलक सिद्ध हुआ। सोवियट सरकार पूर्णरूप से रूस में विजयी हुई और एशिया में अंग्रेजों के खिलाफ भाव फैलाने लगी। इससे अंग्रेजों की इज्जत में बट्टा लगता था। अन्त में मजबूर होकर उन्होंने १९२१ के मार्च में रूस से व्यापारिक सन्धि करली। सन्धि में और शर्तों के साथ एक शर्त यह भी थी कि रूस एशिया में अंग्रेजी साम्राज्य के हितों के विरुद्ध प्रचार न करे।

रूस और जापान की व्यापारिक सन्धि

फिर भी रूस का प्रचार कम नहीं हुआ। १९२१ के सितम्बर में ही लार्ड कर्जन ने शिशेरिन को लिखा कि 'सन्धि भंग की गई है; भारतवर्ष और अफ़गानिस्तान में अंग्रेजी सरकार के खिलाफ प्रचार का कार्य जारी है।' रूस ने जो कार्य

प्रत्यक्ष करके दिखला दिया था उसका फैलते रहना स्वाभाविक ही था। अंग्रेजों ने कितना भी प्रयत्न किया परन्तु वह रोका नहीं जा सका।

१९२६ में रूस ने एशियायी राष्ट्रों के साथ तटस्थता और एक दूसरे पर चढ़ाई न करने की सन्धि करली तब अंग्रेज और भी अधिक बेचैन हुए। वे रूस से इतने चिढ़ गये कि इंग्लैंड में कोयले की हड़ताल के समय मजदूरों के पास रूस के व्यवसायी संघों ने सहायता के लिए रुपये भेजे तो अंग्रेजी सरकार ने उसे अपराध समझा। इसी समय चीन में क्रान्तिकारी राष्ट्रीय दल की विजय हुई। राष्ट्रीय सरकार सोवियटसरकार से सहानुभूति रखती थी और अंग्रेजी सरकार के प्रति उसके अच्छे भाव नहीं थे। ऐसा होना स्वाभाविक ही था क्योंकि जितने अन्यायपूर्ण कार्य चीन के साथ हुए थे उन्हें सोवियट सरकार ने रद्द कर दिया था परन्तु अंग्रेजी सरकार ने नहीं किया था। चीन के अपने प्रति अच्छे भाव नहीं रहने का कारण अंग्रेजों ने बोल्शेवी लोगों का प्रचार समझा। इससे अंग्रेज और भी अधिक जलते थे। अंग्रेज और रूसी सरकार का मनमुटाव दिन-दिन बढ़ता ही गया। ऐसा समझा जाने लगा कि दोनों सरकारों का सम्बन्ध अधिक दिनों तक नहीं टिक सकेगा।

विरोध बढ़ता गया

हुआ भी ऐसा ही। १९२७ में लन्दन के रूसी व्यापारिक दूतावास की खानातलाशी ली गई। अंग्रेजों ने खानातलाशी का बहाना यह बतलाया था कि वहाँ पर युद्ध-विभाग के कुछ आवश्यक काग़ज़ छिपाकर

सम्बन्ध-विच्छेद

रखे गये हैं परन्तु वहाँ पर वैसे काग़ज़ों का नामोनिशान भी नहीं मिला। रूसी सरकार ने इस विषय में अंग्रेज़ी सरकार से शिकायत की कि सन्धि की शर्तें भंग की गई हैं। ऐसी हालत में दो ही बातें हो सकती थीं—अंग्रेज़ी सरकार या तो अपने 'होम सक्रेटरी' (स्वराष्ट्र-सचिव) को हटाती वा रूस के साथ सम्बन्ध त्याग करती। अन्त में २४ मई को सोवियट और अंग्रेज़ी सरकार का व्यापारिक सम्बन्ध विच्छेद हो गया और राजनैतिक सम्बन्ध कटु हो गये। यहाँ तक कि रूस और इंग्लैण्ड में लड़ाई छिड़ने के सभी चिन्ह दिखाई पड़ने लगे।

लड़ाई तो नहीं छिड़ी; उलटे व्यापारिक सन्धि टूट जाने से अंग्रेज व्यापारियों को घाटा होने लगा इसलिए वह सम्बन्ध फिर से स्थापित करने की बात चली और फिर व्यापार होने लगा। यह १९३३ के अप्रेल तक चलता रहा। १९३३ में 'मेट्रोपालिटन विकर्स' कम्पनी के कुछ इंजिनियरों को रूस में गिरफ्तार किया गया। उनपर इल्ज़ाम लगाया गया कि उन्होंने सोवियट शासन को असफल बनाने के उद्देश्य से बिजली तथा तेल के कारखानों को तहस-नहस करने के लिए रूसी कार्य-कर्ताओं को घूस दिया। इस मुक़दमे में कुछ को रूस से निकाल दिया गया; कुछ को सज़ा हुई। इससे इंग्लैण्ड के अधिकारियों में बदले की भावना जाग्रत हुई और फल-स्वरूप विशेष क़ानून के द्वारा रूसी माल पर उन्होंने ज़बरदस्त चुँगी लगा दी। रूस ने भी प्रतिक्रिया के रूप में अंग्रेज़ी मालपर गहरी चुँगी लगा दी है।

ब्रिटेन और रूस की विचार-धारा अलग-अलग है और

दोनों के उद्देश्य भी भिन्न हैं इसलिए उनके बीच स्थायी सम्बन्ध होना भी कठिन है। लार्ड वर्केनहेड ने एक बार लिखा था—'खूनियों और डाकुओं के साथ हमलोग राजनैतिक सन्धि स्थापित करने चले हैं; उन्हें रुपया ऋण देने चले हैं। पहले तो हमारे साथ व्यापार करेंगे और फिर, यदि सफल हुए तो, इंग्लैंड और सारे साम्राज्य में क्रान्ति करा देंगे।' इंग्लैण्ड के सभी साम्राज्यवादी भाव रखने वालों का रूस के प्रति वर्कनहेड के समान ही भाव रहता है।

रूस का नैतिक प्रभाव

लड़ाई छिड़े अथवा सन्धि हो एशियायी राष्ट्रों पर रूस का असर बराबर बढ़ता ही जायगा। अभी भी उसका काफ़ी प्रचार चल रहा है। यदि बोल्शेवी लोगों के प्रचार के विषय में अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों की बातों पर विश्वास किया जाय तो मानना पड़ेगा कि बम्बई से शंघाई तक मज़दूरों की जितनी हड़तालें होती हैं सबों का अर्थ-संचालन सोवियट सरकार ही करती है परन्तु यह बात विश्वास करने योग्य नहीं है। इस प्रकार का अर्थ-संचालन तभी हो सकता है जब रूसी सरकार को रोज़ सोने की एक नई खान मिलती जाय। यदि हम लोग थोड़ा विचार कर देखेंगे तो पता चलेगा कि सोवियट सरकार का ख़जाना सोने से उतना अधिक भरा-पूरा नहीं है। इंग्लैंड की पार्लमेंट में जाने के लिए जब सकलतवाला को रुपयों के लिए भारतवर्ष से अपील करनी पड़ती है तब इस बात पर कैसे विश्वास किया जा सकता है कि एशिया-भर में जितने मजदूरों की हड़तालें होती हैं सबों का अर्थ-संचालन सोवियट सरकार ही करती है?

इधर भारतवर्ष में भी मज़दूरों की हड़तालें बहुत अधिक हुई हैं। इसका कारण तो यह है कि मज़दूर बहुत ही दुखी अवस्था में हैं। इसमें रूस का भी थोड़ा-बहुत प्रभाव रहना सम्भव है इसीलिए कई साल पहले असेम्बली में पास न होने पर भी भारत के गवर्नर-जेनरल ने अपने विशेषाधिकार से 'पब्लिक सेफ़्टी बिल' पास कर दिया। इस क़ानून द्वारा साम्यवादी विचार वालों का अच्छी तरह दमन हो सकता था। और किया भी गया। भारतवर्ष के लगभग सभी मज़दूर नेताओं को भारतीय सरकार ने मेरठ के मामले में गिरफ्तार कर लिया। उन्हें गिरफ्तार कर सरकार मज़दूर आन्दोलन को बिल्कुल ही दबा देना चाहती थी। हाल में, लग-भग ५ वर्ष बाद उनके मुक़दमे में जो सज़ाएँ सुनाई गई हैं उनसे भी इसकी पुष्टि होती है। विद्यार्थियों के जर्मनी में भी जाने देने से ओडायर महाशय को भय होने लगा है। रूस की तो बात ही छोड़ देना चाहिए। उनका ख़याल है कि वहाँ जाकर लड़के साम्यवादियों के चक्कर में पड़ जाते हैं। शायद इस विषय में भी एक क़ानून बना दिया जाय! जो भी हो, इस प्रकार की कार्रवाइयों द्वारा आन्दोलन का दब जाना असम्भव है। एशियायी राष्ट्र रूस की ओर आकर्षित होते हैं; इसका एक कारण यह है कि रूस ने एशियायी लोगों को अपनी बराबरी का मनुष्य माना है। साम्राज्यवादी एशिया में लूट-खसोट करने के लिए आये थे। अपने नैतिक बल से उन्होंने एशियायी लोगों को अपने अधिकार में नहीं किया। वे एशियावासियों को मनुष्य भी नहीं समझते; वे उन्हें उन अधिकारों से वंचित रखना चाहते हैं जो उन्हें स्वयं बहुत

झूठा प्रचार

अधिक प्यारे हैं और जिनके लिए वे मर-मिट जा सकते हैं। रूस ने एशियायियों को मनुष्यता के अधिकार से वंचित नहीं रखा इसीलिए आज सारे एशियायी राष्ट्र उसके नेतृत्व में आगे बढ़ते हुए पश्चिम के साम्राज्यवादियों से अपना अधिकार छीन लेना चाहते हैं। अगले अध्यायों में हम लोग देखेंगे कि किस प्रकार से उन राष्ट्रों ने अधिकार—प्राप्ति के लिए लड़ाई की और अभी वे संग्राम की किस अवस्था में हैं !

[२]

क्रान्ति के पथ पर

महासमर के पहले एशियायी राष्ट्रों ने क्रान्ति की थी उसमें उन्हें बहुत-कुछ सफलता भी मिली थी परन्तु उनको विजय स्थायी नहीं रही। क्रान्ति के थोड़े ही दिनों बाद देखा गया कि सभी देशों की स्थिति क्रान्ति के पहले की तरह होती जा रही है। इसका एक बड़ा कारण था। देश में साम्राज्यवादियों की शक्ति जम गई थी। पुराने समय की राज्य-व्यवस्थाओं की तरह उनकी राज्यव्यवस्था ऐसी दुर्बल नहीं थी कि एक धक्के से ही चूर-चूर हो जाती। पुराने राज्यों की शक्ति को तो उन्होंने अपनाया ही था, साथ ही उसमें अपनी ओर से वृद्धि भी की थी। उनकी राज्यशक्ति की नींव इतनी कमजोर नहीं थी कि थोड़े से मध्यमवर्ग के लोग अपना संगठन कर उसे उखाड़ फेंकने में समर्थ हो जाते। फ्रांस, इटली अथवा अन्य देशों की तरह की क्रान्तियाँ पुरानी हो चुकी थीं। उन क्रान्तियों के ही रास्तों को अपनाकर इस समय विजय प्राप्त करना अत्यन्त कठिन था। इस समय सफलता प्राप्त करने के लिए महान शक्ति की आवश्यकता थी।

रूस के लेनिन इत्यादि ने इस विषय पर अच्छी तरह विचार किया। उन्होंने देखा कि राजसत्ता जनता के अज्ञान और उदासीन रहने का नाजायज फ़ायदा उठा लिया करती है।

जनता को सदा अज्ञान में ही रखे रहने का वह प्रयत्न करती है। अज्ञान का प्राबल्य रहने के कारण जनता अपने हिताहित का विवेचन करने में असमर्थ रहती है। वह समझती है कि वर्तमान शासक रहें वा उनके स्थान पर कुछ दूसरे मध्यमवर्ग के लोग रहें उसके लिए समान ही है। वे दोनों ही अवस्था में गरीब बने रहेंगे। दोनों में कोई भी उनकी अवस्था में सुधार नहीं कर सकेगा। उनके इस प्रकार उदासीन हो जाने से देश में क्रान्ति करने वालों, नया शासन स्थापित करने वालों को नैतिक बल प्राप्त नहीं होता था। राजशक्ति की सहायता करनेवाले पादरी, मुल्ला वा ऐसे ही धार्मिक जगत् के नेता कहलानेवाले लोग होते थे। वे राजाओं के कर्त्तव्यों पर ध्यान नहीं देते थे, सदा जनता को ही शिक्षा दिया करते थे कि उन लोगों का राजाओं के प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिए! जनता पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ता था।

जन-प्रवृत्ति की समीक्षा

लेनिन आदि ने देखा कि जब तक जनता को अपने साथ नहीं लिया जायगा उन्हें सफलता नहीं मिलेगी। विजय प्राप्त करने के लिए उन्हें नैतिक बल प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ। उन्होंने जनता में यह भाव फैलाना शुरू किया कि वे लोग जो कुछ भी कार्य कर रहे हैं कुछ थोड़े से शिक्षित मध्यमवर्ग के लोगों के लिए नहीं परन्तु सारी जनता के लाभ के लिए कर रहे हैं। वे सदा ऐसा ही प्रचार करते थे जिसमें जनता अपने लाभ का ख़याल करे और उन्हें सहायता पहुँचावे। जनता प्रत्यक्ष रूप से अधिक सहायता किसी भी संग्राम में नहीं

पहुँचाया करती, फिर भी उसकी इच्छा और सहानुभूति से बड़े-बड़े कार्य हो जाते हैं। राजशक्ति उनसे नाजायज़ फ़ायदा न उठाये तो अपना लाभ सिद्ध नहीं कर सकती।

दूसरी ओर निजी स्वार्थ-त्याग और जनता की भलाइयों का उद्देश रखकर ही पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त की जा सकती।

संगठन की आवश्यकता

जनता में इन भावों के भरने के साथ ही साथ एक संगठित शक्ति की आवश्यकता होती है। राजशक्ति थोड़े से ही लोगों के हाथों में रहती है परन्तु खूब संगठित रहने के कारण उसकी शक्ति बहुत बढ़ जाती है। जनता में भावों के फैलाने के ज़ोर पर बिना संगठित शक्ति के रहे सफलता मिल जाती है परन्तु वह सफलता स्थायी नहीं रहती। सफलता स्थायी बनाने के लिए प्रत्येक देश में एक शक्तिशाली संगठित दल की आवश्यकता होती है।

रूस में बोल्शेवी दल ने जनता में भाव फैलाये थे; उन्हें समझा दिया था कि उनके हाथ में शक्ति आने पर उनकी अवस्था बहुत सुधर जायगी; वे शिक्षित बना दिये जायंगे फिर उन्हें कोई ठग नहीं सकेगा। साथ ही उन लोगों ने अपना एक मज़बूत संगठित दल भी बना लिया था इसीलिए उन लोगों की विजय हुई। संगठित दल की महत्ता न समझनेवाले लोगों का यही ख़याल था कि बोल्शेवी शासन रूस में चार दिन की चाँदनी है। उस शासन के स्थिर एवं स्थायी रूप धारण करने पर लोग वर्तमान समय के अल्प किन्तु संगठित दल की महत्ता समझने लगे हैं। लेनिन ने अपनी एक किताब में इस प्रश्न पर विचार भी किया है कि अल्पसंख्यक बोल्शेवीदल किस प्रकार

राज्यक्रान्ति का बहुत ही अच्छी तरह अध्ययन किया। उन्होंने अपनी जीवनी में यह बात स्वीकार की है कि रूस से उन्होंने बहुत कुछ सीखा था। लेनिन से उनकी इस विषय पर बातचीत भी हुई थी। इस समय से उन्होंने जनता के महत्व को समझा।

जनता में जागृति की आवश्यकता

क्रान्ति सफल बनाने के लिए जनता में जागृति लाना आवश्यक था। उन्होंने यही कार्य किया। दल की महत्ता उनके ध्यान में आई। जब तक वे जीवित रहे कुओमिएटांग का संगठन भलीभांति करते रहे। मृत्यु के पहले उन्होंने उसे इस प्रकार से संगठित कर लिया था कि वह अल्पसंख्या में रहने पर भी राज्य चला सकती थी। इसी का परिणाम हुआ कि हजार बाधाओं के सामने रहते हुए भी कुओमिएटांग की विजय हुई। जनता की सहायता के बिना विजय नहीं हो सकती थी और दल के संगठित रहे बिना विजय स्थायी नहीं बनाई जा सकती थी। इस समय चीन की ऐसी अवस्था हो गई है कि वहां पर प्रतिक्रान्ति (Counter revolution) की तो बिल्कुल ही सम्भावना नहीं है। जनता के अधिक

चीन में—

अधिकार प्राप्त करने के लिए क्रान्ति हो सकती है परन्तु कुओमिएटांग ने अधिकारारूढ़ होने के बाद किसान तथा मजदूरों की अवस्था में बहुत सुधार किया है इसलिए इस प्रकार की क्रान्ति की भी आशा नहीं है। *चीन

*चीन में गृह-कलह तो किसी न किसी रूप में चलता ही रहा है और अब भी आदर्श संगठित शासन-व्यवस्था की स्थापना नहीं हुई है। जापान की कुदृष्टि, युरोपीय शक्तियों के अत्यधिक प्रभाव, गरीबी, अकाल तथा गृह-कलह के कारण शासन की नींव मजबूत नहीं हो पाई है और

ने साम्यवाद को स्वीकार नहीं किया परन्तु वह बहुत-कुछ उसी के रास्ते पर चला और उसे सफलता मिली।

तुर्की में—

तुर्की में भी ठीक चीन के ही जैसा कार्य हुआ। वहाँ की १९०८ की तरुण तुर्कों की क्रान्ति केवल ग्यारह महीने के लिए ही सफल हुई कही जा सकती है। अब्दुल-हमीद का अनियंत्रित शासन फिर से लौट रहा था। रूस की राज्य-क्रान्ति से सबक लेकर कमालपाशा ने जनता में राष्ट्रीय भाव फैलाये और अपना एक मजबूत दल बना लिया। इसी के आधार पर आज स्वतन्त्र तुर्की का शासन चलना सम्भव हुआ है।

फारस में—

फ़ारस में किसी संगठित दल ने क्रान्ति नहीं की। वहाँ पर एक ऐसी घटना हो गई जिसकी आशा पहले से किसी को नहीं थी। रूस ने अपना अधिकार वहाँ से उठा लिया। राज्य-शक्ति हाथ में आने पर वहाँ के लोगों ने अपने अनुभव से राज्य चलाना आरम्भ किया। रिज़ाखां पहलवी शिक्षित आदमी नहीं थे। परन्तु वायुमण्डल में जो भाव गूंज रहा था उससे प्रेरित होकर उन्होंने सभी काम ठीक-ठीक चलाया। उनके सामने इतना प्रत्यक्ष था कि युरोपीय ढंग पर राज्यसंगठन होने से राज-शक्ति दृढ़ होती है इसीलिए वे अपने यहाँ युरोपीय ढंग पर राज्य-संगठन करने लगे। अभी भी वहाँ पर एक बड़ी खराबी है जो भविष्य

न शासन व्यवस्था-सम्बन्धी साधारण एवं सैनिक उन्नति ही पर्याप्त मात्रा में हो सकी है। युवक विद्यार्थियों ने कई बार शासकों की कमज़ोरी को धिक्कारा है। —सम्पादक।

में अनिष्ट कर सकती है। रिज़ाखाँ का दल वहाँ पर संगठित नहीं है इसलिए प्रतिक्रान्ति की सम्भावना बहुत अधिक है। फारस स्वतन्त्र है परन्तु उसे स्वतन्त्र रहने के लिए इस कमी को शीघ्रातिशीघ्र दूर कर लेना चाहिए। हर्ष की बात है कि सम्राट् इस दिशा में भी प्रयत्नशील हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति की अनुकूलता के कारण अफ़ग़ानिस्तान को स्वतन्त्र बनाने में अमानुल्ला खाँ को अधिक कठिनाई नहीं हुई परन्तु अधिक दिनों तक वे अफ़ग़ानिस्तान पर शासन नहीं कर सके। उन्हें देश छोड़कर बाहर चला जाना पड़ा। इसका मुख्य कारण यही था कि उनका कोई संगठित दल नहीं था। संगठित दल के ज़ोर पर वे बहुत बड़े-बड़े सुधार भी बात की बात में लोगों से मनवा ले सकते थे। वे जनता के लिए ही सुधार करते थे परन्तु जनता उन्हें समझ नहीं पाती थी। उन्हें जनता को समझाना चाहिए था; उसके सामने चित्र खींच देना चाहिए था कि सुधारों के अपनाने से उनकी स्थिति कितनी उन्नत हो जायगी। सुधारों के लिए अमानुल्ला कर बढ़ा रहे थे परन्तु जनता अज्ञानवश उसका लाभ नहीं समझ पाती थी। यदि जनता की आँखें खोलने और उसका अज्ञान दूर करने पर दृष्टि डाली जाती तो वहाँ इस प्रकार से विद्रोह खड़ा होने की सम्भावना नहीं थी।

अफ़ग़ानिस्तान में—

भारतवर्ष में भी इस समय पहले-पहल आन्दोलन हुआ। उससे जागृति खूब अधिक हो गई और भविष्य में सफलता का पथ साफ़ हो गया परन्तु यहाँ पर संगठित दल के अभाव के कारण जितनी सफलता होनी

भारत में—

चाहिए थी उतनी नहीं हुई। गांधीजी के दल में असहयोग के समय बहुत अधिक आदमी आ गये थे परन्तु उस दल के संगठित करने पर अधिक ज़ोर नहीं दिया गया। थोड़े ही आदमी हों परन्तु खूब संगठित हों तो अधिक लाभ होता है। जिस सरकार से लड़ना है उसके संगठन की तुलना में यदि अपना संगठन बढ़ जाय तभी विजय की आशा रखनी चाहिए।

एशियायी राष्ट्रों ने यह भी देखा कि सामाजिक कुरीतियाँ, पुराने धार्मिक विचार और उनका—पुरानी चीज़ों का पुराने होने के ही कारण—आदर का भाव क्रान्ति के पथ में बाधक सिद्ध होता है इसीलिए उन्होंने इन पथ के कंटकों को दूर करने का भरपूर प्रयत्न किया। इस समय के सभी उदाहरणों में ख़िलाफ़त का उठा देना इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण है। लोगों ने जब देखा कि ख़िलाफ़त के रहने से देश पर पुनः संकट आने की सम्भावना है; देश पुनः गुलामी की जंज़ीरों में जकड़ दिया जा सकता है तो उसी समय उन्होंने इस प्राचीन प्रथा को उठा दिया। मुसलमानों की धार्मिक कट्टरता बहुत ही प्रसिद्ध है। अतः उन लोगों में इस प्रकार का परिवर्तन होना एक आश्चर्य-जनक घटना है। सभी एशियायी राष्ट्रों के भीतर इस समय यही भाव काम करने लगा कि यदि धर्मसे हमारा कोई फ़ायदा हो तो उसे मानना चाहिए,नहीं तो उसे छोड़ देनेमें ही बुद्धिमानी है।

स्त्रियों का हिस्सा

स्त्रियों की दिन-दिन ऐसी अवस्था होती जाती थी कि कुछ ही वर्षों के बाद वह उस अवस्था में पहुँच जातीं जब उनका मनुष्य नाम से पुकारा जाना भी लोगों के कानों में खटकने लगता परन्तु क्रांति आरम्भ

हो चुकी थी। स्त्रियों ने भी उसकी पूर्णता में सहायता पहुँचाई। पुरुषों ने उन्हें उठाने का प्रयत्न किया और वे स्वयं भी महा-यज्ञ में भाग लेने के लिए तैयार हो गईं। ज़ो स्त्रियाँ परदे के अन्धकार में पड़ी थीं वे ही स्त्रियां सभाओं में जाने लगीं और अपना अलग दल बनाकर राष्ट्र को उन्नति की ओर बढ़ाने में पुरुषों की सहायता करने लगीं। वे अभी तक अशिक्षित ही रखी जाती थीं परन्तु इस समय से उनकी शिक्षा के लिए भी आन्दोलन चलने लगा।

सभी एशियायी राष्ट्रों ने रूस को ही आदर्श मान लिया था। जान या अनजान में वे रूस की ही नक़ल करते थे परन्तु ऐसा कहना भी उनके उन्नति के महत्व को कम करना होगा। रूस में पहले क्रान्ति हुई थी इसलिए वे बातें वहाँ पर ही पहले दिखलाई पड़ीं। यदि एशिया के किसी देश में पहले क्रान्ति हुई होती तो सम्भव है वे बातें पहले एशिया में ही दिखलाई देतीं। इसलिए यह कहना कि सभी एशियायी राष्ट्रों ने रूस की ही नक़ल की, एक दृष्टि से एशियायी राष्ट्रों का अपमान करना होगा। सम्भव है वर्तमान युग में आर्थिक साम्राज्यवाद से टक्कर लेने के लिए क्रांति का यही एकमात्र पथ रहा हो!

[३]

नवजीवन

जब से तुर्क-साम्राज्य का अधःपतन आरम्भ हुआ वह उत्तरोत्तर नीचे ही गिरता गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग से तो युरोपीय राष्ट्र उसे 'युरोप का रोगी-मनुष्य' (Sick man of Europe) कहकर पुकारने लगे।

उलटा असर !

प्रत्येक वर्ष उसके युरोप से निकाल दिये जाने की आशा की जाती थी। महासमर के बाद मित्र-राष्ट्रों की कृपा से नक़शे से तुर्की साम्राज्य उठ-सा गया था परन्तु रोगी की मृत्यु नहीं हुई। जैसी अवस्था नेपोलियन के आक्रमण के कारण जर्मनी की हुई थी वही अवस्था मित्र-राष्ट्रों के आक्रमण से तुर्की की हुई। जर्मनी के एकीकरण और उत्थान का कारण नेपोलियन का आक्रमण था। उसी प्रकार तुर्की में नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना का कारण मित्रराष्ट्रों का तुर्क-साम्राज्य का ध्वंस कर देना और सुलतान का अपने अधीन कर लेना हुआ। जब तुर्की के साथ समझौता करने की शर्तें तैयार की जा रही थीं तभी इटली के प्रधान मंत्री निट्टी ने मित्र-राष्ट्रों से कहा था--

"आप लोगों ने तुर्क-साम्राज्य का पवित्र शहर एड्रियानोपोल ले लिया है। तुर्कों की राजधानी को विदेशियों के अधीन रखा है; उनके साम्राज्य का अधिकांश भाग और प्रत्येक बन्दर-

गाह ले लिया है; वहां के ऐसे पाँच प्रतिनिधियों से सन्धि-पत्र पर दस्तख़त कराने जारहे हैं जो आपके ही द्वारा चुने हुए रहेंगे और जिसमें तुर्कों का अथवा तुर्की पार्लमेंट का कोई हाथ नहीं रहेगा। इन सब बातों से एशिया माइनर में लड़ाई छिड़ जायगी उस समय हमारा देश न तो एक भी सैनिक भेजेगा और न ख़र्च के लिए एक पैसा देगा।"

निट्टी का कहना सत्य निकला। तुर्क लोगों ने निश्चित कर लिया कि मित्रराष्ट्रों की चालों द्वारा उनके शिकार बनकर जीवित रहने की अपेक्षा लड़ते हुए मर जाना अधिक श्रेयस्कर होगा। उन्होंने लड़ाई छेड़ दी और उसके परिणाम-स्वरूप वे रोगोन्मुक्त हो गये। मुस्तफ़ा कमालपाशा-द्वारा निर्मित तुर्की राष्ट्र रोगी कहकर घृणा किये जाने योग्य नहीं रहा।

तुर्की की इस विजय का श्रेय वहाँ की लड़नेवाली बहादुर सेना की अपेक्षा उसके चतुर राजनीतिज्ञ नायकों को कहीं अधिक है। तुर्की की विजय का मुख्य कारण मित्र-राष्ट्रों की आपस की फूट थी। वे आपस में साम्राज्य के बँटवारे के लिए ही झगड़ने लगे। फ्रांस ने समझा कि उसे ग्रेटब्रिटेन ने हेजाज़ के शरीफ़ के साथ गुप्त समझौता कर धोखा दिया है। इटली एशिया माइनर में युनान की बढ़ती नहीं देख सकता था; फिर उसे कोई हिस्सा भी नहीं मिलनेवाला था। दूसरी ओर राष्ट्रीय तुर्की और सोवियट सरकार का लाभ इसी में था कि दोनों एक-साथ मिलकर अंग्रेजों से लड़ें। अंग्रेज दोनों के ही शत्रु थे।

पश्चिम एशिया में फ्रांस की बढ़ती से अंग्रेज बहुत घबड़ाते थे। उन्होंने उसे रोकने के लिए युनान को मजबूत कर देना

चाहा इसीलिए इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान-मंत्री लायडजार्ज ने युनान के स्मर्ना पर क़ब्जा जमाने के लिए बहुत जोर दिया। युनानियों और तुर्कों का झगड़ा बहुत दिनों से चला आता था। युनान का स्मर्ना पर क़ब्जा होना मित्रराष्ट्रों के प्रति तुर्कों के भीतर आग पैदा होना था। इसीकारण तुर्की के भीतर इतना जोश आया कि जबतक वह स्वतंत्र नहीं हो गया उसने दम नहीं लिया। युनान को सेना तुर्कों पर बहुत अत्याचार करती थी इससे तुर्क अधीर और अशान्त हो गये। इसी समय १९१९ के मई महीने में स्मर्ना के पास की सेना ने मित्रराष्ट्र और केन्द्रीय सरकार के ख़िलाफ़ विद्रोह किया। कुस्तुनतुनिया से मुस्तफ़ा कमालपाशा विद्रोह दबाने के लिए भेजे गये परन्तु वे भी राष्ट्रीय विचार के थे इसलिए विद्रोहियों के ही साथ मिल गये। उन्होंने युनान और तुर्की की लड़ाई को राष्ट्रीय लड़ाई बना दिया और तुर्क लोगों को एक होकर विदेशी सरकार के खिलाफ़ लड़ने के लिए तैयार हो जाने को कहा। उन्होंने आवाज उठाई—'तुर्की तुर्कों का है।' उन्होंने अंगोरा में १९२० के अप्रैल में 'ग्रेट नेशनल एसेम्बली' (राष्ट्रीय महासभा) स्थापित की और अपना काम बड़ी कुशलता से आगे बढ़ाने लगे। उनकी सरकार को मित्रराष्ट्रों ने स्वीकार नहीं किया परन्तु सोवियट सरकार ने उन्हें बधाई दी। अंगोरा की सरकार ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। यह मित्र-राष्ट्रों को दी गई चुनौती थी। सैवरे की सन्धि का समाचार अंगोरा पहुँचा तो कमालपाशा ने कहा—

तुर्की की स्वातंत्र्य-घोषणा

हम क़यामत (प्रलय) के दिन तक इसके विरुद्ध लड़ाई करेंगे ।

सैवरे की सन्धि से मुसलमान—संसार में खलबली मच गई। उन लोगों ने समझा इस समय मुसलमानों पर बहुत बड़ी मुसीबत आपड़ी है इसलिए सब को एक हो जाना चाहिए । अफ़ग़ानिस्तान, फ़ारस और बोखारा की सरकार ने अंगोरा की सरकार से आपस में एक मजहब होने के कारण एकता की सन्धि करली । भारतवर्ष से हिन्दू-मुसलमान दोनों ने ही 'ख़िलाफ़त' 'ख़िलाफ़त' की आवाज उठाई । इस समय सभी मुसलमानों की आंखें अंगोरा की सरकार पर लगी हुई थीं । अरबों ने भी कमालपाशा को इस समय सहायता पहुँचाई । वहाँ के लोगों का भाव एक अरब राष्ट्रवादी नेता ने निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया—

मुसलमानों में घोर असन्तोष

"अंग्रेज और फ्रांसीसियों को समझ लेना चाहिए कि अरब और तुर्क एक ही मजहब के मानने वाले हैं। वे दोनों ही अनेक शताब्दियों से एक राज्य में रहते चले आये हैं। इस समय अरब अपने भाई तुर्कों से झगड़ा कर युरोपियन लोगों की दासता स्वीकार नहीं करेंगे।"

इसी समय तुर्कों के सदा के शत्रु रूस ने १६ मार्च १९२१ को तुर्कों से सन्धि करली । आरमीनिया में अंग्रेजों ने ही विद्रोह का बीज बोया था । उसके भाग्य का भी निपटारा इसी समय सोवियट और अंगोरा की सरकार ने कर लिया । दोनों ने ही उसे आपस में बाँट लिया ।

सैवरे की सन्धि मनवाने के लिए अंग्रेज़ बहुत बेचैन हुए। वे फ्रांस को दबाने के लिए युनानियों को उस्काते थे परन्तु उन्हें इस बात का ख़याल नहीं था कि आगे चलकर कमालपाशा आ जायगा, रूस बाधक होगा अथवा फ्रांस तुर्कों से अलग सन्धि कर लेगा। और दूसरा उपाय न देखकर अंग्रेजों ने यूनान को सहायता दी और तुर्कों पर चढ़ाई करने के लिए कहा। यूनान वाले अपना साम्राज्य बढ़ाना चाहते थे इसलिए वे अंग्रेजों के कहने में आ गये। तुर्कों और युनानियों की लड़ाई चल रही थी। फ्रांस अंग्रेजों की चाल से जला हुआ था इस-लिए उसने युनान की शक्ति कम कर देने का प्रयत्न किया। उसने साइलेशिया खाली कर दिया और १९२१ के अक्तूबर में अंगोरा-सरकार से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार तुर्कों का सारे साइलेशिया पर कब्ज़ा हो गया और तुर्क साम्रा-ज्य तथा सीरिया की सीमा निश्चित कर दी गई। फ्रांस के इस प्रकार के सन्धि कर लेने से अंग्रेज और फ्रांसीसियों का मनमुटाव और भी अधिक बढ़ गया। अंग्रेज युद्ध-सामग्री द्वारा युनान की और फ्रांसीसी रुपयों और हथियारों से तुर्कों की सहायता करते रहे। रूस ने भी तुर्कों की काफ़ी सहायता की। रूसी-तुर्की सीमा पर उसने अंग्रेजों को तुर्कों के ख़िलाफ़ फारस की खाड़ी की ओर से बढ़ने से रोक दिया। १९२२ के बीच में अंग्रेजों ने युनान को कुस्तुनतुनिया पर कब्ज़ा करने के लिए कहा परन्तु उस शहर की रक्षा स्वयं फ्रांस के एक सेनापति ने की। युनान की सेना पीछे हटती गई और अन्त में ९ सित-

फ्रांस और ब्रिटेन की तनातनी

म्बर को स्मर्ना पर भी तुर्कों का क़ब्ज़ा हो गया। इसी समय दर्रे दानियाल के चारों तरफ़ भी तुर्कों ने क़ब्ज़ा कर लिया। यह मित्रराष्ट्रों को प्रत्यक्ष चुनौती थी परन्तु वे इस समय कुछ भी कर नहीं सके। इस समय मुस्तफ़ा कमाल-पाशा खुदा के सच्चे बंदे समझे जाने लगे।

तुर्की की विजय

खलीफ़ा की इज्जत उनके सामने कुछ भी नहीं थी। तुर्क भी इस समय और लड़ना नहीं चाहते थे और ग्रेटब्रिटेन ने भी विकट अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति आ पड़ने के कारण तुर्की से लड़ने का ख़याल छोड़ दिया। सन्धि करने के लिए लुसान में कान्फ्रेंस बुलाई गई। रूस को उसमें शामिल नहीं होने दिया गया। अमेरिका भी इसमें शामिल नहीं हुआ।

लुसान की सन्धि द्वारा सैवरे की सन्धि रद्द हो गई। सन्धि-पत्र पर २४ जुलाई १९२३ को दस्तख़त हो गया इसमें तुर्की की ओर से इस्मतपाशा शामिल हुए थे। उन्होंने लड़-झगड़ कर, फ्रांस इंग्लैंड के झगड़े से लाभ उठाकर तुर्की की ख़ास-ख़ास सभी माँगें मनवालीं। इसके अनुसार स्मर्ना, पूर्वी थ्रेस, आरमी-निया, साइलेशिया, कुस्तुनतुनिया और अनाटोलिया पर तुर्क लोगों का क़ब्ज़ा हुआ। युरोपियन लोगों को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे वे भी उठा दिये गये। तुर्की ने ईसाई तथा अल्पसंख्या वाली जातियों की रक्षा करने का वादा किया। युनान और तुर्की में यह भी तै हुआ कि युनान में बसनेवाले तुर्क तुर्की में चले जायँ और तुर्की में बसने वाले युनानी युनान में चले जायँ। तुर्की इस समय सभी प्रकार के विदेशी बन्धन से मुक्त हो गया, अनेक शताब्दियों से जो स्वतंत्रता उसने नहीं भोगी थी वैसी इस-

समय भोगने लगा। इस समय मित्रराष्ट्रों के आर्थिक बन्धनों से भी वह छूट गया। अपनी स्वतंत्रता की लड़ाई में तुर्की ने रूस की सहायता ली थी, परन्तु लूसान की सन्धि के समय उसने मित्रराष्ट्रों से मेल न करने की रूस की सलाह नहीं मानी। तुर्क चाहते थे कि लुसान की सन्धि सभी राष्ट्र मान लें इससे तुर्की ने यह भी सिद्ध करके दिखला दिया कि तुर्की रूस का अन्ध भक्त नहीं है।

तुर्की की विजय का महत्व

केवल तुर्की के लिए ही नहीं परन्तु सारे एशिया के लिए लुसान की सन्धि एक विशेष महत्व की चीज है। प्राच्य देश पाश्चात्य देशों से किसी बात में कम नहीं हैं यह भाव इस सन्धि ने स्थापित कर दिया। रूस-जापान युद्ध का जो महत्व था लुसान की सन्धि का भी वही महत्व है। १९१९ में युरोपियन शक्तियाँ, ख़ासकर अंग्रेज़, बहुत ही अधिक अर्थ-लोलुप हो गये थे। यदि उन्होंने थोड़ी उदारता दिखलाई होती तो तुर्की में इस प्रकार की जागृति नहीं हो पाती। १९२१ से ही पश्चिमी एशिया-सम्बन्धी अंग्रेजों की सारी राजनैतिक चालें बिगड़ गईं। अंग्रेजों की धाक और सम्मान पर इस समय जितना धक्का पहुँचा उसकी क्षति-पूर्ति नहीं हो सकती। अंग्रेजों की हार केवल इस बात में नहीं हुई कि उन्होंने युनानियों का साथ दिया और युनानी हार गये; उनकी हार तुर्की में आत्म-सम्मान खोने से अफ़ग़ानिस्तान, फारस, अरब, भारतवर्ष चारों ही ओर हुई। तुर्कों के साथ अलग सन्धि कर लेने से फ्रांस को थोड़ा आर्थिक लाभ भले ही हो गया हो परन्तु युरोपियनों की धाक की क्षति के कारण जितनी

क्षति फ्रांस को पहुँची वह कम नहीं थी। साम्राज्यवाद के खिलाफ़ एशिया की क्रान्ति में लुसान की सन्धि एक विशेष महत्व रखती है। प्राच्य देशों के छुटकारा पाने में यह एक विशेष अवस्था की सूचना थी।

तुर्की प्रत्यक्ष साम्राज्यवाद के पंजे से छूट गया परन्तु शांतिमय साम्राज्यवादी नीति से अपना छुटकारा नहीं कर सका।

ताड़ से गिरा तो खजूर में अटका !

शांतिमय साम्राज्यवाद की नीति बर्तनेवाला सब से बड़ा राष्ट्र अमेरिका था। उसी ने सब से पहले तुर्की को अपने बन्धन में जकड़ना चाहा। १९२३ में तुर्की से 'चेस्टर कन्सेशन' लिये गये। तुर्क समझते थे कि अमेरिका उनपर अपना राजनैतिक आधिपत्य नहीं जमायगा इसीलिए उन्होंने वहाँ की कम्पनियों को सुविधाएँ दीं। दूसरा कारण यह भी था कि तुर्क लुसान की कान्फ्रेंस में अमेरिका को अपनी ओर मिलाकर अपना पक्ष पुष्ट करना चाहते थे। ३० अप्रैल १९२३ को 'चेस्टर कंसेशन' दिये गये थे। इस सुविधा के अनुसार 'ओटोमन अमेरिकन डेवलपमेंट कंपनी' को बर्लिन-बग़दाद रेलवे की अपेक्षा भी अधिक लाभ होने की सम्भावना थी। चेस्टर सिंडिकेट को पूर्वी अनाटोलिया, आर्मीनिया में अंगोरा होते हुए कृष्णसागर के किनारे से लेकर भूमध्यसागर पर अलेकजेण्ड्रट्टा को मिलाते हुए मोसल और उत्तरी मेसोपोटामिया तक रेल बनाने का अधिकार मिला था। पूरी रेलवे लाइन २७१४ मील लम्बी तैयार होने को थी। यह बग़दाद रेलवे से भी बड़ी योजना थी। उस कंपनी को रेलवे लाइन की दोनों ओर २० किलोमिटर के भीतर की खानों का भी अधि-

कार दिया गया था। अंगोरा बसाने और बन्दरगाह तैयार करने का ठेका भी उसी कंपनी को तुर्की सरकार ने दिया था।

इंग्लैंड और फ्रांस दोनों देशों की कम्पनियों को इससे ईर्षा हुई। लुसान की कान्फ्रेंस में अंग्रेज़ कम्पनियों को तुर्की-साम्राज्य में जो विशेषाधिकार थे उन्हें अमेरिकन मानने के लिए तैयार नहीं थे। अंग्रेज भी चेस्टर को दी गई सुविधाओं को यथासम्भव कम कर देने की कोशिश कर रहे थे इसीलिए ग्रेटब्रिटेन मोसल पर अपना दख़ल जमाना चाहता था। मोसल पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो जाने से तुर्की सरकार को वहाँ पर चेस्टर को सुविधा देने का अधिकार नहीं रह जाता था। गुप्त सन्धियों के द्वारा मोसल में टर्किश पेट्रो-लियम कम्पनी (अंग्रेजी कम्पनी) को सुविधा देने का वादा करा कर मोसल को अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को दे दिया था। आगे चलकर मोसल के बदले दूसरा स्थान देकर ग्रेटब्रिटेन ने फ्रांस से मेसोपोटामिया के संरक्षित राज्य में ही मोसल को भी शामिल करालेने की बात पक्की करली थी इसलिए इस समय वे मोसल पर अपना अधिकार बतलाते थे। दूसरी ओर तुर्की सरकार उस पर अपना अधिकार बतलाती थी, लुसान कान्फ्रेंस में इस मामले का निपटारा नहीं हो पाया था। मोसल का झगड़ा यहाँ तक बढ़ा कि ग्रेटब्रिटेन और तुर्की सरकार में युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना दिखलाई देने लगी परन्तु तुर्की के राष्ट्रीय नेता अपनी कमजोरियों को जानते थे। इसी समय कुर्दिस्तान में कुर्दों ने तुर्की सरकार के ख़िलाफ़। क्रान्ति कर दी। इससे बाध्य होकर तुर्कों ने अंग्रेजों से मेल कर लेने में ही अपनी भलाई

मोसल का झगड़ा

देखी। वे इस समय समझ गये थे कि फ्रांस से उन्हें सहायता नहीं मिलेगी। इटली भी अंग्रेजों का साथ दे रहा है, साथ ही भारतवर्ष के मुसलमान भी अंग्रेजों के भक्त हो गये हैं, इसलिए अंग्रेजों पर दबाव नहीं डाला जा सकेगा। रूस की सहायता पर उन्होंने अधिक निर्भर नहीं किया। इसलिए ग्रेटब्रिटेन से लड़ने का विचार छोड़ दिया। मोसल का मुक़दमा राष्ट्र-संघ के सामने पेश हुआ। उसमें अंग्रेजों की ही विजय हुई। तुर्की के राष्ट्रीय नेताओं ने पहले तो राष्ट्र-संघ के फ़ैसले का विरोध किया परन्तु कुछ ही दिनों बाद उसे चुपचाप मान लिया। मोसल इराक़ के क़ब्जे में रहा। इराक़ पर अंग्रेजों का प्रभुत्व था। अंग्रेजी सरकार ने अपने संरक्षित इराक़ सरकार से ७५ वर्ष के लिए मोसल और बग़दाद से तेल निकालने की सुविधा 'टर्किश पेट्रोलियम कम्पनी' (अंग्रेज़ी कम्पनी) के लिए ले ली। अमेरिकन तेल की कम्पनियाँ अंग्रेज़ी कम्पनियों से झगड़ने लगीं। अन्त में १९२५ में तेल के झगड़े में समझौता हो गया। अमेरिकन कम्पनियों को भी तेल में हिस्सा मिला।

लगभग १९१८ से ही तुर्की के इतिहास में साम्राज्यवाद के प्रतिनिधि तेल का मुख्य भाग रहा है परन्तु और दूसरे भी महान् परिवर्तन उस समय से हुए हैं। तुर्की के लोग केवल राजनैतिक स्वतंत्रता से ही प्रसन्न नहीं हुए। उन्होंने आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने की भी यथासाध्य चेष्टा की। लुसान की सन्धि से आर्थिक बन्धन टूट गये थे परन्तु तुर्की अपने पाँवों पर खड़ा हो सकता था वा नहीं इसमें सन्देह था। पहले तुर्क स्वयं व्यवसाय नहीं करते थे। उनके यहाँ व्यवसाय करनेवाले

आर्मीनियन, युनानी और यहूदी थे; ये ही लोग उधार रुपया भी दिया करते थे। रेल, खान आदि का अधिकार तुर्की-सरकार विदेशी व्यवसायियों को दे देती थी। राष्ट्रीय सरकार ने इस प्रकार के साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ भी क्रान्ति की। स्वतंत्र हो जाने पर तुर्क लोगों ने व्यावसायिक क्षेत्र में आरमीनियन और युनानियों का स्थान लेना शुरू किया। अब विदेशी लोगों को पहले की भाँति सुविधाएँ देने का विचार छोड़ दिया गया है क्योंकि वे समझने लगे हैं कि युरोपियन साम्राज्यवादी उँगली पकड़ते-पकड़ते बाँह पकड़ लेते हैं। उन सुवि-धाओं के ही कारण उनका देश विदेशियों के हाथ में चला जाता है। इस मामले में अब वे यहाँ तक आगे बढ़ गये हैं कि क़ानून बनाकर तुर्की के सभी प्रकार के पद, असाधारण आवश्यकता को छोड़कर, तुर्की के नागरिकों के लिए ही सुरक्षित कर लिये गये हैं। थोड़े से विशेषज्ञों के लिए अपवाद कर दिया गया है। 'तुर्की तुर्कों का है' यह बात इस समय अक्षरशः प्रत्यक्ष दीख रही है। कोई भी सभ्य देश अपने देश में विदेशी लोगों को नौकरी वा वैसा पद नहीं देता जिसमें वे वहां के अधिकारी बन जायँ। अभी सरकार को कुछ निपुण लोगों की आवश्यकता है इसीलिए थोड़े से लोग रखे गये हैं। वे लोग भी अधिक दिनों तक नहीं रखे जायँगे।

नौकरियों का राष्ट्रीयकरण

तुर्क जो कुछ भी करते हैं तुर्की की ही दृष्टि से करते हैं। तुर्क-साम्राज्य क़ायम रखना और उसे शक्तिशाली बनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य है। यदि वे अपनी भलाई की सम्भावना देखेंगे तो

उन्हें अपने पुराने शत्रुओं से मित्रता कर लेने में भी हिचकिचाहट नहीं होगी। अभी तुर्की की यही इच्छा है कि वह अपनी इज्जत क़ायम रखते हुए शान्तिमय जीवन बितावे। फिर तुर्क जानते हैं कि उन्हें संसार के और राष्ट्रों से सम्बन्ध जारी रखना ही होगा। तत्काल उन्हें रेल बनाना है, जल-सेना तैयार करनी है, हवाई जहाज रखने हैं और अपने शिल्प को बढ़ाना है। इसके लिए उन्हें क़र्ज़ लेने की आवश्यकता है। विदेशी पूँजी के बिना वे अपने उद्देश्यों में सफल नहीं हो सकते। रूस उन्हें इस प्रकार की सहायता देने में असमर्थ है। साथ ही तुर्क रूस को बहुत अधिक शक्तिशाली भी नहीं बनने देना चाहते हैं क्योंकि उन्हें उससे खतरा है। तुर्क इस समय मध्यएशिया की ओर बढ़कर एक महान तुर्क-साम्राज्य क़ायम करना चाहते हैं; इसमें रूस बाधक सिद्ध होगा। कमालपाशा ने स्वतंत्र होने के समय रूस से सहायता ली परन्तु वे साम्यवादी विचार के नहीं थे। साम्यवादी विचारों से वे चिढ़ते हैं क्योंकि उसमें तुर्क साम्राज्य की भलाई नहीं है। उन्होंने एशिया माइनर में बोल्शेवी प्रचारकों को क़ैद कर लिया और काकेशस की सरहद पर कई बार रूसी और तुर्की सेना में लड़ाई भी हो गई है। तात्पर्य यह है कि कमालपाशा रूस से तुर्क-साम्राज्य की भलाई नहीं देखते, इसी लिए वे रूस के साथी नहीं हैं। वे समझते हैं कि नवीन तुर्की के लिए अधिक भलाई इसी में है कि तुर्की युरोपीय राष्ट्रों के साथ आर्थिक समझौता कर ले जिसमें उसे सहायता मिले। १९२७ में तुर्की के अर्थ-सचिव अब्दुल हलीक़ बे ने इसी कार्य के लिए लंदन, पेरिस, स्वीडेन आदि स्थानों की यात्रा की थी।

अमेरिका ने विदेशियों के विशेषाधिकार हटाये जाने वाली सन्धि पर दस्तखत नहीं किया फिर भी अमेरिका से मित्रता स्थापित रखने की तुर्क लोगों ने भरपूर कोशिश की है। इसके लिए उन्होंने अमेरिकन कम्पनियों को बहुत अधिक सुविधाएँ दी हैं।

तुर्की स्वतंत्र हो गया; उसके बाद तुर्क राजनीतिज्ञों ने लोगों के धार्मिक और सामाजिक जीवन में महान् परिवर्तन करना आरम्भ किया। कमालपाशा का नाम इस समय बहुत प्रसिद्ध हो चुका था। उन्होंने ही तुर्क-साम्राज्य को युरोपीय साम्राज्यवाद के चंगुल से बचाया था। सभी लोग इस समय समझ रहे थे कि बचाये जाने का सारा श्रेय कमालपाशा को ही है। कमालपाशा स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले राष्ट्र का आदर्श व्यक्ति है इसीलिए केवल तुर्की के ही नहीं परन्तु सारे संसार के मुसलमान उन्हें आदर की दृष्टि से देखने लगे। कमालपाशा ने भी इस बात का अनुभव किया। उन्होंने भी समझ लिया कि युनान को लड़ाई में परास्त करने के बाद वह जो चाहे कर सकते हैं; कोई भी उनके विरोध में खड़ा नहीं हो सकता।

आन्तरिक सुधार

लड़ाई करते समय तुर्की नेताओं को सुलतान और खिलाफत दोनों के ही क़ायम रखने की आवश्यकता थी। यदि आरम्भ में ही उन्होंने सुलतान को गद्दी से उतार दिया होता तो दूसरी जगह के मुसलमान उनके विरोधी हो जाते। परन्तु सैवरे की सन्धि लोप कर देने और तुर्की का नक़शा बदल डालने के बाद वह करना भी सरल हो गया। तुर्की का वास्तविक शासनाधिकार वहां की बड़ी राष्ट्रीय

प्रजातंत्र की घोषणा

मजलिस के हाथ में था; फिर भी कानून के हिसाब से छठा महम्मद सुलतान था। सुलतान के रहने से तुर्क-साम्राज्य पर फिर से संकट आने की संभावना थी इसलिए १ नवम्बर १९२२ से सुलतान बनने की प्रथा ही उठा दी गई। खिलाफ़त की प्रथा रखी गई परन्तु उसे चुनने का अधिकार मजलिस को था। कमालपाशा की व्यक्तिगत ख्याति के कारण इसका विरोध किसी ने भी नहीं किया। २९ अक्तूबर १९२३ को तुर्की प्रजातन्त्र की घोषणा करदी गई। कमालपाशा नये प्रजातन्त्र-शासन के सभापति बनाये गये। वे केवल सभापति ही न थे; तुर्की के विषय में वे चाहे जो कर सकते थे। प्रजातन्त्रवादियों ने भी उनका विरोध नहीं किया क्योंकि सभी जानते थे कि नये प्रजातन्त्र के लिए एक होकर काम करना ही अच्छा है। तुर्की में बहुत दिनों से सुलतान का राज्य चला आया था; वहाँ के अधिकतर लोग यह भी नहीं समझ पाते थे कि प्रजातन्त्र किसे कहा जाता है; इससे कमालपाशा को सुविधा थी।

तुर्की के युरोप में बढ़ने की सम्भावना नहीं है। एशिया में ही अपनी शक्ति संचय करना और उसी ओर बढ़ना तुर्की ने अपना लक्ष्य बनाया। इसी विचार से महासमर के बाद तुर्की नेताओं ने अंगोरा में नई राजधानी बसाई। कुस्तुनतुनिया उजड़ गया। तुर्क-साम्राज्य से बहुत-से प्रदेशों का निकल जाना भी अच्छा ही हुआ। साम्राज्य बड़ा था परन्तु संगठित नहीं था इसलिए वह कमज़ोर था। उससे अच्छा छोटा किन्तु संगठित राज्य ही होता है।

लुसान की सन्धि के बाद तुर्की मजलिस ने अपनी अधि-

क़ांश शक्ति घरेलू मामलों का सुधार करने में ही लगाई। मुस्लिम-संसार में खलीफा का बहुत आदर था। यह प्रथा बहुत पुरानी थी परन्तु तुर्की के सुलतान लगभग तीन सौ वर्षों से ही खलीफा होते आते थे। कमालपाशा तुर्की को बीसवीं शताब्दी के संसार में लाना चाहते थे। दूसरी क़ौमों के साथ बराबरी रहे इसलिए वे तुर्की की कायापलट करना चाहते थे। मुसलमान-संसार से खलीफा का उठा दिया जाना असम्भव-सा था परन्तु कमालपाशा ने उसे भी कर दिखाया। २ मार्च १९२४ ई० को खिलाफत उठा दी गई। राजघराने के जितने आदमी थे सबको तुर्की से बाहर निकाल दिया गया। खिलाफत उठ जाने से साधारण जनता को विशेष धक्का नहीं पहुँचा। जिन लोगों का अपना स्वार्थ होता है वे ही लोग इन बातों में अधिकतर भाग लिया करते हैं। लोगों का खयाल था कि यदि कमालपाशा न होते तो वे साम्राज्यवाद के चंगुल से न बच पाते। इसलिए वैसा आदमी यदि कुछ ज्यादती भी कर दे तो सह लेना चाहिए। लोग समझ रहे थे कि कमालपाशा के बिना तुर्की का काम नहीं चलेगा इसलिए उनका अधिक विरोध नहीं हुआ। उस समय से धार्मिक और राजनैतिक क्षेत्र अलग-अलग हो गये। मुल्लाओं के विशेषाधिकार छिन गये। मुसलमानों के कानून की पुरानी किताब—शरियत उठा दी गई और उसके बदले में नया सिविलकोड जारी किया गया।

धार्मिक सुधार

कमालपाशा का मुख्य उद्देश्य अन्धविश्वास को हटाना है। वह बुद्धिवादी हैं और चाहते हैं कि लोग प्रत्येक कार्य

पर विचार करें कि वह युक्तिसंगत है या नहीं। कमालपाशा के आने से तरुण तुर्कों की नीति में परिवर्तन हुआ। नये लोगों के सामने युरोपीय राष्ट्रों का नमूना है। तुर्की के नये सुधारकों की दृष्टि में युरोपीय राष्ट्रों की वर्तमान उन्नतावस्था का मुख्य कारण उनका मध्ययुगीन क्रिश्चियन भाव को छोड़कर नये वैज्ञानिक युग में आना था, इसीलिए वर्तमान तरुण तुर्क इस्लाम की पुरानी परिपाटी हटाकर उसके स्थान पर राष्ट्रीयता का भाव भरना चाहते थे। कमालपाशा ने लोगों को सलाह दी कि वे कुर्बानी के लिए जानवरों के ख़रीदने में पैसे न लगाकर राष्ट्र के लिए हवाई जहाज़ खरीदने में लगावें जिसमें तुर्की की स्वतंत्रता सदा क़ायम रह सके।

अपनी शक्ति जमाते ही कमालपाशा ने लोगों के रहन-सहन, आचार-विचार में परिवर्तन करने आरम्भ किये। उन्होंने

अन्धविश्वास से युद्ध

सभी बातों में पाश्चात्य राष्ट्रों की ही नक़ल की। क्योंकि उनका ख़याल है कि पाश्चात्य रहन-सहन अपनाने से ही उन्नति होगी। पहरावे के विषय में फ़ेज के बदले हैट पहनने और तुर्की की पोशाक के बदले युरोपियन ढंग की पोशाक पहनने की आज्ञा निकाली। स्त्रियों को पुरुषों के ही बराबर के सभी अधिकार दिये गये। 'हरम' की प्रथा उठा दी गई। सरकारी नौकरी करने वाली स्त्रियों के लिए घूँघट निकालने की भी मनाही हो गई। दूसरी स्त्रियों से भी उन्हीं स्त्रियों की नक़ल करने के लिए कहा गया। विवाह और तलाक़ के नये क़ानून बना दिये गये। अब धर्म और राजनीति अलग-अलग काम कर रहे हैं इस-

लिए क़ुरान के अनुसार चार-चार शादियाँ करने के वदले एक तुर्क एक ही शादी कर सकता है। तुर्की की स्त्रियाँ अब तलाक़ दे सकती हैं। वहाँ की स्त्रियाँ रहन-सहन आदि सभी मामलों में पेरिस की ही नक़ल करती हैं।

शाही ज़माने के गहने लगभग दो करोड़ पौंड के थे। कमालपाशा ने उन्हें पेरिस और लंदन में वेंचकर तुर्की के लिए स्टेट वैंक स्थापित किया। तुर्की की पुरानी यंत्री उठा दी गई, उसके वदले ग्रेगैरियन यंत्री रखी गई। तुर्की भापा राष्ट्रभापा वनाई गई। शिक्षा के सम्वन्ध में भी वहुत से परिवर्तन किये गये। थोड़े से तुर्क युरोपीय देशों को शिक्षा-प्रणाली का अध्ययन करने गये। ३० अगस्त १९२८ को घोपणा की गई कि तुर्क राष्ट्र को अज्ञान से वचाने लिए अरवी लिपि दूर करके लैटिन लिपि काम में लाई जायगी। तुर्की के शिक्षा-विभाग ने सभी सरकारी दफ़्तरों में सूचना भिजवा दी कि अक्तूवर के महीने तक नई लिपि लोगों को आ जानी चाहिए। कमालपाशा ख़ुद ही अनाटोलिया के शहरों में घूम-घूमकर लोगों को नई लिपि सिखलाने लगे। उन्हें उमीद है कि कुछ ही वर्षों में सारी तुर्की जनता शिक्षित हो जायगी। तुर्की भापा का एक नया कोप भी तैयार किया गया है।

कमालपाशा के उन सुधारों से, जिनसे मुसलमानों का धार्मिक सम्वन्ध था, कुछ कट्टर मुसलमान विगड़ खड़े हुए,

विरोध और प्रतीकार

परन्तु वे तुरत ही दवा दिये गये। १९२५ के लगभग तुर्की असेम्वली में भी थोड़ा मत-भेद हो गया। 'टर्किश युनियन एंड प्रोग्रेस' पार्टी के कुछ पुराने सदस्य

कमालपाशा का डिक्टेटर बनना देख बिगड़ खड़े हुए। उनमें से कुछ ने कमालपाशा को मार डालने का भी प्रयत्न किया परन्तु वे सफल नहीं हुए। १९२६ की जुलाई में वहाँ पर तेरह प्रमुख व्यक्तियों को सजा दी गई। उनमें कई फाँसी पर भी लटका दिये गये। उनका विद्रोह कुछ वैसा संगठित नहीं था। जैसी परिस्थिति है और कमालपाशा ने तुर्की में जो महान् परिवर्तन थोड़े समय में कर दिखाया है उसे देखते हुए यह कहा जा सकता है कि कमालपाशा के जीवित रहते उनके खिलाफ़ दूसरे लोगों की नहीं चलेगी क्योंकि जनता पर उनका बहुत अधिक प्रभाव है। अलबानिया के प्रजातंत्र शासन में अहमद बेग जोगू के राजा हो जाने पर १९२८ के सितम्बर में ऐसी अफवाह उड़ी थी कि कमाल पाशा भी तुर्की के राजा हो जायँगे। इसके लिए बहुत से लोगों ने उनके पास अर्ज़ियाँ भी भेजी थीं परन्तु उसी साल अक्तूबर के महीने में कमाल पाशा ने इस बात का विरोध किया और 'पेटिट पैरीसियन्स' अखबार के प्रतिनिधि से कहा कि वे अल्बानिया का राजा अहमद बेग जोगू को कभी भी स्वीकार नहीं कर सकते। उनके विरोध के लिए संसार में अकेला कमालपाशा भी रह जाय तो भी वह विरोध करता ही जायगा।

इस समय तुर्की शान्तिपूर्वक उन्नति कर रहा है। वहाँ पर किसी प्रकार का विद्रोह नहीं चल रहा है। तुर्की प्रजातन्त्र सभी प्रकार के षड्यन्त्रों से मुक्त है। इटली और तुर्की प्रजातंत्र एक दूसरे पर पहले सन्देह कर रहे थे परन्तु चार-पाँच साल पहले में जो सन्धि हुई उससे वे सभी सन्देह दूर हो गये। युनान

के साथ भी उसका अच्छा सम्बन्ध है। तुर्की सरकार इस समय देश के भीतरी मामलों के सुधार करने में लगी है। सिंचाई, रेल बनाना, बीमारियों का दमन करना आदि कार्य जारी हैं। वहाँ पर कर बढ़ा दिया गया है और विदेशी लोगों से ऋण लेना बंद कर दिया गया है।

आर्थिक अवस्था

तुर्की की आर्थिक अवस्था वैसी बुरी नहीं है। लुसान की सन्धि में निश्चित हो गया था कि तुर्की के सुल्तानों ने विदेशी शक्तियों से लड़ाई के पहले जो ऋण लिया है उसका ६० प्रतिशत ही वर्तमान तुर्की सरकार पर है। तुर्की उस रकम को और भी कम कराना चाहता है और इसीलिए फ्रांस पर ज़ोर डाल रहा है। इस समय तुर्की सरकार का मुख्य कार्य सुधार करना है।

आत्मावलम्बी सरकार

तुर्की सरकार किसी भी प्रकार के सुधार के कार्य में विदेशी लोगों से सहायता नहीं लेती। उसे अपने ऊपर पूर्ण विश्वास है। कर के विषय में उन्होंने इस प्रकार की नीति वर्ती है जिससे बहुत-सा तैयार माल विदेश से आना रुक गया है। तुर्क चाहते हैं कि सभी काम तुर्कों द्वारा ही हो परन्तु उन्हें अभी पूर्णरूप से सफलता नहीं मिली है। अधिकारियों ने एकबार ऐसी विज्ञप्ति निकाल दी कि कुस्तुनतुनिया में वे ही जहाज़ चलाये जायँगे जिनके चलानेवाले तुर्क रहेंगे। उस समय तुर्क उस विद्या में निपुण नहीं थे अतः कुछ समय के लिए जहाज़ चलाना बन्द हो गया था। पर अब अवस्था बहुत सुधर गई है और पहले की कठिनाइयाँ बहुत-कुछ दूर हो गई हैं।

अपना राष्ट्रीय धन बढ़ाने के लिए तुर्की को कृषि का ही सहारा लेना पड़ता है परन्तु कृषि की अवस्था बहुत अच्छी नहीं है। उसमें सुधार करने के लिए बहुत रुपयों की आवश्यकता है परन्तु तुर्की के पास रुपये अधिक नहीं हैं। तुर्की सरकार विदेशी लोगों से बहुत ऋण नहीं लेना चाहती क्योंकि वह विदेशी पूँजी से डरती है। बग़दाद रेलवे का कुस्तुनतुनिया और अंगोरा से मिलाने वाला अनाटोलिया का भाग तुर्की सरकार ने खुद खरीद लेने और तुर्कों के ही निरीक्षण में चलाने की घोषणा की। उस समय से तुर्की सरकार ने अपनी नीति थोड़ी ढीली की है। बेल्जियम और स्वीडेन की कुछ कम्पनियों को थोड़ा-बहुत रेल और बन्दर तैयार करने का ठीका दिया। उसने अमेरिकन बैंकरों से रेल बनाने के लिए दो करोड़ डालर ऋण लेने का भी निश्चय किया। जापान ने नवीन तुर्की के साथ अपना व्यापार चलाने का बहुत प्रयत्न किया। और उसे कुछ सफलता भी हुई। तुर्की सरकार ने भी जापानियों की सहायता की। जापान साम्राज्यवादी होते हुए भी एशियायी राष्ट्र है। युरोपीय देशों से व्यापार न करके यदि जापान के ही साथ व्यापार हो तो अच्छा ही है।

इन सभी कार्यों के चलाने में हम लोग यही देखते हैं कि तुर्क राजनैतिक साम्राज्यवाद से तो छूट ही गये हैं, साथ ही शांतिमय साम्राज्यवाद के चंगुल से पूर्णरूप से छूट जाने का प्रयत्न कर रहे हैं। अभी तक उन्हें संग्राम में सफलता ही मिलती आई है। तुर्की के प्रभाव से मुसलमान राष्ट्र बहुत प्रभावित हुए हैं। आधुनिक जगत् की झलक दिखलाने और साम्राज्यवाद को

कमजोर करने में पश्चिमी एशिया का इस समय तुर्की ही नेता बन रहा है। तुर्की ने इस समय सारे एशियायी राष्ट्रों के भीतर स्वतंत्रता की नई उमंग, नये विचार और भविष्य की उज्ज्वल आशाएँ भर दी हैं।

[४]

बन्धन-मुक्त फ़ारस

१९२१ के आरम्भ में फारस में अंग्रेजों की नीति सफल होती-सी दिखलाई देती थी। फारस पूर्ण रूप से अंग्रेजों के अधिकार में चला जाता परन्तु रूस ने बीच में आकर सारा मामला बिगाड़ दिया। अंग्रेजों ने रुपया देकर मंत्रियों से ऐंग्लो-पर्शियन सन्धि पर दस्तख़त करा लिया था परन्तु मजलिस ने उस सन्धि को स्वीकार नहीं किया।

२० फरवरी १९२१ को फारस में क्रान्ति हो गई। इस क्रान्ति में रूस का हाथ था। इस समय के शाह अहमदशाह कम उम्र के और बहुत कमजोर थे। फारस का राष्ट्रीयदल, जिसके नेता 'शाद' के सम्पादक जियाउद्दीन थे, इस समय चाहता था कि सरकार पर उसका कब्जा हो जाय। जियाउद्दीन ने कोजैक सेनापति रिज़ा खां को अपनी ओर मिला लिया। २१ फ़रवरी १९२१ को रिज़ा खां ने सेना लेकर तेहरान पर धावा कर दिया। और रातोंरात वहाँपर अपना अधिकार जमा लिया। पुराना मंत्रि-मंडल तोड़ दिया गया। इस समय जियाउद्दीन प्रधानमंत्री और रिज़ा खां सरदार सिपाह (सेनापति) बनाये गये। इस समय रूस की एशियायी नीति के कारण अंग्रेज़ों को कुछ भी बोलने की हिम्मत नहीं हुई। पहले की तरह इस समय शाह को छिपा रखकर अपना काम निकालना असम्भव था।

क्रान्ति

अंग्रेजों के खिलाफ़ राष्ट्रीयदल का पक्ष मजबूत करने के लिए सोवियट सरकार ने २६ फरवरी १९२१ को फारस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार उसने फ़ारस के अपने सभी अधिकार, केवल कास्पियन समुद्र में मछली मारने के अधिकार के अतिरिक्त, छोड़ दिये। अब फारस को रूस की ओर से खतरा नहीं रह गया। उसने कमालपाशा को भी रूस की सहायता लेकर सैवरे की सन्धि रद्द करने का प्रयत्न करते देखा था। १९१९ के अफ़ग़ानिस्तान और अंग्रेजों की लड़ाई का उदाहरण भी उसके सामने था; उस लड़ाई में अंग्रेजों की विजय हुई थी फिर भी अफ़ग़ानिस्तान स्वतंत्र कर दिया गया। रूस के ही कारण ग्रेटब्रिटेन को अपनी एशियायी नीति बदलनी पड़ी थी। उसका फ़ायदा फारस ने भी उठाना चाहा।

रूस और फारस की सन्धि

इसी समय अप्रत्यक्ष रूप से अमेरिका ने भी फारस की सहायता की। अंग्रेज और अमेरिकन लोगों में मेल था फिर भी अमेरिकन यह नहीं चाहते थे कि मध्य एशिया और फ़ारस के सब कच्चे माल, ख़ासकर तेल, पर अंग्रेजों का एकाधिकार हो जाय। अमेरिका भी चाहता था कि उसके व्यापारियों को भी फारस में पूँजी लगाने की वैसी ही सुविधा प्राप्त हो जैसी अंग्रेजों को है। इस विषय में २१ जनवरी १९२२ को अमेरिका ने फारस को लिखा भी था कि 'अमेरिकन सरकार फारस पर किसी एक शक्ति का पूर्ण अधिकार नहीं होने देगी। वहाँ पर व्यापार करने के लिए सब को बराबर अधिकार रहना चाहिए।'

अमेरिका की सहानुभूति

अंग्रेज़ों और फारस के बीच १९१९ की सन्धि रद्द हो जाने से, १९२१ में रूसी-फ़ारसी सन्धि हो जाने से और अमेरिकन सरकार के विरोध करने से ब्रिटेन की राजनैतिक चाल पर बड़ा आघात पहुँचा। उसे फारस के साथ अपनी नीति बदल देनी पड़ी। कुछ समय के लिए वह चुपचाप रहा। फ़ारस में उसने कोई चाल नहीं चली। इस समय वह केवल अंग्रेज कम्पनियों के धन-माल की रक्षा करता रहा।

रिज़ा ख़ाँ अधिक पढ़े-लिखे आदमी नहीं हैं परन्तु सैन्य-संनठन के कार्य में बड़े ही निपुण हैं। इनकी ही सहायता से १९२१ की क्रान्ति सफल हुई थी। क्रान्ति के बाद फ़ारस के वास्तविक शासक ये ही हो रहे थे। इन्होंने देखा कि फारस की अवस्था अच्छी नहीं है, आधुनिक ढंग की सेना नहीं है, पुलिस का अच्छा इन्तजाम नहीं है, देश डाकुओं से भरा है, ख़ज़ाने में रुपयों की कमी है, आय के सभी जरिये भी केन्द्रीय शक्ति के अधिकार में नहीं हैं। बहुत से प्रान्तीय नवाब भी स्वतंत्र हो गये थे, खासकर महम्मरा के नवाब अंग्रेजों के कब्जे में आ गये थे। अमीर लोगों से रुपया वसूल करने में बहुत अधिक कठिनाई थी। प्रधानमंत्री जियाउद्दीन ने रिज़ा खाँ की सेना संगठित करने के लिए रुपये दिये। रिज़ाखाँ ने सेना संगठित कर ज़िया-उद्दीन को कर वसूल करने में सहायता की। अमीरों को दबा-कर भी कर वसूल किया जाने लगा। रिज़ा ख़ाँ को अपनी सफलता से विश्वास हो गया कि फारस की सरकार में जितनी बुराइयाँ हैं उन्हें वे स्वयं, पढ़े-लिखे नहीं रहने पर भी, सुधार सकते

रिज़ाखां का अधिकार—ग्रहण

हैं। उन्होंने सारी शक्ति अपने हाथ में ले लेने की कोशिश की। मौका पाकर उन्होंने अंग्रेजों के पक्ष-पाती होने के सन्देह में १९२३ के अक्तूबर में जियाउद्दीन को हटा दिया और स्वयं प्रधानमंत्री बन गये। नाममात्र के अधिकारी फ़ारस के शाह भी दो ही महीने बाद सैर करने के लिए युरोप चले गये। तब रिज़ाखाँ फारस के डिक्टेटर बन गये। वे अपनी इच्छा से मंत्रि-मंडल बनाने और तोड़ने लगे।

रिजा खाँ का मूल उद्देश यह था कि फ़ारस-सरकार किसी विदेशी सरकार के अधीन न रहे, देश की आन्तरिक अवस्था में सुधार हो और देश संगठित बनाया जाय। इन कार्यों के लिए सब से अधिक आवश्यकता रुपयों की थी। देश की आर्थिक अवस्था सुधारने के लिए उन्हें बाहरी देशों से अर्थ-संचालकों को बुलाने की आवश्यकता हुई। यदि अंग्रेज अपने प्रयत्न में सफल हो गये होते तो इस समय इंग्लैंड के सिवा दूसरी जगह से अर्थ-सचिव बुलाया नहीं जा सकता था। फ़ारस अंग्रेजों की अधीनता से वाल-वाल बच गया। रिजा खाँ ने किसी तटस्थ देश से अर्थ-सचिव बुलाना अधिक अच्छा समझा। इस पद पर अमेरिका से शुष्टर महाशय फिर से आने वाले थे। ब्रिटिश सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया था। परन्तु वे नहीं आसके; उनके बदले एक दूसरा मिशन अमेरिका से १९२२ ई० में फ़ारस पहुँचा।

आर्थिक सुधार

अमेरिकन मिशन का सबसे पहला काम कर-वसूली और खर्च में सुधार करना था। अभी तक कभी फारस का बजट नहीं बनता था। १९२३ में

पहले-पहल बजट बना। रिज़ा खां को सबसे बड़ी चिन्ता सैन्य-संगठन की थी। उन्होंने उसपर अर्थ-सचिव का अधिकार रहना ठीक नहीं समझा इसलिए अमेरिकन विशेषज्ञों से पहली शर्त यह मनवाली कि आमदनी के रुपयों में से सबसे पहले वे लोग एक करोड़ तोमन (डालर) सालाना युद्ध-विभाग को दिया करेंगे। युद्ध-विभाग उस रक़म का हिसाब भी उन्हें नहीं दिया करेगा। रिज़ा खां हिसाब देने में अपना अपमान समझते थे। ख़र्च के और दूसरे विभागों का निरीक्षण करने में इन विशेषज्ञों को पूरी सफलता हुई। रिज़ा खां सदा उनकी सहायता करते रहे।

महम्मरा के शेख फारस सरकार को कर नहीं दिया करते थे। वे अंग्रेजों के कब्जे में आगये थे और अपने को स्वतंत्र समझते थे। अर्थ-शास्त्रियों ने उनसे कर के एक करोड़ बीस लाख डालर माँगे। शेख़ ने ख़ुद तो कर देने से इन्कार ही किया, साथ ही बख्तियारी सरदार को भी देने से मना किया। रिज़ा खां बीस हज़ार सैनिक लेकर स्वयं उन लोगों की ओर बढ़े। बख्तियारी सरदार ने पहले ही अधीनता स्वीकार कर ली। अंग्रेजों ने महम्मरा के शेख को सहायता पहुँचाई फिर भी शेख़ को रिज़ा खां के सामने झुकना पड़ा। उन्होंने फारस की अधीनता स्वीकार की और कर देने लगे।

महम्मरा के शेख़ पर विजय

रिज़ा खां ने व्यापारिक सड़कें सुरक्षित रखने के लिए गारद बैठा दिया। महम्मरा के शेख़ को हराकर लौटने पर उनका बहुत नाम हुआ। सारे फ़ारस में उनकी सुख्याति फैल गई।

सभी लोग समझने लगे कि फारस की अस्तव्यस्त अवस्था सुधारना अथवा व्यापारी तथा यात्रियों की रक्षा करना किसी के लिए सम्भव है तो वह रिजा खां हैं। रिजाखां के मकान पर लोग उनका दर्शन करने लगे। फारस में दौरा करने पर स्वयं उन्हें अपनी ख्याति का पता चला। अब इन्हें स्वयं शाह बन जाने की इच्छा हुई परन्तु गद्दी दखल कर लेने की हिम्मत न हुई। कजर वंश का राज्य चला आता था; उस समय भला रिजा खां कैसे राजा हो सकते थे? रिजा खाँ ने छिपे-छिपे अहमद शाह को उतारने का प्रयत्न किया। युद्ध-विभाग का वे जितना रुपया लेते थे उसका लगभग तृतीयांश वे इसी कार्य में खर्च कर देते थे। सबसे पहले उन्होंने शासन-प्रणाली का रूप बदल देना चाहा। उन्होंने फारस में प्रजातन्त्र स्थापित करने की सोची। इस बात के लिए वे लोगों से दरख्वास्त लिखवा-लिखवाकर अपने पास मँगवाने लगे। अन्त में चुनाव हुआ। रिजा खां ने स्वयं जिन लोगों को चाहा, वे ही लोग चुने गये। प्रजातन्त्र शासन स्थापित हो गया। लोगों को इसमें शक हुआ कि रिजा खां शायद इसमें कोई चाल चल रहे हैं। अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए उन्होंने अपने पद से इस्तीफ़ा दे दिया। वे जानते थे लोग उनकी खुशामद करने आयँगे और उस समय वे फिर से अधिकारारूढ़ हो जायँगे। हुआ भी ऐसा ही। लोगों के अनुरोध पर रिजा खां ने अपना इस्तीफ़ा वापस कर लिया। मजलिस के सदस्यों ने, जो रिजा खां की कृपा से चुने गये थे; १९२५ में यह घोषित कर दिया कि अहमदशाह

प्रभाव में वृद्धि

क़जर गद्दी से उतार दिये गये और अस्थायी सरकार का अधिकार रिज़ा खां के हाथ में रहेगा। रिज़ा खां ने सदस्यों-द्वारा यह प्रस्ताव भी पास करा लिया कि देश प्रजासत्तात्मक राज्य के लिए तैयार नहीं है इसलिए शाह की प्रणाली क़ायम रहे। रिज़ा खां ने अपने को शाह चुनवा लिया। २५ अप्रैल १९२६ को वे सिंहासनारूढ़ हुए और रिज़ाशाह बन गये। खान्दान चलाने और लोगों में अपने खान्दान के लिए आदर का भाव भरने के लिए उन्होंने 'पहलवी' नाम की पुरानी खिताब धारण की। इनका राज्याभिषेक बड़े ही धूमधाम से हुआ। इन्होंने अपने लिए एक नया ताज बनवाया और लड़के को उत्तराधिकारी बनाया। नादिरशाह का पुराना तख़्त निकाला गया और वे उसपर बैठे। मजलिस ने उन्हें शाह स्वीकार कर ही लिया था, मुल्लाओं ने इस विषय में उदासीनता दिखलाई क्योंकि वे सभी समझते थे कि इस समय सबसे शक्तिमान आदमी फारस में रिज़ा खां ही हैं।

फारस के सिंहासन पर—

जब अंग्रेज अधिकारियों ने देख लिया कि रिज़ा खां ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसका फारस में सबसे अधिक प्रभाव है तब उन्हों ने उसका साथ देना शुरू किया। अंग्रेज अपना हित साधने के लिए सदा उसी की सहायता करते हैं जिसके हाथ में अधिकार रहता है। १९२५ में रिज़ा खां के अधिकार में अस्थायी सरकार आई तो अंग्रेज ही ऐसे थे जिन्होंने सबसे पहले उन्हें अस्थायी सरकार का प्रधान स्वीकार किया। रिज़ा खां का शाह होना भी इन्होंने ही सबसे पहले स्वीकार किया। अंग्रेज सदा से यही चाहते

अंग्रेजों की स्वीकृति

आये हैं कि फारस उनके अधिकार में आ जाय । यह नीति उन्होंने कभी नहीं छोड़ी । दक्षिणी फारस में उनका आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही स्वार्थ है । उस स्वार्थ की रक्षा करना ही उनका मूल उद्देश है । दूसरा उद्देश धीरे-धीरे उत्तर की ओर जाना है । उन्होंने देखा कि रिज़ा खां से उनका वहुत काम निकल सकता है; उनसे मेल रखकर वे अपनी पहले जैसी स्थिति फारस में कायम कर सकेंगे; इसीलिए उन्होंने उनसे मेल कर लिया ।

रिज़ा खां भी अपनी शक्ति फारस में मजवूती से जमा लेना चाहते हैं । इसके लिए उन्हें रूस से सहायता मिलने की आशा नहीं है क्योंकि सोवियट सरकार अपनी नीति से वाध्य है । वह एशियायी राष्ट्रों की मित्र है इसलिए फारस के ही किसी आदमी को निज का हित-सम्पादन करने में और दूसरे लोगों को दवाने में वह सहायता नहीं करेगी । साम्यवादी विचार के रहने के कारण रूसी रिज़ा खां के खिलाफ़ ही फ़ारस में प्रचार करेंगे । इसलिए अपनी शक्ति जमाने के उद्देश से रिज़ा खां ने रूस से मेल करना अच्छा नहीं समझा । ❀ इस काम के लिए उन्होंने अंग्रेज़ों से मेल किया । उन्हें विश्वास था कि अंग्रेज़ कम से कम उनको निजी शक्ति जमाने देने में वाधा नहीं पहुँचायँगे ।

❀ इतने पर भी फारस में रूस का ही प्रभाव सर्वाधिक है । यद्यपि अव उसके प्रति कुछ असन्तोष का भाव पैदा होने लगा है फिर भी नज़दीक होने के कारण रूस से फारस को व्यापारिक सुविधाएँ अधिक हैं ।

—सम्पादक

अंग्रेजों के साथ फारस की जो संन्धि होने जा रही थी, उस पर घूस लेकर जिस मंत्री ने दस्तखत किये थे उसी को रिज़ाशाह ने राज्यकार्य के लिए मंत्री नियुक्त किया। इससे मालूम पड़ता है कि रिज़ाशाह को अंग्रेज़ों से मदद मिली। मंत्रिमण्डल में भी अंग्रेजों के पक्ष के अधिक आदमी हैं फिर भी अंग्रेजों का इतना अधिक हाथ नहीं है जिससे फारस-सरकार उनके लिए कुछ रियायत करने को बाध्य हो। अंग्रेज रूसी सरकार से भय खाते हैं, इसलिए उनका भी रिज़ाशाह से मिलकर रहना आवश्यक है। रिज़ाशाह भी देखते हैं कि बिना किसी हानि के यदि अंग्रेजों से मैत्री होजाय तो क्यों न कर ली जाय?

अंग्रेजों से मित्रता करते समय फ़ारस अपने लाभ पर समुचित रूप से ध्यान देता है। मिश्र से भारतवर्ष तक हवाई रास्ता बनाने में देर हुई, इसका एकमात्र कारण यह था कि फ़ारस-सरकार फारस की खाड़ी पर अंग्रेजों का बहुत अधिक प्रभाव नहीं जमने देना चाहती थी। फारस की स्वतन्त्रता में बाधा पड़ सकती थी इसीलिए मजलिस उसे अनिश्चित सरकार के १९२१ ई० में मान लेने पर भी मानने के लिए तैयार नहीं होती थी। एँग्लो पर्शियन तेल की कंम्पनी तेल की खानों से लेकर तेहरान तक एक सड़क बनाना चाहती थी उसे भी फ़ारस-सरकार ने अंग्रेजों की सैनिक चालाकी समझकर रोक दिया।

फ़ारस और तुर्की की सन्धि

अपने बचाव के लिए फारस अपने समान मजहबवालों से मित्रता करके रहना चाहता है। तुर्की, फारस और अफ़ग़ानिस्तान की संस्कृति तथा जाति की एकता है। मंगोल-तातार खून तीनों ही देशों

के लोगों में है। आपस में एकता स्थापित करने के लिए २२ अप्रैल सन् १९२६ को फारस और तुर्की में निम्न-लिखित सन्धि हुई—

१. इस सन्धि के अनुसार हम एक-दूसरे पर चढ़ाई नहीं करेंगे; यदि कोई चढ़ाई करेगा तो उसकी सहायता नहीं करेंगे और एक दूसरे के राजनैतिक और आर्थिक हितों के विरुद्ध दूसरे से समझौता भी नहीं करेंगे।

२. यदि राष्ट्र हम में से किसी भी एक देश को आधार मानकर दूसरे पर चढ़ाई करने की तैयारी करेगा तो उसे सब प्रकार से रोकेंगे।

३. कोई तीसरा राष्ट्र हम दोनों के खिलाफ़ यदि हमारे किसी के भी देश में षड्यन्त्र रचेगा तो हम उसे बाहर निकाल देंगे।

४. सीमा पर की जातियों को हम लोग अलग-अलग व मिलकर रोकेंगे जिससे वे हमारे किसी के भी राज्य में उपद्रव न कर सकें।

अफ़ग़ानिस्तान के साथ भी प्रायः इसी प्रकार की सन्धि करली गई। १५ जून १९२८ को जब अफ़ग़ानिस्तान के राजा और रानी तेहरान गये थे तब फारस और अफ़ग़ानिस्तान और फारस और तुर्की की १९२६ की सन्धि और भी पुष्ट कर दी गई। इसके अनुसार इन राष्ट्रों में किसी एक से और किसी तीसरी शक्ति से लड़ाई छिड़ जाय तो दूसरी पार्टी के लोग लड़ाई रोकने का प्रयत्न करेंगे। तेहरान और काबुल के राजदूत इस समय प्रतिनिधि की हैसियत वाले बना

दिये गये। इसी समय सोवियट सरकार से भी फारस सरकार ने एक दूसरे पर आक्रमण न करने और तीसरी शक्ति के करने पर अपने देश को युद्ध का आधार न बनने देने की सन्धि कर ली।

फारस-सरकार को विदेशियों का विशेषाधिकार—अपने यहाँ के राजदूतों से मुक़दमे का फ़ैसला कराना बहुत खटकता था। सभी लोगों को समान दृष्टि से देखा जाय इसलिए २६ अप्रैल १९२७ को फारस सरकार ने विदेशी सरकारों के सामने विदेशियों का विशेषाधिकार उठा देने की इच्छा प्रकट की। ग्रेट-ब्रिटेन उस राय से सहमत तो हुआ ही नहीं, साथ ही १९२७ की मई में उसने ऐंग्लोहेजाज सन्धि-द्वारा बहरीन के लोगों से दोस्ती का भाव रखने का वादा किया। बहरीन द्वीप-समूह फारस के ही अधीन था। फ़ारस-सरकार ने उस सन्धि का विरोध किया और उस विषय में अंग्रेज़ी सरकार को लिखा। अंग्रेजी सरकार के उत्तर से सन्तुष्ट न होने पर उसने १९२७ के दिसम्बर में राष्ट्र-संघ से उसकी शिकायत की। पीछे इस मामले में एक प्रकार का समझौता हो गया।

१२ अप्रैल १९२८ को अफ़गानिस्तान ने इंग्लैंड के साथ किसी प्रकार की सन्धि न कर रूस के साथ अफ़गान-रशियन वायुमार्ग-विषयक संधि कर ली। इस सन्धि के कारण मजबूर होकर फ़ारस को अपनी ओर मिलाये रहने के लिए एक महीने के अन्दर ही ७ मई १९२८ को, अंग्रेजों ने फारस के साथ सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार फारस से अंग्रेजों का विशेषाधिकार जाता रहा। उनके मुकदमों का फैसला आगे से

फारसी न्यायालय में ही होना निश्चित हुआ। १० मई १९२८ की नई ऐंग्लो-पर्शियन सन्धि मान ली गई जिसके अनुसार फ़ारस को कर के सम्बन्ध में स्वतंत्रता प्राप्त हो गई और उसने वादा किया कि विशेष अवस्था में फ़ारस की सीमा पर से हवाई जहाज जाने देगा और उनके टिकने के लिए एक स्टेशन भी बनायगा, जहाँ अंग्रेजी हवाई जहाज़ टिक सकेंगे।

सोवियट सरकार की अंग्रेजों की विरोधी नीति से फारस सरकार का बहुत-कुछ लाभ हुआ है और भविष्य में भी वह उससे लाभ उठाना चाहती है परन्तु उसकी साम्यवादी नीति से वह बहुत घबड़ाती है। अंग्रेजों के साथ उसके सहानुभूति रखने का यह एक बहुत बड़ा कारण है। अंग्रेज भी फारस को अपनी ओर मिलाये रहने का बहुत अधिक प्रयत्न करते हैं क्योंकि १९०७ के पहले इंग्लैंड और रूस का जितना अधिक झगड़ा था उससे इस समय कई गुना अधिक बढ़ गया है। रूस की एशियायी नीति से तो इंग्लैंड घबड़ाता ही है, साथ ही फ़ारस पर रूसियों का छिपे-छिपे कब्ज़ा होता जारहा है, इससे वह और भी अधिक व्यग्र हो रहा है। वर्तमान सोवियट सरकार को उत्तरी फारस में बहुत अधिक लाभ हो रहा है। तेहरान तथा उत्तरी फ़ारस के शहरों में तैयार विदेशी चीजें जितनी भी आती हैं लगभग सभी रूस की ही ओर से आती हैं। रूस का आर्थिक हित उत्तरी फारस में बहुत अधिक अँटका हुआ है। रूस ने ज़ारशाही के समय के अपने सभी अधिकार छोड़ दिये हैं इसलिए फारस के अधिकांश राजनीतिज्ञ उसके प्रति बहुत ही अच्छा भाव रखते हैं। १९२८ में ऐंग्लोपर्शियन तेल की

कम्पनी के साथ जो बात-चीत हुई थी फारस के मंत्रि-मंडल ने उसे गुप्त रखने का प्रयत्न किया था और रूस के साथ व्यापारिक सन्धि नहीं की थी इसीलिए मजलिस ने उसे इस्तीफ़ा देने के लिए बाध्य किया। अंग्रेजों की आर्थिक नीति का उत्तरी फारस के सम्बन्ध में रूस अभी भी उतना ही विरोधी है जितना वह जारशाही के समय था। इस विरोध के कारण अंग्रेजों का रूसियों के साथ लड़ाई छिड़ जाना भी सम्भव है। अपनी रक्षा के लिए फारस ग्रेटब्रिटेन और रूस दोनों से ही मिला रहता है। अपनी भौगोलिक परिस्थिति के कारण फारस दो राष्ट्रों के वीच पड़ गया है। पहले दोनों राष्ट्र मिल गये थे इससे फारस का बहुत नुक़सान हुआ। अब ये दोनों राष्ट्र एक-दूसरे के कट्टर विरोधी हो रहे हैं; फ़ारस के राजनीतिज्ञ भी दोनों के झगड़े से अपना लाभ निकालना सीख गये हैं। अभी उसके सभी दुःख दूर नहीं हुए हैं। एशिया के दूसरे भागों में जैसे क्रान्तिकारी-आन्दोलन चल रहे हैं उनसे वह परिचित है। चीन के राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ भी उसकी पूरी सहानुभूति थी।

वाहरी झंझटों से छूट जाने पर अब फारस अपनी सारी शक्ति अपने घर को व्यवस्थित करने में लगा रहा है। अमेरिकन

अफीम पर एकाधिकार

कमीशन के आने से उसका आर्थिक विभाग सुधर गया है। उस पर वाहरी ऋण और देशों की तुलना में वहुत ही कम है। सड़क बनाने के लिए उसने अलग रुपये निकाल दिये हैं। कास्पियन के किनारे वेन्दरगाज से लेकर तेहरान, काजवीन, हमदन होते हुए फारस की खाड़ी तक रेल वनाने का उसका विचार है।

कुछ हिस्सा बन भी चुका है। चाय और चीनी की आमदनी साल में दस लाख पौंड होती है, इसीसे उस रेल का खर्च निकाला जायगा। १९२० में अफीम के सम्बन्ध में नया कानून बनाया गया। इसके अनुसार जितनी जमीन में अफीम बोई जायगी उसकी निगरानी सरकार की तरफ से होगी। अफीम बोने, तैयार करने, बेचने, बाहरी देशों में भेजने आदि के विषय में राज्य का एकाधिकार रहेगा।

भीतरी सुधार के कार्य में तुर्की का इस पर बहुत अधिक असर पड़ा है। बहुत-सी बातों में इसने तुर्की की ही नक़ल की है। इसका भी ध्यान पश्चिमी सभ्यता की ओर आकृष्ट हुआ है। पश्चिमी शिक्षा पाने के लिए फारस अपने विद्यार्थियों को विदेश भेजने लगा है।

फारस सरकार ने भी अपने देश में अरबी लिपि के बदले लैटिन लिपि का प्रचार करने का प्रयत्न किया है। सारे फारस में म्युनिसिपलटियों को सिनेमा हाल खोलने की आज्ञा दी गई है। यह इसीलिए किया गया है जिसमें फारस की जनता पश्चिमी देशों के रीति-रिवाजों से परिचित हो जाय। अभी वहाँ थोड़े सिनेमा हाल हैं; और जो हैं उनमें भी उच्चकोटि के तो बहुत कम हैं।

सुधार के पथ में—

आरम्भ में सुधारों का विरोध मुल्लाओं की ओर से जोरों से हुआ परन्तु सरकार उससे विचलित नहीं हुई। सरकार ने अपनी आज्ञा पालन कराने के लिए बहुत ही सख्ती से काम लिया है। अब फारस में मुल्लाओं का जोर बहुत अधिक नहीं है और साम्राज्यवादियों की ओर से भी दबाये जाने का अधिक

भय नहीं है इसलिए फारस-सरकार और भी सख्ती से काम ले रही है। उसने सैकड़ों मुल्लाओं को निर्वासित कर दिया है। बहुत से नये स्कूल खोले गये हैं। एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल भेजने में अभी तक बहुत असुविधा होती थी, इस विषय में भी फारस-सरकार ने बहुत अधिक सुधार किया है। स्वतन्त्र देश के लिए ये सभी सुधार काम में लाना सम्भव है। फारस पर किसी विदेशी शक्ति का अधिकार नहीं है इसीलिए वह अपने उद्देश्यों में सफल होता जा रहा है।

एशिया के जो राष्ट्र हाल में विदेशियों के प्रभुत्व से छूटे हैं वे सभी साफ जाहिर करते हैं कि किसी प्रकार की भी उन्नति करने के लिए पराधीन देशों को पहले पूर्ण राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। शिक्षा-सम्बन्धी या सामाजिक जितने भी प्रकार के सुधार हैं वे विदेशी लोगों के प्रभुत्व में नहीं किये जा सकते। देश में कुशिक्षा जितनी ही अधिक फैली रहती है, सामाजिक अवस्था जितनी ही गिरी रहती है, लोग जितने ही दबने वाले होते हैं साम्राज्यवादियों का उतना ही अधिक लाभ होता है। फिर भला वे उन लोगों को उन्नत होने देकर अपने लाभ पर पानी क्यों फेरेंगे?

[५]

अफ़ग़ानियों का अफ़ग़ानिस्तान

जबतक अफ़ग़ानिस्तान की पर-राष्ट्र-नीति अथवा अन्य बातें अंग्रेज़ों के अधीन थीं तबतक वह गुलाम था। वहांपर सामाजिक, धार्मिक अथवा शिक्षा-सम्बन्धी सुधार होना कठिन था परन्तु १९१९ में रूस की एशि-यायी नीति का लाभ उठाकर अमानुल्ला खां ने अफ़गानिस्तान को स्वतंत्र बना लिया। उस समय से यह देश अफ़ग़ानियों का कहे जाने योग्य हो गया। इस समय से अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेज़ों के अधिकार में न रहकर उनकी बराबरी का हो गया। अब अफ़गानिस्तान के राजदूत मास्को, वर्लिन, पैरिस, रोम, तेहरान, अङ्गोरा और लन्दन में रहने लगे। इसी समय यह भी तै हो गया कि अफ़ग़ानिस्तान के लिए हथियार तबतक भारतीय बन्दरों से होकर लाये जा सकेंगे जबतक यह नहीं समझा जायगा कि वे हथियार अंग्रेज़ों के खिलाफ़ काम में लाये जाने के लिए मँगाये जा रहे हैं। इस समय से अमानुल्ला खाँ 'हिज़ मैजेस्टी' कहलाने लगे।

अफ़ग़ानिस्तान का व्यापार केवल भारतवर्ष और रूस में ही परिमित है। भारतवर्ष से रुई, काफ़ी, चमड़ा, रेशम, चाय, लोहा और कुछ मशीनें भेजी जाती हैं।

व्यापार

अफ़ग़ानिस्तान से ऊन, दरी, खाल, घोड़े, सूखे फल आदि यहाँ आते हैं। रूस के अफ़ग़ानिस्तान

के साथ अधिक व्यापार चलने का कारण यह है कि काबुल को छोड़कर अफ़ग़ानिस्तान के बाक़ी सभी मुख्य शहर रूसी सीमा के ही पास पड़ते हैं। उन स्थानों को अफ़ग़ान-तुर्किस्तान कहते हैं। अफ़ग़ानतुर्किस्तान से खाल, ऊन, रेशम, सूखे फल आदि रूस भेजे जाते हैं और रूस से तेल, चीनी, कृषि के सामान और कुछ तैयार माल आता है। लड़ाई के दिनों में शत्रुओं को परास्त करने के लिए व्यापार बन्द कर देना भी बहुत बड़ा अस्त्र हो जाता है। रूस के साथ यदि अंग्रेज व्यापार बन्द कर दें और उसमें फारस, तुर्की, अफ़ग़ानिस्तान आदि देश सहायक हो जायँ तो उसे बहुत कठिनाई होगी। इंग्लैंड ने अगर अफ़ग़ानिस्तान से समझौता कर लिया कि वह रूस के साथ व्यापार बन्द कर दे और भारतवर्ष उसे वे सामान पहुँचा देगा तो रूस बड़ी कठिनाई में पड़ेगा इसलिए व्यापारिक सन्धियों में उसने अपने फ़ायदे के लिए अफ़गानिस्तान से तै कर लिया कि वह आर्थिक बाधाओं (economical blocade) में दूसरी शक्तियों का सहायक नहीं होगा।

खनिज सम्पत्ति

अफ़ग़ानिस्तान में रांगे, कोयले और तांबे की खानें भी बहुत हैं। नदियों की रेती में सोने का अंश भी पाया जाता है है परन्तु अभी खुदाई नहीं की गई है। देश का बहुत-सा धन जमीन के नीचे गड़ा पड़ा है परन्तु इतनी काफ़ी पूँजी नहीं है कि वह बाहर निकाली जा सके। फिर भी कन्दहार के पास सोने की और जगदलक के पास लाल की खान खोदी गई है। देश में काफ़ी सड़कें भी नहीं हैं जिनसे खानों का माल निकालकर सुविधा-पूर्वक एक स्थान से दूसरे

स्थान पर ले जाया जा सके। तेल की भी खानें हैं परन्तु पूँजी के अभाव के कारण वे बाहर नहीं निकाली जा सकतीं। आधुनिक व्यवसायी साम्राज्यवाद के अधिकार जमाने के लिए वहाँ सभी सामग्री मौजूद है परन्तु वहाँ के राजा चीन और एशिया के दूसरे देशों का उदाहरण देखकर सचेत हो गये। बहुत से विदेशी व्यवसायी उन खानों के विषय में सुविधा प्राप्त करने गये परन्तु राजा ने उन्हें नहीं दिया। उनका विश्वास था कि विदेशी कम्पनियों को सुविधा देने से अफ़ग़ानियों का अफ़ग़ानिस्तान नहीं रह जायगा; युरोपियनों का वहाँ प्राधान्य हो जायगा और वे अफ़ग़ानिस्तान पर अपना क़ब्जा जमा लेंगे। जर्मनी ने इस विषय में बहुत अधिक प्रयत्न किया और १९२६ में अफ़ग़ानों के साथ मित्रता की सन्धि हो जाने पर जर्मन इंजीनियर, डाक्टर आदि अधिक संख्या में अफ़ग़ानिस्तान पहुँचने लगे। वहाँपर एक जर्मन कम्पनी भी पहुँची है जो अपने विज्ञापनों में अपने को मुसलमानों का पुराना दोस्त बतलाती है परन्तु इन लोगों को वैसी सफलता नहीं मिली है। रूस भी अफ़ग़ानिस्तान में घुसने का बहुत प्रयत्न करता रहा है। जब से उसने अफ़ग़ान सीमा के तरमेज तक रेल बना ली है तबसे उसका और भी अधिक प्रचार का कार्य चल रहा है। वह अंग्रेजों के खिलाफ़ खूब प्रचार करता है परन्तु उसे भी काफ़ी सफलता नहीं हुई। अंग्रेज़ों का वहाँपर बहुत अधिक स्वार्थ अटका हुआ था। जबसे अमानुल्ला खां गद्दी पर बैठे उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान की भलाई के लिए अंग्रेजों की इच्छा के विरुद्ध कार्य किया, इससे अंग्रेज़ उन्हें गद्दी से उतारने की तैयारी करने लगे।

कर्नल लारेंस जिन्होंने अरब में तुर्कों के खिलाफ़ विद्रोह करा दिया था वेश बदलकर कई साल से पश्चिमोत्तर सीमा पर ही रखे गये थे। वे वहाँ पर गृह-कलह खड़ा कर देने का खूब प्रयत्न करते रहे। बात प्रकट हो जाने पर उन्हें इंग्लैंड भाग जाना पड़ा। वे चले गये परन्तु उनका उद्देश सफल हुआ। अमानुल्ला के खिलाफ़ विद्रोह हो गया। और अब उन्हें देश छोड़कर रोम में चले जाना पड़ा है।

गृह-कलह और विद्रोह में बच्च-ए-सक्का नाम का एक भिश्ती सैनिक प्रधान हो उठा पर अन्त में कर्नल नादिर ख़ाँ पेरिस से लौटे; उन्होंने विद्रोह दबाया और जनता की सम्मति से स्वयं सम्राट् बने। आज कल भी वही सम्राट् हैं।

कर्नल लारेंस का यह कार्य अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ खोदने वाला ही होगा। अरबों के साथ उन्होंने विश्वासघात किया और वे प्रतिशोध लेने के लिए उठ खड़े हुए; वैसे ही अफ़ग़ानिस्तान के लोग जिस दिन समझ जायँगे कि अमानुल्ला के खिलाफ़ अपने स्वार्थवश अंग्रेजों ने उन्हें भड़काया उसी दिन वे अंग्रेजों के कट्टर विरोधी बन जायँगे। इसमें सन्देह नहीं कि अफ़ग़ानिस्तान में विद्रोह खड़ा करने में अंग्रेजों का बहुत बड़ा हाथ है। छिपी हुई बात किसी न किसी रूप में प्रकट हो ही जाती है। अमानुल्ला जिस समय युरोप भ्रमण कर रहे थे उस समय अंग्रेजों का काम वहाँ पर बहुत जोरों से चलने लगा था। अमानुल्ला को अपने खिलाफ़ विद्रोह होने का पता नहीं था परन्तु अंग्रेजी सरकार जानती थी कि अफ़ग़ानिस्तान में उसकी नीति कितनी दूर तक सफल हुई है। इंग्लैंड के प्रधान मंत्री ने

अपने को वहुत रोका परन्तु फिर भी विजयोन्माद में आकर अमानुल्ला के सामने ही विद्रोह खड़ा करने की झलक अपनी बातों से उन्होंने प्रकट कर ही दी। अमानुल्ला को उस समय उस बात की आशंका भी नहीं थी इसलिए उनका ध्यान ही उस ओर नहीं गया।

अमानुल्ला ही अफ़ग़ानिस्तान में सब से पहले राजा हुए जो आधुनिक विचारों से परिचित थे। उन्होंने अंग्रेजी और फ्रेंच सीख ली थी। उनपर पश्चिमी सभ्यता का बहुत असर पड़ा था। वे समझते थे कि यदि अफ़ग़ानिस्तान आधुनिक जगत् के आचार-विचारों से अनभिज्ञ रहा तो वह अपनी स्वतंत्रता क़ायम नहीं रख सकेगा इसलिए वे अफ़ग़ानिस्तान को एक अर्वाचीन राष्ट्र का रूप देना चाहते थे। युरोप में व्याख्यान देते समय एक स्थान पर उन्होंने कहा था—'मुसलमानी राष्ट्र यदि भविष्य में अपने को उन्नत अवस्था में कायम रखना चाहते हैं तो उन्हें सबसे पहले युरोपीय देशों की विशेषताओं को अपनाने की आवश्यकता है।' यहाँ पर विशेषता का अर्थ युरोपीय राष्ट्रों की युद्ध-कला और उनकी राजनैतिक चालें हैं; विशेषता का अर्थ यह है कि यदि एशियायी राष्ट्र संसार के नक़शे में अपना स्थान क़ायम रखना चाहते हैं तो उन्हें एक साथ मिलकर गोरों के प्रभुत्व से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

अमानुल्ला के किये हुए सुधार

अमानुल्ला ने उपर्युक्त तीनों विशेषताओं को अपनाया था। जर्मनी और तुर्की के ढांचे पर उन्होंने अपना सैन्य-संगठन किया; बड़े-बड़े शहरों में सैनिक शिक्षा प्राप्त करने के कालेज

खोल दिये। आकाश-सेना भी संघटित की। रूस की जुनकर कंपनी द्वारा उन्होंने बारह हवाई जहाज़ बनवाये। उनके चलाने वाले अफ़ग़ान, जर्मन और रूसी थे। जर्मन लोगों ने हवाई शिक्षा देने का एक स्कूल भी काबुल में खोल रखा था। योग्य अफ़ग़ान नवयुवक रण-शिक्षा लेने के लिए रूस, तुर्की तथा अन्य स्थानों में भेजे गये। १९२८ में अफ़ग़ान जिरगा ने सत्रह वर्ष की उम्र से आरम्भ कर तीन वर्ष तक सब के लिए सैन्य-शिक्षा लेना अनिवार्य कर दिया। इस शिक्षा से किसी के भी छूटने की गुंजायश नहीं रखी। यह अनिवार्य शिक्षा भी थोड़ा-बहुत असन्तोष का कारण हुई। अफ़गान सरकार ने फ्रांस सरकार से पचास हज़ार बन्दूकें ख़रीद लेने का भी बन्दोबस्त किया। ख़र्च के लिए अफ़ग़ान सरकार ने प्रत्येक सरकारी अफ़सर से एक महीने की तनख़्वाह और प्रत्येक जीविका उपार्जन करने में समर्थ आदमी से पांच-पांच अफ़ग़ान सिक्के लेने का बन्दोबस्त किया था। अफ़गानिस्तान के लोग अपने देश को स्वतंत्र बनाये रखने के लिए सदा तैयार रहते हैं; वे किसी की पराधीनता बर्दाश्त नहीं कर सकते। इसीलिए जो रक़म बन्दूकों के ख़रीदने के लिए लोगों से माँगी गई थी उसके देने में उन्होंने इन्कार नहीं किया। उसी समय काबुल शहर के एक प्रतिनिधि ने एक लाख अफ़ग़ानी सिक्के इस कार्य के लिए दे दिये।

राजनैतिक चालों में भी अमानुल्ला ने युरोप से बहुत-कुछ सीख लिया था। उन्हें अंग्रेज राजनीतिज्ञ बहुत प्रयत्न करने पर भी अपने चंगुल में नहीं फँसा सके। जिन शर्तों पर उन्होंने अंग्रेजों से मित्रता स्थापित करने का वादा किया उससे ही उनकी

चालाकी प्रकट हो जाती है। अमानुल्ला जिस समय इंग्लैंड गये थे उस समय अंग्रेजों ने अपने लाभ के लिए ऐंग्लो-अफ़ग़ान सन्धि करना चाहा परन्तु उनका प्रयत्न असफल रहा। उन्होंने अधिक भलाई उस समय रूस के साथ समझौता कर लेने में ही देखी। उसी के अनुसार १२ अप्रैल १९२२ को उन्होंने रूस से सन्धि करली।

युरोप के कभी शान्त न होने वाले लाभ के शिकार से अपने को बचाने के लिए अमानुल्लाखाँ ने एशियायी राष्ट्रों का एक संघ स्थापित करने का विचार किया था। युरोप में भ्रमण करने से उन्हें एशियायी संघ का महत्व मालूम हो गया। इस्लामपन का भाव अमानुल्ला में बहुत पहले से ही था परन्तु उसका रूप धार्मिक न रहकर राजनैतिक हो गया था। वे शिया और सुन्नियों का झगड़ा मिटा देना चाहते थे। अंग्रेजों के साथ सन्धि होने के पूर्व ही इन्होंने तुर्की और अपने पड़ोसी राष्ट्र फ़ारस से मित्रता की सन्धि कर ली थी। इस सन्धि से पश्चिमी एशिया एक सूत्र में बँध जाता। यदि ये तीन मुसलमान राष्ट्र एक हो गये होते तो वह एशियायी राष्ट्र-संघ बनाने में बहुत सहायक होता। अफ़ग़ानिस्तान का तुर्की के साथ जो समझौता हुआ था उससे साफ प्रकट हो जाता है कि उन लोगों का उद्देश विदेशियों की अधीनता से एशियायी राष्ट्रों को स्वतंत्र बनाना था।

अन्ध-विश्वास की अधिकता

भौगोलिक परिस्थिति के कारण अफ़ग़ानों में अन्धविश्वास बहुत अधिक है। उसका संसार के और देशों के साथ बहुत ही कम सम्बन्ध है इसलिए उनका विकास नहीं हो पाता। मनुष्यों

के प्राण के लिए उनके भीतर विशेष आदर का भाव नहीं रहता। पुरानी परिपाटी क़ायम रखने का वहाँ बहुत ज़ोर है। शिक्षा का तो बहुत ही अधिक अभाव है। इन्हीं बातों से अमानुल्ला की कठिनाइयों का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है। उन्होंने सोचा कि यदि स्वतन्त्र हो जाने पर देश को आधुनिकता की ओर न बढ़ाया जाय तो स्वतन्त्र होकर रहना कठिन हो जायगा इसलिए देश में उन्होंने बहुत से सुधार करने चाहे। विदेश से लौटने पर तो उन्होंने ग़ज़ब ही कर दिया।

सुधार

वे अपने देश में इस प्रकार के सुधार करने लगे जिससे थोड़े ही दिनों में अफ़ग़ानिस्तान संसार के सभी राष्ट्रों की बराबरी का हो जाय। उनके सामने कमाल-पाशा का आदर्श था और वह अफ़ग़ानिस्तान को तुर्की बना देना चाहते थे। सबसे बड़ा सुधार उन्होंने शिक्षा के सम्बन्ध में किया। शहरों के प्रमुख स्थानों पर नोटिसें टँगवाईं कि लोग अपने लड़कों को स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजा करें। सभी सरकारी नौकरों को अपने लड़कों को स्कूलों में भेजना पड़ता था, नहीं भेजने पर उन्हें नौकरी से बरख़ास्त कर दिया जाता था वा अर्थ-दंड देना पड़ता था। काबुल में इस समय एक विश्वविद्यालय और एक शिल्प की पाठशाला है। इन्होंने पचास से अधिक स्कूल खोले जिनमें तीन लड़कियों के लिए थे। अफ़ग़ानिस्तान के पर-राष्ट्र-सचिव सरदार महमूद बेग तर्ज़ी की तुर्की पत्नी इनका संचालन करती थीं। इन्होंने कन्याओं की शिक्षा का अध्ययन करने के लिए फ्रांस की यात्रा की थी। उन स्कूलों में लगभग दो हज़ार से ऊपर लड़कियाँ

शिक्षा पाने लगी थीं। बहुत-से युवक भिन्न-भिन्न युरोपीय देशों में पढ़ने के लिए भेजे गये थे। इटली और तुर्की ने उन्हें अपने यहाँ रखकर अपने खर्च से पढ़ाने का वादा किया था। लड़कियाँ भी पर्दा तोड़कर नये लिबास पहनाकर दाई का काम सीखने के लिए तुर्की भेजी गईं। स्त्रियों के अखबार भी निकलने लगे जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'स्त्रियों की शक्ति' था। ग्रामों में भी शिक्षा का प्रसार हुआ और पहाड़ी देशों के खानाबदोशों तक भी नई रोशनी पहुँचने लगी।

अमानुल्ला ने अफ़ग़ानिस्तान में विधानात्मक शासन स्थापित किया। अफ़ग़ानों को शासन करने की कला सिखलाने के लिए तथा पार्लमेंट के क़ायदे-क़ानूनों से वाकिफ़ कराने के लिए एक राष्ट्रीय पार्लमेण्ट की स्थापना हुई। इसे जिर्गा कहते थे। इसमें जानेवाले सदस्यों के लिए बेंच पर बैठना और दाढ़ी मुड़ा लेना आवश्यक रहता था। सभी लोगों को युरोपीय पोशाक पहननी पड़ती थी। अफ़ग़ानिस्तान के लिए एक मंत्रि-मण्डल भी क़ायम किया गया था जो जिर्गा के सामने उत्तरदायी रहता था। उसके लिए योग्य प्रधान मंत्री नहीं मिल रहा था इसलिए अमानुल्ला खाँ स्वयं उसके प्रधान मंत्री बने। लोगों के जितने प्रकार के ख़िताब थे सब उठा दिये गये। राजा ने भी अपने सभी ख़िताब छोड़ दिये।

पश्चिमी ढंग की पोशाक अपनाने पर भी अमानुल्ला ने स्वदेशी का तिरस्कार नहीं किया। वे स्वयं तो अपने देश के बने

स्वदेशी।

कपड़े पहनते ही थे साथ ही दूसरों को भी स्वदेशी इस्तेमाल करने के लिए बाध्य करते थे। देशी कला-कौशल बढ़े इसलिए संरक्षण की नीति बर्तते थे।

ऐश-आराम की चीजों पर बहुत अधिक कर लगा दिया जाता था जिसमें देश में उनकी अधिक खपत न हो। तम्बाकू, ताश, मक्खन, दूध, आदि पर दो सौ प्रतिशत कर लगता था। नक़ली फूल, युरोप के बने दरी-आइने, कंघी-खिलौने आदि पर सौ प्रतिशत और विदेशी कपड़ों पर पचास प्रतिशत कर लगता था।

अपने सभी सुधारों को अमानुल्ला ख़ूब सख़्ती करके लोगों द्वारा पालन करा सकते थे परन्तु उन्होंने वैसा नहीं किया। वे चाहते थे कि लोग सुधारों को स्वयं समझ लें कि उनसे क्या फ़ायदा है; उनके अपना लेने से उनका संसार में कितना अधिक सम्मान बढ़ जायगा। अमानुल्ला पुराने दयालु प्रकृतिवाले राजाओं के विचार के थे। सप्ताह में उन्होंने एक दिन ऐसा रख दिया था जिस दिन राज्य का छोटे से छोटा आदमी उनके सामने जाकर अपनी फ़रियाद सुना सकता था।

मुल्लाओं का असंतोष

अमानुल्ला के बहुत-से सुधारों से वहाँ के मुल्लाओं का नुक़सान था। मुल्लाओं का जनता पर बहुत अधिक प्रभाव था। लोग आधुनिक विचारों से वाक़िफ़ नहीं थे इसलिए उनकी ख़ूब चलती थी। मुल्लाओं ने समझा कि नये सुधारों से लोगों पर से उनका रोब और उनके लिए सम्मान का भाव जाता रहेगा। सुधारों के काम में लाने पर इमाम और मौलवी अपनी इच्छानुसार क़ुरान का अर्थ नहीं लगा सकते थे और न लोगों को ग़ाज़ी की पदवी के लोभ में डालकर जब कभी 'जेहाद' बोल सकते थे। स्त्रियों का पर्दा तोड़ने, बाल कटाने तथा अख़बार निकालने लगना उनके लिए नई चीज़ थी। वे उन्हें उतनी अधिक स्वतंत्रता नहीं देना

चाहते थे। इन सब कारणों से मुल्ला बिगड़ गये। उन्होंने कहना शुरू किया कि बादशाह सभ्यता तथा धर्म पर प्रहार करना चाहते हैं। जुम्मा के दिन मस्जिदों में व अन्य मौक़ों पर वे लोगों को भड़काने लगे।

अमानुल्ला के नये-नये सुधारों के विषय में अनुभव प्राप्त करने के लिए विदेश चले जाने पर मुल्लाओं का काम जोरों से चलता रहा। अंग्रेज भी उन्हें भड़काने में सहायता देते रहे। अमानुल्ला ने लौटने पर सुधारों का काम जोरों से आरम्भ किया, उस समय उन्हें बग़ावत की झलक दिखलाई दी। सुधार का विरोध करनेवालों का कहना था कि सभी स्त्रियाँ, रानी सुरैया भी, पर्दे में रहें; जो लड़कियाँ युरोप में शिक्षा पाने गई हैं वे वापस बुला ली जायँ और राजा पुराने मुसलमानी मजहबी ख़यालों को मानें। अमानुल्ला ने देखा कि अभी सुधार करने का अच्छा मौक़ा नहीं है इसलिए सुधारों को स्थगित कर देने का विचार करने लगे। साथ ही अफ़ग़ान मुल्लाओं का सरकारी फ़रमान लेना अनिवार्य कर दिया। देवबंद के उलमाओं को देश से निकाल दिया क्योंकि उन लोगों के भीतर बहुत-से विदेशी दूत थे। जो उलमा देवबंद से काबुल आदि की ओर जाते थे उन पर सख़्त निगरानी रखी, फिर भी मुल्लाओं का कार्य रुका नहीं। वे छिपे-छिपे राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र रचते गये। उलमाओं के इस विद्रोह का फ़ायदा अंग्रेज़ राजनीतिज्ञों ने उठाया और ऐसा कहा जाता है कि विद्रोह को भड़काने में उनका हाथ था क्योंकि अमानुल्ला, जो स्पष्टतः अंग्रेजी शासन के विरोधी थे, के रहने से उनका नुक़सान था।

दिसम्बर १९२८ में शिनवारी फिरके के लोगों ने विद्रोह आरम्भ कर दिया था। पीछे मोहमन्द फिरके के लोग भी इसमें शामिल हो गये। उपद्रवकारी यह चाहते थे कि सुधार वापस ले लिये जायँ। अन्त में विद्रोहियों की ही विजय हुई। बादशाह सुधारों को रद्द करने के लिए विवश हुए। बादशाह ने ११ जनवरी को 'अमने अफ़ग़ान' में इस सम्बन्ध में एक विज्ञप्ति प्रकाशित की जिसमें इस बात की घोषणा की कि युरोपीय पोशाक के सम्बन्ध में जो आज्ञा प्रचारित हुई थी वह वापस ली जाती है, कन्या-पाठशालाएँ बंद कर दी जायँगी, जो लड़कियाँ तुर्की भेजी गई हैं वे वापिस बुला ली जायँगी, स्त्रियों की सभाएँ भी बंद कर दी जायँगी, सिपाहियों को पीरों के मुरीद बनने के लिए अनुमति लेने की आवश्यकता न होगी और पचास सदस्यों की एक मजलिस इन्तजामिया क़ायम की जायगी जिस पर मुल्लाओं और मजहबी पेशवाओं का प्रभुत्व रहेगा, शरीअत के अनुसार क़ानून में सुधार होगा और स्त्रियों को बुर्क़ा पहनने की आज्ञा दी जायगी और वह युरोपीय पोशाक न पहन सकेंगी।

परन्तु इससे उपद्रव शांत नहीं हुआ। विद्रोहियों के दल में बच्च-ए-सक़्क़ा भी शामिल हो गया। बच्च-ए-सक़्क़ा, जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, एक भिश्तीवाले का लड़का है। पेशावर में वह पहले चाय की दुकान करता था। वह अमानुल्ला की सेना में सैनिक का भी कार्य कर चुका था। नौकरी छोड़ देने पर वह डाका डालने का काम करने लगा। पहले उसके दल में कुल चौदह आदमी थे परन्तु वर्तमान विद्रोह के पहले ही उसके दल में तीन सौ

विद्रोह

आदमी हो गये थे। उन सब के पास बन्दूकें रहती थीं। अमानुल्ला उन्हें पकड़ना चाहते थे परन्तु पकड़ नहीं सके थे। इतने में ही अमानुल्ला के सुधारों से चिढ़कर जलालाबाद के शिनवारियोंने विद्रोह किया। जब विद्रोह ने भीषण रूप धारण किया तब अमानुल्ला ने बच्चा-ए-सक्का को बुला भेजा और कहा कि यदि वह शिनवारियों के दबाने में सहायता करेगा, तो उसके सभी पुराने अपराध क्षमा कर दिये जायँगे। उसने क़ुरान छूकर अमानुल्ला की सहायता करने की प्रतिज्ञा की। अमानुल्ला ने उसका विश्वास किया और उसे अपना कर्नल बनाकर तीन सौ राइफ़लें और बहुत-सी कारतूसें दीं। बच्चा-ए-सक्का ने और भी तीन सौ आदमी अपने दल में शामिल कर लिये। फिर काबुल पर धावा कर दिया। परन्तु उसे सफलता नहीं हुई। वह काबुल के पास की ही पहाड़ी में छिप रहा।

इस समय अमानुल्ला का विश्वास अपनी सेना पर से भी बहुत-कुछ उठ गया था इसलिए वे किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गये।

सिंहासन-त्याग

ऐसे ही समय में शोरा बाजार के पीर साहब उनके पास पहुँचे। पीर साहब की मुल्लाओं पर धाक थी। उन्होंने अल्लाह और क़ुरान के नाम पर देश को गृह-कलह से बचाने के लिए अमानुल्ला को स्वयं गद्दी ख़ाली कर अपने भाई इनायतुल्ला को बिठलाने के लिए कहा। अमानुल्ला जानते थे कि पीर साहब सुधारों के विरोधी हैं; फिर भी उन्होंने उनकी नीयत में सन्देह नहीं किया और १४ जनवरी को गद्दी ख़ाली कर दी। आगे चलकर पता चला कि पीर साहब बच्च-ए-सक्का के ख़ुफ़िया-विभाग में काम करते हैं और उन्होंने

धोखा देकर अमानुल्ला को गद्दी खाली करने के लिए कहा था। अमानुल्ला के गद्दी खाली करने पर इनायतुल्ला गद्दी पर बैठे परन्तु वे अपनी रक्षा नहीं कर सके। बच्च-ए-सक्का ने पहाड़ी से निकल कर गद्दी पर क़ब्ज़ा कर लिया और हबीबुल्ला ख़ां के नाम से अफ़ग़ानिस्तान का राजा बन बैठा। उसने अपने को सारे अफ़गानिस्तान का राजा घोषित किया परन्तु उसका अधिकार केवल काबुल और उसके आस-पास ही रहा।

बच्च-ए-सक्क़ा का क़ब्ज़ा

अमानुल्ला ने आधुनिक ढंग पर शिक्षा देने के लिए जितने लड़के और लड़कियों के लिए स्कूल खोले थे उन सब को उसने यह कहकर बन्द कर दिया कि विदेशी शिक्षा देना इस्लाम के ख़िलाफ़ है। अपना प्रभुत्व क़ायम करने के लिए उसके पास काफ़ी आदमी न थे, न धन था। उसकी आय का मुख्य ज़रिया खज़ाना था, जिस पर उसने क़ब्ज़ा कर लिया था। आय के लिए वह वहाँ के लोगों से बहुत बड़ी-बड़ी रक़में वसूल करने लगा।

अमानुल्ला काबुल से चलकर कन्दहार पहुँचे। कन्दहार से क्वेटा तक उनके अधिकार में रहा और वहां से वे कर वसूल करते रहे। कन्दहार पहुँचने पर अमानुल्ला प्रायः रोज़ ही सभाएँ किया करते थे और लोगों को धन की सहायता करने और अपनी ओर से लड़ने के लिए कहा करते थे परन्तु उनकी कोई सुनता नहीं था। अन्त में लोगों से सहायता लेने का उन्होंने एक नया ढंग निकाला। कन्दहार में एक दरगाह है। वहाँ पर एक बड़े सन्दूक़ के भीतर एक चांदी के सन्दूक़ में एक चोंगा रखा हुआ है। मुसलमान उसे पैग़म्बर का पहना हुआ चोंगा मानते हैं। उसे

वे 'खेर का शरीफ़' कहते हैं। अफ़ग़ानिस्तान में खेर का शरीफ़ को लोग बहुत आदर से देखते हैं; उन लोगों का विश्वास है कि कोई पापी आदमी खेर का शरीफ़ को उठा नहीं सकता। अमानुल्ला ने एक दिन निश्चित किया। उस दिन दरगाह से डेढ़ मील की दूरी पर इदगाँव में चालीस हजार मुसलमान इकट्ठे हुए। उन सब के सामने अमानुल्ला ने चाँदी का बक्स खोला और खेर का शरीफ़ उठा कर लोगों को दिखला दिया। इससे लोगों के भाव बदल गये। अब वे अमानुल्ला की सेना में भर्ती होने लगे।

थोड़े ही दिनों के भीतर अमानुल्ला ने लगभग पन्द्रह-सोलह हजार सैनिक इकट्ठे कर लिये जिनमें तीन वा चार हजार शिक्षित सैनिक थे और २४ मार्च को काबुल पर धावा करने के लिए आगे बढ़े। अमानुल्ला की सहायता करने के लिए नादिरखां भी पैरिस से आ गये। नादिरखां का अधिक नाम १९१९ में ठट्टा के मैदान में अंग्रेजों को पीछे हटा देने के कारण हुआ। नादिर

देश-त्याग

खां के भाई हाशिमखां अमानुल्ला के विरोधी थे। वे स्वयं गद्दी नहीं चाहते थे परन्तु अमानुल्ला के स्थान पर किसी दूसरे को गद्दी पर बिठाना चाहते थे। अमानुल्ला दिन पर दिन काबुल की ओर बढ़ते चले जा रहे थे। समाचार पत्रों में बराबर यही छपा करता था कि अमानुल्ला की विजय होती जा रही है परन्तु एकाएक २३ मई को वे पीछे लौटकर अंग्रेजों की सीमा चमन में चले आये और वहाँ से चलकर बम्बई पहुँचे। बम्बई से इटली चले गये। आजकल वहां चुपचाप जीवन बिता रहे हैं।

अमानुल्ला के एकाएक चले आने का कारण लोग उनकी

हार बतलाते हैं परन्तु अपने वक्तव्य में उन्होंने इसे अस्वीकार किया है। उन्होंने कहा है—'लोग समझते हैं कि बच्च-ए-सक्का की विजय हुई है इसीलिए मैंने अफ़गानिस्तान छोड़ दिया है। इस प्रकार हम लोगों की हार कभी हुई ही नहीं। सदा हम लोग विजय करते गये। मेरे लौटने का कारण यह है कि मैं दुर्रानी और गिलज़ाई दोनों ही अफ़गान फिरकों को अपने स्वार्थ के लिए लड़ाना तथा उनका खून बहाना नहीं चाहता। मैंने जैसे ही सुना कि अन्धेरी, तारक, ओटक और तोकनिस फिरके मेरे विरुद्ध हो गये, मैंने आगे बढ़ने का विचार छोड़ दिया। मैं शान्तिमय उपायों से विद्रोह शांत करना चाहता था। आरम्भ से ही मैंने इस बात का प्रयत्न किया था। उन फिरकों के विद्रोह करने पर भी मैं विजय प्राप्त कर सकता था। परन्तु मैं और अधिक अफ़गानों का खून बहाना नहीं चाहता। मेरे चले आने का कारण हार नहीं है; हमारी सदा विजय ही होती रही है।'

अमानुल्ला के देश-त्याग का यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि अफ़गानिस्तान में मुल्लाशाही का ही अकंटक राज्य रहेगा और अन्ध-विश्वास वहाँ पर सदा जमा ही रह जायगा। अमानुल्ला ने स्वयं कहा था—'मैं असफल रहा परन्तु मेरे उद्देश कभी व्यर्थ नहीं होंगे। अफ़गानिस्तान में जो अभी लड़ाई चल रही है वह कुछ धार्मिक भाव से प्रेरित होकर नहीं, उसका मूल कारण अज्ञान और स्वार्थ है। मुझे पूरा विश्वास है कि पिछले दस वर्षों में अपने कठोर परिश्रम से मैंने जो नया भाव पैदा कर दिया है वह अफगानिस्तान को वर्तमान अवस्था में कदापि नहीं रहने देगा।'

गेरीवाल्डी ने भी ठीक ही कहा है कि देश की उन्नति की ओर ले जाने वालों को खाने के लिए भूख, सोने के लिए ठंडी भूमि और इनाम में मृत्यु दी जाती है। देश की उन्नति करने के कारण अमानुल्ला को यदि उसके देश-वासियों ने निकाल दिया तो यह स्वाभाविक ही है। देश-भक्तों के चले जाने पर ही उनके लिए लोगों में आदर का भाव हो जाता है और देश दिन-दिन उन्नति करने लगता है।

वही हुआ। अमानुल्ला के बाद सरदारों के अनुरोध से जेनरल नादिरखां गद्दी पर बैठे। आजतक वही 'हिज़ मेजेस्टी नादिरशाह' के नाम से राज्य कर रहे हैं। इन्होंने बीच की नीति से काम लिया। यह सुधारक विचार के हैं पर परिस्थिति देखकर धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं। इनके समय में भी अफ़ग़ानिस्तान धीरे-धीरे प्रगति कर रहा है। अमानुल्ला ने राष्ट्र की सेवा का जो बीज बोया था वह धीरे-धीरे फूट रहा है और आशा है कि एक दिन उसमें सुधार का महान् पौधा उगकर जन-हृदय को छाया प्रदान करेगा।

[६]

विश्वासघात का प्रतिशोध

उसाई की सन्धि के बाद अरबों की समझ में आ गया कि तुर्क-साम्राज्य के ध्वंस के लिए उन्होंने अंग्रेजों की जो सहायता की वह उनके स्वाधीनता प्राप्त करने में सहायक होने की जगह अंग्रेजी साम्राज्य की जड़ मजबूत करने, अपने बन्धनों को और भी अधिक जकड़ देने और केवल शासकों का परिवर्तन करने का ही कारण हुई। तुर्क-साम्राज्य की अधीनता के समय उन्हें जितनी स्वतंत्रता थी अंग्रेजों की अधीनता में आने पर उतनी भी नहीं रह गई। अंग्रेजों का साथ देना अपने को तप्तभूमि से हटाकर अग्निकुण्ड में ले जाकर खड़ा करना था। यहाँ के छोटे-छोटे शासक आपस में लड़ा करते थे; उनमें एकता नहीं, वे राजनैतिक विचारों से परिचित नहीं इसीलिए अंग्रेज उनपर अपना प्रभुत्व जमा सके थे। इससे अंग्रेजों का दो प्रकार का हित-साधन होता था। एक तो भारतवर्ष के मार्ग में होने से उनपर अधिकार करना अंग्रेजों के लिए आवश्यक था। तुर्की, फारस, अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेजों के खिलाफ़ हो गये थे इसलिए भारतवर्ष का वह रास्ता खतरे से खाली नहीं था। वे पैलेस्टाइन की ओर से दूसरे रास्ते पर अपना प्रभुत्व जमाना चाहते थे। दूसरा लाभ आर्थिक था। इन्हीं दो लाभों के लिए उन्होंने अरबों को तप्तभूमि से लाकर अग्निकुण्ड में खड़ा कर दिया था।

अग्निकुण्ड में पहुँचते ही अरबों के भीतर ऐसा आन्दोलन चला जैसा कभी नहीं चला था। आपस में एक हो जाने के लिए इस समय जैसा प्रयत्न उन्होंने किया वैसा और पहले कभी नहीं किया था। ऊपर से देखने से वे देश शांत दीखते हैं परन्तु उस शांति के भीतर ऐसी भयानक अग्नि जल रही है जो फूटे विना नहीं रह सकती। चीन, फारस, तुर्की आदि देशों में जैसी अग्नि प्रज्वलित हुई है उससे वह कम नहीं है। एशिया के और राष्ट्रों की तरह यहां पर भी क्रान्ति का प्रचार, विदेशियों के खिलाफ आन्दोलन और आत्म-निर्णय के अधिकार प्राप्त करने की चेष्टा के सिवा और कुछ भी दिखलाई नहीं देता।

सीरिया में फ्रांसीसियों के अत्याचार

सीरिया का संरक्षण अपने हाथों में लेते ही फ्रांस ने वहां बहुत सख्ती करना आरम्भ कर दिया। उसने वहाँ वालों के भावों की जरा भी परवा नहीं की। उन्होंने यह भी नहीं खयाल किया कि सीरिया की प्राचीन सभ्यता भी कोई चीज थी। सीरियन लोगों को फ्रांसीसी लोगों ने असभ्य और जंगली समझकर उनपर जैसा-तैसा शासन करना आरम्भ किया। इन कारणों से फ्रांसीसियों को आरम्भ से ही सीरिया में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। सीरिया की राष्ट्रीय एकता भंग करने के लिए उन्होंने उसे पाँच भागों में विभक्त कर दिया। लियोवान में ईसाई लोगों की संख्या कम होते हुए भी उनका जोर अधिक था। फ्रांस ने उसे स्वतंत्र कर दिया। डूसेस को भी प्रान्तीय स्वतंत्रता देकर अलग कर दिया और दमिश्क, अलप्पो और अलाउइट का संघ बनाया। इनके लिए ऐसा विधान रखा कि

इन तीनों प्रांतों की अलग-अलग प्रतिनिधि सभा रहेगी और वहां से पाँच-पाँच सदस्य चुने जाकर बड़ी कौंसिल में जायँगे। सभापति का चुनाव कौंसिल से ही होगा। ठीक इसी की समानता में फ्रेंच अधिकारियों का भी जाल बिछा दिया। उनमें सबसे ऊंचा पद हाई कमिश्नर का रखा। उसे चुननेवाला फ्रांस का पर-राष्ट्र-सचिव होता था। अरब इस प्रकार की व्यवस्था पसन्द नहीं करते थे इसलिए १९२५ में दमिश्क और अलप्पो मिला दिये गये और अलाउइट एक स्वतंत्र प्रांत बना दिया गया।

असन्तोष, दमन और विद्रोह

अरब फ्रांसीसियों के शासन से असन्तुष्ट थे। ऐसे ही समय में फ्रांस की ओर से साराईल नाम के एक सख्त हाई कमिश्नर भेजे गये। इससे लोगों में विद्रोह का भाव और भी अधिक जागृत हुआ। ड्रूसेस के लोगों से बहुत मजदूरी कराई जाती थी और उन्हें बहुत दबाया जाता था। एक फ्रेंच अफसर की बिल्ली खोजाने पर वहाँ की सारी जनता को जुर्माना कर देने की नौबत आ जाती थी। फ्रेंच अफसरों को वहाँ के लोगों के आचार-विचार रहन-सहन का कुछ भी पता नहीं रहता था। सख्ती का परिणाम भी बड़ा भयावना हुआ। ड्रूसेस के एक फिरके ने सुल्तान अतराश की अधीनता में ड्रूसेस की राजधानी सुइडा में एक फ्रांसीसी सेना को घेर लिया;देश में चारों तरफ विद्रोह मच गया। बड़ी मुश्किल से १९२७ के अंत तक विद्रोह शान्त किया जा सका। साराईल की सख्ती के कारण लिब्रोबन के ईसाई भी बिगड़ गये थे। अब ईसाई और अरब

दोनों ही मिलकर फ्रांसीसियों का विरोध करने लगे। क्रान्ति के भीषण रूप धारण करने पर साराईल ने दमिश्क में मुसलमानों के घरों पर बम गिरवाये। बल्वा करने के अपराध में हजारों आदमी मार डाले गये और अनेक गाँव जला दिये गये, फिर भी फ्रेंच सन्तुष्ट नहीं हुए और उन्होंने सीरियन लोगों पर ४०००० पौंड जुर्माना किया और पचास हजार राइफल माँगे। इससे सीरिया में क्रान्ति की आग और भी अधिक फैल गई। फ्रांस ने और अधिक सेना भेजकर किसी तरह विद्रोह दबाया परन्तु लोगों के भीतर का भाव परिवर्तन नहीं कर सका। अन्त में साराईल बुला लिया गया और १९२५ के दिसम्बर में एक दूसरे हाईकमिश्नर भेजे गये। उन्होंने नम्रता से काम लिया और परिस्थिति में परिवर्तन हुआ।

अरबों की राष्ट्रीयता के भाव ने फ्रांसीसियों को चैन नहीं लेने दिया। फ्रांस ने अपने लाभ के लिए सीरिया का संरक्षण अपने हाथ में लिया था परन्तु १९१९ तक सीरिया पर अधिकार जमाने में उसके ६६२२ आदमी मारे गये और अक्तूबर १९२५ तक वहाँ का सैनिक व्यय २४६५०००००० फ्रैंक हो गया। सीरिया के टैक्स से बहुत कम वसूली होती थी। अरब लोगों ने फ्रांसीसियों से अच्छा बदला चुकाया। परिस्थिति यहाँ तक भयंकर हो गई थी कि फ्रेंच पार्लमेण्ट में सीरिया का संरक्षण छोड़ देने की भी चर्चा चलने लगी थी।

सीरिया के लोगों में यह भाव पैठ गया कि फ्रांसीसियों के अधिकार में जाने से ही वे निर्धन होते जा रहे हैं। वहाँ के राष्ट्रीय विचारवालों ने सीरिया को एक राष्ट्रीय सरकार के

अधिकार में रखकर फिर से मिला देने के लिए बहुत जोर लगाया। साथ ही वे पैलेस्टाइन के साथ भी एक हो जाना चाहते थे। इसके लिए सीरिया-पलेस्टाइन कमिटी भी बन गई जो वृहन् सीरियन राज्य कायम करने का प्रयत्न करने लगी। इस राज्य में पैलेस्टाइन भी शामिल हो जाता।

सीरिया के नये हाईकमिश्नर पौन्सोट ने फ्रेंच सरकार से सीरिया में कुछ सुधार करने के लिए कहा। उनका विचार था कि शासन-व्यवस्था में कुछ सुधार कर दिया जाय और वहाँ प्रजासत्तात्मक ढंग की सरकार क़ायम कर दी जाय तो वहाँपर फ्रांसीसियों के खिलाफ अधिक भाव रहने की सम्भावना नहीं रहेगी। उनके के ही विचारानुसार सीरिया के अनेक व्यवसायों में फ्रांसीसियों की पूँजी के साथ सीरियन लोगों की पूँजी मिला दी गई और सीरिया की एक पार्लमेण्ट १९२८ के अप्रैल में बना दी गई।

पैलेस्टाइन का शासन

पैलेस्टाइन पर अधिकार जमाने में अंग्रेज़ों का मूल उद्देश्य स्वेज और फारस की खाड़ी के बीच रास्ते को सुरक्षित रखना है, इसीलिए वे वहाँ पर यहूदियों को बसाकर उसे अपना सातवाँ उपनिवेश बना लेना चाहते थे। यहूदियों को बसाने से अंग्रेजों को उनसे आर्थिक मामलों में भी सहायता मिलने की आशा थी। व्यवसायी साम्राज्यवाद के दख़ल जमाने के लिए भी पैलेस्टाइन ऊसर भूमि नहीं है। अंग्रेजों ने १९२० में सर हर्बर्ट सैमुएल नामक एक यहूदी को वहाँ का हाईकमिश्नर बनाकर भेजा था। उन्होंने ही अपने व्याख्यान में कहा है कि मृतकसागर (Dead Sea)

से ही यदि पोटाश निकालने का समुचित प्रवन्ध हो जाय तो वहाँ से अस्सी करोड़ पौंड का पोटाश निकलेगा।

यहूदियों के जाकर वसने से पैलेस्टाइन की आर्थिक समस्या में अवश्य ही सुधार हुआ। वहाँ पर सड़कें वन गईं, कारखाने खुल गये, वहुत-सी वीमारियाँ दूर हो गईं, नये-नये स्कूल खुल गये फिर भी अरव लोगों को इससे सन्तोष नहीं हुआ। यहाँ पर अंग्रेज़ों ने सख्ती से काम नहीं लिया। पहले उन्होंने ऐसा प्रवन्ध किया था कि हाई कमिश्नर को सहायता करने के लिए अधिकारियों की एक कार्यकारिणी सभा और एक व्यवस्थापिका सभा रहेगी। व्यवस्थापिका सभा में दस अधिकारी और १२ चुने हुए आदमी रहेंगे। चुने हुओं में ८ मुसलमान, २ ईसाई और २ यहूदी रहेंगे।

अरवों को धोखा दिया गया था। वे असन्तुष्ट थे; इसलिए उन्होंने चुनाव में भाग नहीं लिया। उनके भाग नहीं लेने पर हाईकमिश्नर ने व्यवस्थापिका सभा के वदले अधिकारियों को सलाह देनेवाली एक कमिटी वना ली। हर्वर्ट सेमुएल १९२५ तक हाईकमिश्नर रहे और उतने दिनों तक उन्होंने वहुत अच्छी तरह से राज्य का प्रवन्ध किया। कर की वसूली से जितना ख़र्च हुआ था वह निकालकर १९२५ में दस लाख डालर वचे थे और रोकड़ में पचीस लाख डालर थे। इससे वहाँ के किसानों पर टैक्स कम कर दिया गया।

पैलेस्टाइन के अरव किसी वात से भी सन्तुष्ट नहीं थे। १९२० से ही उन्होंने विद्रोह करना शुरू कर दिया था। उसी समय जेरूसलम में यहूदियों की दूकानें लूट ली गई थीं

और कुछ यहूदी मार भी डाले गये थे। १९२१ फरवरी में अरब

विद्रोह

पैलेस्टाइन कांग्रेस ने अपनी मांग पेश की कि पैलेस्टाइन में केवल अरबों का ही प्रतिनिधि शासन स्थापित किया जाय। इस कांग्रेस के कुछ ही सप्ताह बाद यहूदियों के खिलाफ सारे देश में विद्रोह हुआ परन्तु उसका सबसे भयानक रूप जाफ़ा में ही था। वहाँ पर तीन सौ आदमी मारे गये थे। अरब यही समझते थे कि यहूदी पैलेस्टाइन में अपना राज्य स्थापित करने आये हैं। उनके विरोध करने का यही कारण था। सबसे अधिक चिढ़ उन्हें इस बात की थी कि तुर्क-साम्राज्य के अन्तर्गत वे जितनी स्वतंत्रता उपभोग कर पाते थे उतनी इस समय उन्हें नहीं मिलती थी। क़ानून आदि के मामलों में उनके साथ जंगली लोगों के जैसा व्यवहार किया जाता था।

मृतकसागर (Dead Sea) में अंग्रेज और यहूदी पूँजी-पतियों को सुविधा देने पर अरब लोगों ने बहुत विरोध किया। दूसरे आर्थिक मामलों में भी अरब यहूदी और अंग्रेजों के काम में रुकावट डालते हैं। १९२५ तक ३३८०१ यहूदी पैलेस्टाइन में पहुँच गये थे। उन में से कुछ लोग खेती करने लगे। परन्तु अरबों के प्रबन्ध से उनके खेतों में काम करने के लिए मज़दूर नहीं गये इसलिए बहुत से यहूदी लौटने लगे। १९२५ में ही २१४१ यहूदी लौट गये।

अरब मिशनरी स्कूलों के भी कट्टर विरोधी हैं। वे उन स्कूलों को राष्ट्रीयता के भाव से दूर भगानेवाला समझते हैं इसलिए वहाँपर अपने लड़कों को पढ़ाना अच्छा नहीं समझते।

यहूदियों के साथ बहुत मत-भेद होने पर भी वहाँ के अरब अंग्रेज; अधिकारियों का सामना करने में यहूदियों से मिल जाते हैं। जब कोई ऊँचा पद खाली होता था, तब पैलेस्टाइन के लोग न रखे जाकर अंग्रेज़ रखे जाते थे; इससे अरब और यहूदी दोनों में ही असन्तोष फैलता था। सभी अनर्थों की जड़ अरब अंग्रेजों को ही समझते हैं इसीलिए वे उनके बहुत विरोधी हैं। यहूदी लोगों को वहाँ रहने देने में भी अरब लोगों को कोई आपत्ति नहीं है परन्तु वे लोग अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमाना चाहते हैं इसीलिए अरब उनके विरोधी हैं। यहूदियों के हाथ में अभी भी बहुत-कुछ शक्ति है; उन लोगों ने पैलेस्टाइन की अवस्था में भी सुधार किया है परन्तु अरब लोगों को इससे रत्तीभर भी संतोष नहीं है। वे उनके ख़िलाफ़ बगावत करने पर सदा तुले रहते हैं। उन्हें संतोष तभी होगा जब उनका अपना राज्य क़ायम हो जायगा।

इराक़ में भी अरब की एकता चाहने वाले नेता थे। अरब अनेक भागों में विभक्त कर दिया गया था इस बात का तो उन्हें असंतोष था ही, साथ ही उन्हें अंग्रेज़ों की मातहती में रखा गया था इसलिए वे और भी अधिक असन्तुष्ट हुए। १९१९-२० में ही उन्होंने बग़ावतें कीं परन्तु इस समय अंग्रेजों ने बहुत ही चालाकी से काम लिया। उन्होंने अपनी ओर से नम्रता दिखलाई। उन्होंने वहाँ के ही किसी आदमी को राजा बनाना चाहा। वहाँ के राष्ट्रीय दल वाले सैयद तालिब को राजा बनाना चाहते थे परन्तु वे अंग्रेज़ों के कट्टर विरोधी थे। अंग्रेज फैज़ुल को ही वहाँ का राज़ा बनाना

इराक में—

चाहते थे। उन्होंने सैयद तालिब को सिलोन में निर्वासित कर दिया और २३ अगस्त १९२१ को फैज़ुल को राजा बना दिया। फैज़ुल अंग्रेज़ों के हाथ का पुतला था और इराक़ का वाशिन्दा नहीं था इसलिए वहाँ वाले उसके ख़िलाफ़ थे। फ्रांसीसियों ने फैज़ुल को निकाल दिया था इसलिए उसे राजा बनते देख उन्होंने भी अंग्रेजों के ख़िलाफ़ लोगों को प्रोत्साहित करना आरम्भ किया।

फैज़ुल की सहायता के लिए एक मजलिस बना दी गई और १९२२ में वह पहले-पहल गद्दी पर बैठा। १९२२ में ही अंग्रेज़ों ने इराक़ से मनमानी सन्धि करा ली। इस सन्धि के अनुसार इराक़ सरकार ने सभी प्रमुख बातों में, ख़ासकर सेना और आर्थिक मामलों में, अंग्रेज़ों की राय लेनी स्वीकार की। एक दूसरी सन्धि द्वारा वहाँ के अंग्रेज अधिकारियों की तनख़्वाह निश्चित कर दी गई। यह भी निश्चित हो गया कि यदि इराक़ राष्ट्र-संघ में शामिल नहीं हो सका तो वह सन्धि बीस वर्षों के लिए लागू होगी। १९२३ ई० में दूसरा समझौता हुआ जिसके अनुसार सन्धि के चार वर्षों तक लागू रहने की ही बात निश्चित हुई। इतने में ही मोसल का मामला आ गया। मोसल पर अधिकार करना अंग्रेजों के लिए बड़े फ़ायदे का था। इराक़ पर अपना प्रभुत्व जमाने से ही वे मोसल के मामले में भी हाथ डाल सकते थे इसलिए उस सन्धि की अवधि फिर पच्चीस वर्षों की करा ली गई। एक धारा यह भी थी कि इराक़ यदि बीच में ही राष्ट्र-संघ में शामिल हो गया तो सन्धि रद्द समझी जायगी। २७ सितम्बर १९२४ को राष्ट्र-संघ की कौंसिल ने भी इस सन्धि को स्वीकार कर लिया।

अंग्रेजों के साथ सन्धि होने की बात का राष्ट्रीय—दल ने घोर विरोध किया परन्तु उन्हें भी विश्वास था कि यदि वे अंग्रेजों से मिलकर नहीं रहेंगे तो मोसल उन्हें नहीं मिल सकेगा इसलिए उन्होंने वह सन्धि मानली।

इराक़ पर कब्जा जमाने में अंग्रेजी सरकार का बहुत-सा धन खर्च हुआ था। १९२५ तक कब्ज़ा जमाये रखने के लिए पन्द्रह करोड़ पौंड खर्च किया गया था। रुई के व्यवसायियों और तुर्की पेट्रोलियम कम्पनी को इससे बहुत अधिक लाभ होता था। इसीलिए अंग्रेजों ने उस पर कब्ज़ा जमाया था। दखल जमाये रखने में बहुत अधिक खर्च देखकर अंग्रेजी पार्लमेंएट ने इराक़ का संरक्षण छोड़ देने का विचार कर लिया था। यदि इराक की सरकार उस सन्धि को नहीं मानती तो अंग्रेजों के इराक़ छोड़ देने की सम्भावना थी। इराक़ पर कब्जा जमा लेने के बाद अंग्रेजों ने बगदाद से फारस की खाड़ी तक और दूसरे स्थानों पर भी रेलें बनाली हैं। अंग्रेज़ों ने दखल जमाने में जो कुछ भी खर्च किया था उसे उन्होंने पूँजी समझा था। उसी पूँजी का वे फायदा उठाने लगे। इराक़ पूरी तरह से अंग्रेज़ों के हाथ में है। वहां की अवस्था का इसीसे अन्दाज़ा लगाया जा सकता है कि १९२७ में उन्होंने भारतीयों को इराक़-सरकार में कोई पद प्राप्त करने से रोक देना चाहा। इराक़ी लोगों में स्वार्थ-भाव बहुत अधिक है। वे अपनी थोड़ी-सी भलाई के लिए झट से पक्ष परिवर्तन कर देते हैं। उन्होंने अपने समान मज़हब वाले तुर्की से लड़ाई की और यदि अपनी भलाई देखेंगे तो अंग्रेज़ों का पक्ष लेकर एशिया के और दूसरे राष्ट्रों के खिलाफ़ भी लड़

सकते हैं परन्तु यह अवस्था अधिक दिन तक नहीं रहेगी। उन्हें मजबूर होकर अपने पड़ोसी राष्ट्रों के हित का ख़याल रखना पड़ेगा नहीं तो उनका अकेले चलना असम्भव हो जायगा।

अंग्रेजों को मुसलमानों के विचारों की बहुत परवा रहती है क्योंकि उसका असर उनके एशियायी साम्राज्य पर पड़ता है। मुसलमान अधिकतर धार्मिक विचार के होते हैं। उनकी ख़लीफ़ा पर बहुत श्रद्धा रहती थी। ख़लीफ़ा ही उनके विचारों में परिवर्तन कर सकता था। जब अंग्रेजों ने तुर्की को अपने हाथ से जाता देखा तब उन्होंने मक्का के शरीफ़ हुसैन से अपना एक और फ़ायदा निकालना चाहा। तुर्की यदि ख़लीफ़ा को च्युत कर दे तो हुसैन को ख़लीफ़ा बना दिया जा सकेगा। मक्का मुसलमानों के लिए बहुत ही पवित्र स्थान है। वहाँ के शरीफ़ से बढ़कर और कोई दूसरा आदमी मुसलमानों का ख़लीफ़ा बनाने के लिए अंग्रेजों को ठीक नहीं जंचा। हुसैन भी बहुत पहले से ही ख़लीफ़ा बनने का प्रयत्न कर रहे थे। अंग्रेजों की नीति उन्हें अपने लिए बड़ी लाभदायक जंची। जब तुर्की के ख़लीफ़ा १९२४ के मार्च में च्युत कर दिये गये तब हुसैन ने अपने ख़लीफ़ा होने की घोषणा कर दी। हेजाज, पैलेस्टाइन, सीरिया, इराक़, ट्रांसजार्डोनिया आदि ने उन्हें ख़लीफ़ा मान लिया।

संसार के और देशों के मुसलमानों ने उन्हें ख़लीफ़ा नहीं माना। उन्हें ख़लीफ़ा नहीं मानने का प्रधान कारण यह था कि वे अंग्रेजों के हाथों के पुतले हो रहे थे। दूसरा कारण यह कि उन्हें पवित्र स्थानों की रक्षा करने में लोग समर्थ नहीं समझते थे। उनकी समझ से यदि कोई ख़लीफ़ा हो सकता है तो किसी

स्वतंत्र देश का शाह ही हो सकता है। इसलिए अंग्रेजों की नीति सफलीभूत नहीं हुई।

अभी तक नज्द का शरीफ़ इब्नसऊद चुपचाप बैठा था। युद्ध के समय अंग्रेजों ने उसे चुप बैठे रहने के लिए और हेजाज पर आक्रमण न करने के लिए जो रुपये दिये थे उनसे उसने सेना संगठित कर ली थी। उसी समय से वह अपना राज्य-विस्तार भी करता जा रहा था। दवजेल शामार जाति, और एलहसा के शेख़ को उसने अपने अधिकार में कर लिया था। इस समय उसने अपने राज्य-विस्तार का अच्छा मौक़ा देखा। हेजाज पर आक्रमण करने का उसे वहाना भी मिल गया। जो यात्री हज करने के लिए मक्का-मदीना जाते थे वे लौटने पर वहाँ की वदइंतजामी का बहुत वर्णन किया करते थे। हुसैन उन ख़रावियों को दूर नहीं करते थे। इन्हीं वातों का वहाना करके १९२४ में इब्नसऊद ने हेजाज पर आक्रमण कर दिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। मक्का पर उसका १३ अक्तूवर १९२४ को क़ब्जा हो गया। हुसैन को वहाँ से भाग कर साइप्रस द्वीप में चले जाना पड़ा। उनके सबसे वड़े लड़के अली लड़ते रहे परन्तु उन्हें भी सफलता नहीं हुई। अन्त में वे भी भाग गये।

इब्न सऊद का उदय

वहावियों ने मक्का-मदीना पर क़ब्ज़ा करके वहाँ का सब इंतजाम दुरुस्त किया और जितने प्रकार के सुधार उनके दिमाग़ में आये उन्होंने वहाँपर काम में लाये। कुछ ही दिनों के वाद इब्नसऊद ने फ़रमान निकाला कि 'हेजाज के रहनेवालो!

मुझे राजा मानो।' अंग्रेज हुसैन की सहायता चाहते हुए भी नहीं कर सके।

अंग्रेज इब्नसऊद को और आगे बढ़ने देना नहीं चाहते थे। इब्नसऊद ने भी जल्दी बाजी करना अच्छा नहीं समझा इसलिए उसने अंग्रेज़ों से सन्धि कर ली। इस समय इब्न-सऊद ही अरब का सबसे शक्तिशाली शरीफ़ बन गया। सीरिया, पैलेस्टाइन और इराक़ के लोगों ने मिलकर अरबों की एकता के लिए जितना प्रयत्न नहीं किया उतना अकेले इब्न-सऊद ने किया। इसने अंग्रेजों से सन्धि कर ली थी परन्तु हुसैन की तरह से उनके अधीन नहीं हो गया था। उसने सम्पूर्ण अरब को एक करने का विचार इस समय तक छोड़ा नहीं था।

पिछले साल १९२८ के आरम्भ में इब्नसऊद इराक़ पर चढ़ाई करने की तैयारी करने लगा। बहुत से वहाबी शेख़ और सुल्तान इब्नसऊद के पास पहुँचने लगे। युरोप से बहुत से लड़ाई के सामान भी उसने मँगाने आरम्भ कर दिये। फ़रवरी के महीने में केवल एक जहाज से दस हजार बक्स कारतूस उतारे गये थे। वे बन्दर में उतारकर तुरन्त ही गाड़ियों में लादकर देश के भीतर भेज दिये गये। इराक़ पर चढ़ाई करने के उसने बहुत से बहाने भी ढूँढ लिये। उसने फ़ैज़ुल पर यह दोष लगाया कि वे हेजाज के बेदायूँ जातियों में उसके ख़िलाफ़ असन्तोप फैलाते हैं।

मस्कत और ओमन के सुल्तान भी कुछ वर्षों से अंग्रेजों के निरीक्षण में आ गये थे। १९२७ की जेद्दा की सन्धि में ओमन के सुल्तान से दोस्ती का वर्ताव रखने का वादा करने

पर भी इस समय इब्नसऊद ओमन पर अपना अधिकार बतलाने लगे।

अंग्रेजों ने अपनी किसी प्रकार की भी नीति इस समय अरब के विषय में प्रकट नहीं की। इब्नसऊद का अंग्रेजों से भी झगड़ा था। हेजाज रेलवे पर वह अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों का अधिकार न रहने देकर अपना अधिकार जमाना चाहते थे परन्तु फ्रांस चुप रहकर जैसी सहायता उन्हें पहले किया करता था वैसी मध्यसागर (मेडिट्रेनियन) के मामले में अंग्रेजों से समझौता हो जाने के कारण इस समय उसने नहीं की। इब्नसऊद का विरोध अंग्रेज और फ्रांसीसी दोनों ने ही किया। इब्नसऊद को सफलता नहीं हुई। इस समय इब्नसऊद ट्रांसजार्डेनिया पर भी आक्रमण कर दे सकता था इसलिए अंग्रेज वहाँ पर तैयारी करने लगे। उनकी तैयारी केवल आक्रमण रोकने लायक़ ही नहीं वरन् आगे बढ़कर आक्रमण कर देने के लायक़ हो गई थी।

इराक़ का भय

इराक़ वहाबिओं के आक्रमण के भय से बहुत भयभीत हो गया। अंग्रेजों की सहायता की उसे पूर्ण आशा थी परन्तु उन्होंने उत्तर दिया कि वे जिसमें अरब की भलाई देखेंगे वही करेंगे। यदि वे वहाबियों के साथ मिलने में फ़ायदा देखेंगे तो उनके साथ ही मिल जायँगे। इस समय अंग्रेज इराक़-सरकार को वहाबियों के डर से और भी अधिक भयभीत करके अपने लिए कुछ अधिक सुविधाएँ प्राप्त कर लेना चाहते थे। कुछ अंग्रेज पूँजीपतियों ने आपस में मिलकर 'ब्रिटिश ऑइल डिपार्टमेण्ट कम्पनी खोली थी। इस कम्पनी ने पांच सौ मील लम्बी

रेल बग़दाद से हइफ़ा तक आधी इराक़ और आधी ट्रान्सजार्डोनिया और पैलेस्टाइन में बनाने का विचार किया था। रुई के व्यवसायी भी बग़दाद के दक्षिण में रुई उपजानेवाली ज़मीन में सुविधा लेना चाहते थे। बग़दाद में बिजली पहुँचाने के ठीके में भी एक अंग्रेज कम्पनी सुविधा प्राप्त करना चाहती थी। इनके अलावा और भी अनेक प्रकार की सुविधाएँ अंग्रेज प्राप्त करना चाहते थे। उन सुविधाओं के मिल जाने से पार्लमेंट के कुछ सदस्यों का भी लाभ था क्योंकि वे भी उन कम्पनियों के हिस्सेदार थे। इन्हीं कारणों से अंग्रेज इराक़-सरकार को वहावियों का डर दिखलाकर अपने लिए अच्छी से अच्छी सुविधाएँ प्राप्त करना चाहते थे। इराक़-सरकार इस समय बहुत भयभीत हो गई थी। इसका पता इसीसे चलता है कि जो लोग फैज़ुल के ख़िलाफ़ थे वे भी इस विपत्ति के समय उसके पक्ष में हो गये। हेजाज का निकाला गया राजा अली (फैज़ुल का भाई) इब्न-सऊद का सबसे बड़ा दुश्मन समझा जाता था इसीलिए उसे इराक़ की पार्लमेंट ने १२००० एकड़ भूमि जायदाद में दी। फैज़ुल की धाक देश में जम गई थी। वह अंग्रेजों से इब्न-सऊद के विषय में बातें करना चाहते थे। इंग्लैंड की सहायता लेकर इब्नसऊद की शक्ति कम कर देना उनका विचार था।

अंग्रेज भी इब्नसऊद को बहुत आगे नहीं बढ़ने देना चाहते थे। उन्होंने पिछले साल मार्च के अन्त में उससे बातचीत करने के लिए सर गिल्बर्टक्लेटन को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा अंग्रेजों ने इब्नसऊद को धमकाया भी और आर्थिक लालच भी दिया। इब्नसऊद ने अपनी नीति बदल डाली। उसने आगे

बढ़ने का उपयुक्त समय नहीं समझा। अतः उस समय चुप बैठ कर उपयुक्त समय की प्रतिक्षा करने में ही भलाई देखी।

इब्नसऊद ने अरब में कम-से-कम ऐसी अवस्था ला दी है कि अंग्रेज चाहे जिस प्रकार अरब को अपनी इच्छानुसार नचा नहीं सकते। इब्नसऊद का सारे अरब को एक करने का प्रयत्न दिन-दिन बढ़ता ही जाता है। दजबल शमार के बेदायूं, नेज्द के वहाबी, सीरिया, इराक़ हेजाज के अरब, पैलेस्टाइन के यहूदी, लबनन के ईसाई एक साथ मिलकर अरब में अपना एक संगठित राज्य स्थापित करलें तो भविष्य में उनकी शक्ति बहुत बढ़ जायगी। वे अपनी रक्षा करने में समर्थ होंगे और दूसरे लोगों को भी सहायता पहुँचा सकेंगे। अरब की प्राचीन सभ्यता बहुत ही उन्नत रही है। यदि वे एक हो जायँ तो उनके पुराने सुख और चैन के दिन फिर से लौट आयँगे। अभी भी सारे अरब में तुर्की और मिश्र के साथ मिल जाने का आन्दोलन चल रहा है। इतनी बात अवश्य है कि इस आन्दोलन की आवाज़ बहुत ही धीमी है परन्तु धीमी आवाज़ वाला स्वप्न भी इब्नसऊद के सारे अरब को एक कर देने के ख़याल के पूरा हो जानेपर बहुत शीघ्र पूरा हो सकता है। अब अरब दिन-दिन वर्तमान युग की लहर में बहना सीखता जा रहा है। जिस मरुभूमि को पार करने में पहले महीने लगते थे अब घंटों में वहाँ पर पहुँचना सम्भव हो गया है मोटरें दौड़ने लगीं हैं। यात्रा की अन्य सुविधाएँ भी जारी की गई हैं। शिक्षा इत्यादि में भी बहुत से सुधार किये गये हैं। इससे अरब के एकसूत्र में बँध जाने में बहुत-कुछ सहायता मिलेगी।

[७]

तरुण चीन

नेपोलियन ने ठीक ही कहा था—'चीन एक सोता हुआ दैत्य है।' साम्राज्यवाद ने उस सोते हुए दैत्य को जगा दिया है। अब वह अफीम के नशों में सोने वाला नहीं रह गया। वह उत्तरोत्तर उन्नति की ओर बढ़ता चला जा रहा है। वहाँ की जागृति केवल इने-गिने शिक्षित लोगों में ही परिमित न रहकर सारे राष्ट्र में फैल गई है। बूढ़ा चीन आज तरुण हो गया है। वहाँ का राष्ट्रीय दल—कुओमिणटांग—सारे राष्ट्र की जागृति का प्रतिनिधि-स्वरूप है। कुछ अंशों में कुओमिणटांग जागृति लाने वाला है, और कुछ अंशों में वह स्वयं जागृति से उत्पन्न हुई एक संस्था है। कुओमिणटांग एक विशाल संस्था है। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना करनेवाली यही है और देश में सामाजिक तथा आर्थिक सुधार करने का भी श्रेय इसी को है। मंचू राजाओं के समय में यह गुप्तरूप से क्रांति करने के लिए षड़यंत्र रचा करती थी। राजनैतिक अवस्था में सुधार करने का और प्रजातंत्र शासन स्थापित करने का विचार सर्वप्रथम इसी संस्था ने किया था। यह चीन की क्रांति की आत्मा है। इस दल में अधिकतर सदस्य पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए विद्यार्थी हैं। इन लोगों का अधिक प्रभाव दक्षिण चीन में ही है। कुओमिणटांग के

'कुओ। मिणटांग'

संस्थापक डा० सनयातसेन थे। चीन में स्वतंत्रता की लड़ाई छेड़ देने का ख़याल लोगों में सब से पहले उन्होंने ही पैदा किया। क्रांति के उद्देश्यों को उन्होंने 'जनता के तीन सिद्धान्त' में साफ व्यक्त कर दिया था। चीन की क्रान्ति साम्राज्यवाद के ख़िलाफ थी। साम्राज्यवाद के अस्त्रस्वरूप चीन के भिन्न-भिन्न सेनानायक हो गये इसलिए जनता ने उनके ख़िलाफ भी लड़ाई छेड़ दी।

'जनता के तीन सिद्धान्त' का ही खयाल करके सनयातसेन को साम्यवादी कह देना भूल करना होगा। उन्होंने साम्यवादी विचारवालों को भी कुओमिंगटांग में सम्मिलित किया क्योंकि उससे क्रान्ति की नींव मजबूत होती थी; सोवियट रूस ने उनके साथ समानता का व्यवहार रखा इसलिए उन्होंने उससे सहायता ली फिर भी वे साम्यवादी नहीं थे। वे न तो रूस के और न इंग्लैंड, जापान व अमेरिका के पक्षपाती थे। वे यदि किसी के पक्षपाती थे तो चीन के और अपनी शक्ति उसी के पुनरुत्थान में लगाते थे; परिस्थिति के अनुसार अपनी नीति बदला करते थे। मंचू-साम्राज्य का ध्वंस करने के लिए उन्होंने इंग्लैंड, अमेरिका और जापान तीनों से सहायता ली फिर भी यदि ये तीनों शक्तियाँ एकसाथ वा अलग-अलग जब कभी चीन के लाभ में बाधक होती थीं तो वे तीनों के ही कट्टर विरोधी हो जाते थे। रूस के अपने सभी अधिकारों को तिलांजलि दे देने से वे बहुत प्रभावित हुए थे फिर भी उससे सहायता न माँगकर उन्होंने जापान, इग्लैंड और अमेरिका से सहायता माँगी। इन राष्ट्रों के सहायता न करने पर उन्होंने रूस से मेल कर लिया और वहाँ

राजनैतिक तथा सेनाविषयक मामलों में सलाह देने के लिए सलाहकार बुला लिये। रूस के वह मित्र थे वह समझते थे कि रूस के साथ मेल रहने पर ही दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्रों पर चीन के साथ अच्छा व्यवहार रखने के लिए दबाव डाला जा सकेगा; उसी की मित्रता के जोर से जापान को मंचूरिया पर कब्जा करने से रोक सकेंगे और कुओमियंग के बड़े भारी शत्रु ग्रेट-ब्रिटेन के साथ लड़ाई में सफलता पा सकेंगे।

मंचू-साम्राज्य की जड़ खोद डालने पर भी सनयातसेन का उद्देश पूर्णरूप से सफल नहीं हुआ। युआनशिकाई की मृत्यु के

बाधाएँ

बाद चीनी प्रजातन्त्र जीवित रहा परन्तु शक्ति, एकता और शांति का वहाँ पर पूर्णरूप से अभाव था। दिन-दिन प्रजातन्त्र शासन की वृद्धि में रुकावट डालने वाले नये-नये कारण उपस्थित होते ही गये। उत्तर और दक्षिण चीन में बहुत भेद था। दोनों स्थानों की लिपि एक थी फिर भी बोलचाल की भाषा में बहुत भेद था। राष्ट्रीयता का जोर जितना दक्षिण चीन में था उतना उत्तरी चीन में नहीं था।

प्रजातन्त्र शासन की दूसरी बड़ी बाधा यह थी कि चीन की सरकार बहुत दिनों से ढीली-ढाली चली आती थी। प्रांतों

गृह-कलह

को बहुत अधिक स्वतन्त्रता थी। प्रजातन्त्र शासन स्थापित होने पर भी उस अवस्था में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। प्रांतीय सैनिक शासक, जिन्हें चीनी 'तुखन' कहते हैं, केन्द्रीय प्रजातन्त्र शासन की परवा नहीं करते थे। ये तुखन अपने-अपने प्रांतों में लूट मचाते, अलग-अलग सेनाएँ रखते, आपस में अथवा केन्द्रीय शक्ति से सदा लड़ते

रहते और उनमें जो बहुत अधिक मजबूत होता वह शासन उलट देता, मंत्रिमण्डल को अपने अधिकार में रखता और इच्छानुसार शासन किया करता था। इन लोगों ने चीन को गृह-कलह का आदर्श नमूना बना रखा था। ये लोग पूरे देश का लाभ नहीं देख कर केवल अपना निजी लाभ देखा करते थे। इन्हें राष्ट्र को उन्नत करने की परवा नहीं रहती थी। अपना समय और शक्ति अपनी शक्ति दृढ़ करने में ही लगाते थे। इन फ़साद खड़ा करने वाले तुखनों को बाहरी देशों से अस्त्र-शस्त्र भी मिल जाया करते थे। यदि उन में किसी की हार होती तो वह कमजोर हो जाता था परन्तु उसका धन उसके पास ही रह जाता था। ऐसे तुखन धन लेकर दूतावासों में छिप रहते थे और फिर तैयारी कर लड़ने लग जाते थे। साम्राज्यवादी राष्ट्र खासकर जापान, अपना लाभ चीन को सदा कमजोर बनाये रखने में ही देखता था इसलिए वह भिन्न-भिन्न तुखनों की धन से सहायता किया करता था। तुखन उसकी सहायता से अपनी शक्ति बढ़ाकर लड़ते रहते थे। वे लोग कभी-कभी आपस में मिलकर केन्द्रीय शक्ति पर भी अपना अधिकार जमा लेते थे।

सनयातसेन देश को उन्नत करना चाहते थे; उन्हें अपना लाभ नहीं देखना था इसलिए देश की तत्कालीन अवस्था से वे बड़े ही दुखी रहते थे। वर्साई की सन्धि ने चीन-वासियों की आंखें खोल दीं। राष्ट्रवादी आघात लगने पर देश की अवस्था सुधारने का प्रयत्न और भी अधिक तत्परता से करने लगे। रूस-जापान युद्ध द्वारा जिस प्रकार युरोपियनों के अजेय होने की बात निस्सार सिद्ध हो गई उसी प्रकार वर्साई की सन्धि के

कारण युरोपीय राष्ट्रों का नैतिक प्रभाव और उनके एक होने की बात निस्सार हो गई।

वर्साई की सन्धि के कारण चीन में सभी विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ आन्दोलन आरम्भ हुआ। देश के सभी लोगों में विरोध का भाव विद्यमान था परन्तु विद्यार्थियों में वह स्पष्ट दिखलाई देता था। इस विचार के विद्यार्थी केवल पेकिंग में ही लगभग बीस हज़ार थे। अनेक नगरों में उन्होंने जुलूस निकाल कर वर्साई-सन्धि का विरोध किया। विद्यार्थी राजनैतिक मामलों में खूब भाग लिया करते थे। लोगों ने जापानियों से सम्बन्ध रखनेवाले अनफू क्लब को तोड़ डाला और जापानी चीज़ों का बहिष्कार आरम्भ किया। इसी समय १९२० में सनयातसेन कैंटन की राष्ट्रीय सरकार के सभापति चुने गये।

वर्साई की सन्धि से असन्तोष

पेकिंग की सरकार बहुत कमजोर हो गई थी; फिर भी और राष्ट्र उसीको चीन की सरकार मानते थे। दूसरे राष्ट्रों ने देखा कि चीन के बहुत कमजोर होने पर भी कोई राष्ट्र अकेला उसपर अपना प्रभुत्व जमा नहीं सकेगा तब उन लोगों ने एकसाथ मिल कर उस पर प्रभुत्व जमाने का विचार किया। चीन से युरोपीय शक्तियाँ बहुत लाभ उठा रही थीं, अमेरिका को उस लाभ का काफ़ी भाग नहीं मिलता था इसलिए उसने चीन के मामले में सदा यही प्रयत्न किया कि चीन का जैसा बँटवारा पुराने साम्राज्यवादियों ने कर रखा है वह मिटा दिया जाय। ऐसा होने पर ही अमेरिकन पूँजीपतियों का लाभ हो सकता था। युआनशिकाई ने जो ऋण लिया था, उसमें ब्रिटिश, फ्रेंच,

जर्मन, अमेरिकन, रूसी और जापानी लोगों को बराबर-बराबर भाग मिला था। १९१३ में अमेरिकन उस ऋण से हट गये। युद्ध के समय जर्मन और रूसी भी हट गये! १९१६ में अमेरिकन इंटरनैशनल कारपोरेशन ने ग्रैंड केनाल बनाने के लिए चीनी सरकार को तीस लाख डालर ऋण दिये। इसी कम्पनी ने १५०० मील लम्बी रेल बनाने का ठीका भी लिया; फिर भी वे जापानी लोगों को अधिक लाभ उठाते हुए देखकर उनसे ईर्षा करते थे। १९१८ में चीन को जापान के संरक्षण में जाने देने से बचाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय मंडल का बनाना आवश्यक था। अकेले जापान का ही लाभ न हो इसलिए अमेरिकन, ब्रिटिश, फ्रेंच और जापानी बैंकों का एक दल चीन-सरकार को ऋण देने के लिए बना। मंचूरिया और मंगोलिया के विषय में अपवाद कर देने पर जापान दूसरे राष्ट्रों की बातों से सहमत था।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस

शांति-महासभा के बाद जापानी साम्राज्यवाद का विरोध चारों तरफ से होने लगा। प्रत्यक्षरूप में युद्ध से सबसे अधिक लाभ उसे ही हुआ था इसलिए सभी राष्ट्र उससे चिढ़ गये थे। अमेरिका उसका सबसे बड़ा विरोधी था। उसने १९२१-२२ में वाशिंगटन कान्फ्रेंस बुलाई। दक्षिण चीनी प्रजातंत्र के सभापति सनयातसेन ने उस कान्फ्रेंस में चीन की ओर से दक्षिण चीन के प्रतिनिधि लिये जाने के लिए अमेरिकन राष्ट्रपति हार्डिंज को लिखा परन्तु उन्होंने वर्साई का अनुकरण करते हुए पेकिंग सरकार को ही आमंत्रित किया। कान्फ्रेंस में जापान ने साइबेरिया खाली

करने, चीन के साथ दूसरी सन्धि कर कियाचाऊ का पट्टा लौटाने, शांटुंग की जर्मन रेल चीन के हाथ वेंच देने और चीन-जापान दोनों देशों की कम्पनियों द्वारा शांटुंग के कोयले की खानों से कोयला निकालने का वादा किया। कान्फ्रेंस में वेईहाईवेई, हांगकांग, पोर्टआर्थर और कांगचाऊ भी चीन को लौटा देने की बात तै हुई परन्तु इनमें से कोई भी लौटाया नहीं गया। एक मुक्त-द्वार सन्धि पर भी नौ शक्तियों ने दस्तख़त किया। इन शक्तियों में एक जापान भी था। इस सन्धि के अनुसार सभी राष्ट्रों ने स्वीकार किया कि चीन की स्वतंत्रता मानी जायगी; दस्तख़त करने वाली शक्तियाँ चीन के किसी भी भाग में आर्थिक एकाधिकार प्राप्त नहीं करेंगी और अपना प्रभुत्व-क्षेत्र भी निश्चित नहीं करेंगी। चीन से अथवा उससे सम्बन्ध रखती हुई गुप्त-सन्धियाँ कोई भी राष्ट्र नहीं कर सकेगा। ये बातें साम्राज्यवादी चालों के लिए मृत्यु-समान थीं। कान्फ्रेंस ने अपनी इच्छा प्रकट की थी कि चीन अपनी सभी रेलें मिलाकर एक राष्ट्रीय रेलवे बना लेगा और जैसी सहायता विदेशियों से वह चाहेगा वैसी ही लेगा। यदि कान्फ्रेंस की सभी बातें मानी जातीं तो चीन युरोपीय और जापानी साम्राज्यवाद से पूर्ण रूप से छुटकारा पा जाता और १८९५ से चली आती हुई साम्राज्यवादी नीति उलट जाती परन्तु उपर्युक्त बातें केवल काग़ज़ पर लिखने के लिए ही थीं। कमज़ोर राष्ट्रों को अधिकार तभी प्राप्त हो सकता है जब वे स्वयं प्रयत्न करके लें। अधिकार उन्हें कोई दे नहीं सकता।

जापान को आगे बढ़ने में बहुत-कुछ स्वतन्त्रता रही। फिर

भी इस कान्फ्रेन्स के कारण उसका बहुत घाटा था। उसने मंचूरिया के तुखन चांग-सो-लिन से मेल कर लिया। उसे केन्द्रीय शक्ति से लड़ने के लिए हमेशा उभाड़ता रहा। जापानी चाहते थे कि पेकिंग पर चांग-सो-लिन का कब्जा हो जाय। अनफू क्लब के स्थान पर कोई एक दूसरा अवश्य चाहिए था। केन्द्रीय शक्ति बहुत कमजोर हो रही थी। होनान के तुखन वू-पाई-फू उसपर अपना आधिपत्य जमाने जा रहे थे। चांग-सो-लिन अपना आधिपत्य चाहते थे इसलिए दोनों में १९२० में ही लड़ाई छिड़ गई। मंचूरिया के तुखन ने सनयातसेन को आशा दिलाई कि यदि वे उसकी सहायता करेंगे तो वह कैंटन सरकार को स्वीकार कर लेगा। सनयातसेन ने उसे अच्छा मौक़ा आया समझा और वू-पाई-फू के खिलाफ़ लड़ाई छेड़ दी परन्तु इनकी हार हुई और इन्हें भागकर शांघाई चले जाना पड़ा। कैंटन पर दख़ल जमाने के लिए यांगत्सी के दक्षिण के कई तुखन आपस में ही लड़ पड़े। इस समय ऐसे भी बहुत से तुखन हो गये जो किसी भी सरकार के अधीन नहीं थे। वे लोग अपने अधिकृत प्रदेशों पर मन-माना कर लगाते थे और अपनी प्रजा के साथ इच्छानुकूल व्यवहार करते थे। लड़ाई में मंचूरिया के तुखन की इस समय हार हुई। वू-पाई-फू का पेकिंग पर अधिकार हो गया। चांग-सो-लिन ने १९२४ में दूसरी बार उनपर आक्रमण किया। वू-पाई-फू उनका सामना करने के लिए मंचूरिया की ओर बढ़े परन्तु उनकी सेना उनसे सन्तुष्ट नहीं थी। वे मंचूरिया की ओर बढ़ रहे थे, इतने में उनके ईसाई सेनापति फेंग-यू-हिशांग ने पेकिंग पर अधिकार

गृह-कलह

कर लिया। वू-पाई-फू का सामना जापानी लोगों ने भी मंचूरियन तुख़न का पक्ष लेकर किया। अन्त में वू-पाई-फू को भागकर होनान चले जाना पड़ा।

जेनरल फेंग-यू-हिशांग सनयातसेन के मित्र थे। उन्हें सोवियट-सरकार से भी सहायता मिली थी। उनके मुख्य सलाहकार सोवियट राजदूत कारा खां और सनयातसेन थे। इस समय सभी लोगों को आशा होने लगी कि पेकिंग में सोवियट ढंग का शासन हो जायगा। सनयातसेन भी इसी मौक़े पर पेकिंग पहुँचे परन्तु ११ मार्च १९२५ को इनकी मृत्यु हो गई।

सनयातसेन की मृत्यु

मृत्यु के पहले ही सनयातसेन ने कुओमिण्टांग को ऐसी अवस्था पर पहुँचा दिया था कि यदि वह तुखन लोगों के खिलाफ लड़ाई करती तो उसकी विजय निश्चित थी। जिस समय तुखन आपस में लड़ रहे थे उस समय सनयातसेन कुओमिटांग को और भी अधिक संगठित कर रहे थे। कुओमिण्टांग में पहले व्यक्तियों की चलती थी। उनका नेता कोई व्यक्ति विशेष हुआ करता था परन्तु यह कमजोरी थी। इसे दूर करने का सनयातसेन ने काफ़ी प्रयत्न किया। उन्होंने सदस्यों को समझा दिया कि नेताओं के ऊपर ही कुओमिण्टांग की सफलता-असफलता निर्भर नहीं करनी चाहिए। एक यदि चला जाय तो दल के दूसरे व्यक्ति तुरन्त ही उसका स्थान ले लें। आपस में मतभेद रहने से क्रान्ति सफल नहीं होती। वे कुओमिण्टांग में सदा एकता स्थापित करते रहने का प्रयत्न करते थे। कुओ-

कुओमिण्टांग में फूट

मिण्टांग में सनयातसेन के समय में ही तीन दल थे परन्तु उनके व्यक्तिगत प्रभाव से सभी दल दबे हुए थे। उनके मरने पर फूट पैदा हो गई। नेताओं ने उसे सम्हालने की पूरी चेष्टा की; उन्हें बहुत-कुछ सफलता भी मिली। सनयातसेन ने क्रान्ति के कार्य को तीन अवस्थाओं में विभक्त कर दिया था। पहली अवस्था सैन्य-बल से, साम्राज्यवाद के अस्त्र, देश के तुख्न लोगों को दबाने की थी। दूसरी अवस्था लोगों को शिक्षित करने की थी; उस समय भी कुओमिण्टांग के ही अधिकार में सारी शक्ति रहती; तीसरी विधानात्मक अवस्था होती जिस समय जनता की सरकार देश पर शासन करती।

रूस घरेलू झगड़ों से निपट जाने पर चीन की ओर ध्यान देने लगा। उसने चीन के राष्ट्रवादियों को सहायता दी। सहायता देने के कई कारण थे। चीन एक सताया जाता हुआ राष्ट्र था। अपनी नैतिक शक्ति बढ़ाने के लिए सोवियट-सरकार ने उसकी सहायता की। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति में भी जापान, अमेरिका और ब्रिटेन के ख़िलाफ़ चीन एक अस्त्र बनाया जा सकता था और साम्यवादी विचारों का प्रचार उसकी सहायता से मध्य एशिया में अच्छी तरह किया जा सकता था। रूस चीन के आपस में मिल जाने से दोनों को ही लाभ हुआ। जापान ने उन लोगों के साथ नरमी का व्यवहार आरम्भ किया। मालूम पड़ने लगा कि अमेरिका और ब्रिटेन के ख़िलाफ़ पूर्वी एशिया में चीन, रूस और जापान का एक नया दल हो जायगा। रूस के ही कारण चीन में अंग्रेजों के ख़िलाफ़ बहुत अधिक विरोध का भाव आगया।

१९२४ की रूसी-चीनी सन्धि के बाद रूस के प्रतिनिधि कारा खाँ पेकिंग में रहने लगे। इनके पहुँचने के बाद से पेकिंग में विदेशियों के, ख़ासकर इंग्लैंड के, खिलाफ़ बहुत अधिक भाव फैल गया। रूसी सरकार के खिलाफ़ चीनी लोगों की ग़लत धारणाएँ बँध गई थीं; वे नष्ट होने लगीं। कारा खां का प्रभाव विद्यार्थियों पर बहुत अधिक पड़ा। सोवियट-सरकार की ओर से चीन में अख़बार निकालने वाले भी भेजे जाने लगे। सोवियट-सरकार चीनी जनता पर यह प्रभाव डालना चाहती थी कि वह समझ ले कि रूस ने अपनी नीति बदल ली है, अब वह पुराना साम्राज्यवादी रूस नहीं रह गया। चीन के साथ किसी विदेशी राष्ट्र ने समानता के आधार पर सन्धि की तो वह इस समय तक अकेला रूस ही था इसलिए उसकी बातों पर लोगों का विश्वास हो जाता था। चीनी, ख़ासकर विद्यार्थी, रूसी लोगों को अपना सहायक समझते थे क्योंकि रूसी उनके साथ मिलते समय उन्हें यथोचित सम्मान देते थे। कारा खां से लोगों ने पूछा कि उनके प्रचार करने का कौन-सा ढंग है जिससे विद्यार्थियों पर उनका इतना अधिक प्रभाव पड़ता है? कारा खां ने उत्तर दिया था कि विद्यार्थी यदि अन्य विदेशी लोगों के साथ मिलने जाते हैं तो उन्हें वे बैठने के लिए भी नहीं कहते परन्तु उनके यहाँ पहुँचने पर विद्यार्थियों का सत्कार होता है इसीलिए उनका अधिक असर पड़ता है।

रूस का प्रभाव

दक्षिण चीन में भी रूस ने सनयातसेन को काफ़ी विश्वास दिला दिया था कि सोवियट-सरकार की शासन-प्रणाली और उनके कुओ-मिण्टांग की शासन-प्रणाली में कोई अन्तर नहीं है। 'एशिया

चांग-सो-लिन का पेकिंग पर अधिकार हो गया। वू-पाई-फू भी लड़ाई की तैयारी करने लगे; परन्तु उन्होंने चांग-सो-लिन से दक्षिणी सरकार के खिलाफ मेल कर लिया। चांग-सो-लिन का रूसी सरकार से झगड़ा चलने लगा। मंचूरिया में सोवियट सरकार के हस्तक्षेप से मनमुटाव और भी अधिक बढ़ा। चांग-सो-लिन समझने लगा कि साम्राज्यवादी रूस और सोवियट सरकार में कुछ भी अन्तर नहीं है। मंचूरिया में जापान के रुकावट डालने के कारण रूस आगे नहीं बढ़ सका।

दक्षिणी चीन में रूस का काम अच्छी तरह चलता रहा। कैंटन सरकार का सलाहकार बोरोडिन १९२३ ई० से हीं वहाँ पर रहता था। उसी के निरीक्षण में हामवोआ में एक सैनिक विद्यालय खोला गया था जहाँ पर दक्षिणी सरकार के लिए सैनिक तैयार किये जाते थे। सोवियट सरकार के ही ढंग पर यहाँ पर और भी कई संस्थाएँ कायम की गई। बोरोडिन और उसके सहायकों की सहायता से कैंटन सरकार दिन-दिन संगठित होती गई। उनकी सहायता से दक्षिणी चीन के सेनापति चियांग-काई-शेक की शक्ति इतनी बढ़ गई कि वह उत्तर के तुख़नों से मुकाबिला करने योग्य हो गये। सोवियट सरकार की नीति के कारण दक्षिणी सरकार की शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, उनमें अंग्रेज़ और तुख़नों के खिलाफ भाव भी वैसे ही बढ़ता जाता था।

दक्षिण चीन

इसी समय अंग्रेजों की ओर से एक ऐसा कार्य हो गया कि जिससे उनके खिलाफ विद्रोहाग्नि और भी जोरों से भड़क

उठी। ३० मई १९२५ को कुछ विद्यार्थी शंघाई की सड़कों से विदेशियों के खिलाफ भावप्रदर्शन करने के लिए जुलूस बनाकर जा रहे थे। अंग्रेजी सिपाहियों ने उनपर गोली चला दी जिससे कई मर गये और अनेक घायल हो गये। यह ऐसी घटना हो गई जिससे चीन के विद्रोह ने एक नया रूप ले लिया।

दुःखद घटना

१९१५ में जापान की इक्कीस माँगों के खिलाफ भी लोगों में इस समय के जैसा असन्तोष का भाव नहीं था। चीनी लोगों के भीतर पढ़े-लिखे लोगों के लिए बहुत अधिक सम्मान का भाव रहता है। विद्यार्थी ही आगे चलकर विद्वान् बनते हैं इसलिए जनता उनका बहुत आदर करती है। विद्यार्थियों के मारे जाने से असन्तोष की अग्नि भभक उठी। द्वेष का भाव सभी विदेशियों के प्रति था। परन्तु वह ग्रेटब्रिटेन के खिलाफ बहुत ही अधिक था। कैंटन में सभी विदेशी चीजों का बहिष्कार आरम्भ हुआ। पेकिंग में भी असन्तोष पैदा हुआ था परन्तु वहाँ के लोग कुछ कर नहीं सके। अंग्रेजी चीजों के बहिष्कार करने के बाद छोटे-मोटे दंगे होने लगे। विदेशी और ईसाई लोगों के खिलाफ भाव लोगोंमें जागृत होने लगे। चीन इस मामले में इस समय जैसा एक हो गया, वैसा पहले और कभी नहीं हुआ था।

१९२६ में कुओमिंटाग कांग्रेस के संरक्षण में आई हुई कैंटन-सरकार की सेना उत्तर के तुखनों पर आक्रमण करने के लिए बढ़ी। रूस में बोल्शेवी लोगों ने जिस-प्रकार से देश को एक बनाने और शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया था, यह प्रयत्न भी ठीक वैसा ही था। इस आक्रमण में सबसे अधिक आश्चर्य

राष्ट्रीय दल की बढ़ती

की बात यह थी कि कैंटन से केवल पचास या साठ हजार सेना आक्रमण करने के लिए चली थी परन्तु जब वह वूहन और शंघाई पहुँची तो उसकी संख्या लगभग दो लाख हो गई। उस सेना को रास्ते में कई प्रान्तों के तुखनों से लड़ाइयाँ भी लड़नी पड़ी थीं। कई वर्षों से शंघाई सन-चुआंग-फाँग के कब्जे में थी। उसके साथ लड़ने में भी कुओमिंगटांग की सेना की क्षति हुई थी। १९२७ के अप्रैल तक शंघाई से हांकाऊ तक यांगत्सी के दोनों तटों के लगभग सभी शहर राष्ट्रीय दल के अधिकार में आ गये। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि चियाँग-काई-शेक को पेकिंग पर कब्ज़ा करने से कोई रोक नहीं सकेगा।

राष्ट्रीयदल के इस प्रकार से विजयी होने के कई कारण थे। कुओमिंटांग और तुखनों की सेना में सबसे बड़ा भेद यह था कि तुखनों की सेना भावों से प्रेरित होकर नहीं बल्कि रुपये के लोभ से लड़ती थी। दूसरी ओर कुओमिंटांग की सेना को युद्ध-विषयक शिक्षा तो थोड़ी-बहुत प्राप्त हुई रहती ही थी परन्तु भावों से भी उन्हें भर दिया जाता था। कुओमिंगटांग के नेता सेना को वे उद्देश बतला देते थे जिनके लिए उसे लड़ना होता था। जिस रास्ते से कुओमिंटांग की सेना आगे जाती थी उसके आसपास के मजदूर और किसान उस सेना में भर्ती हो जाया करते थे। कुओमिंटांग की सेना की विजय का कारण उसकी सैनिक ताकत नहीं बल्कि उसका आदर्शों के लिए उत्साह का भाव था, जिसने चीनी जनता में अपनी जड़ मजबूती से जमा ली थी। इस सेना में विद्यार्थी, जमींदार, शिल्पी, किसान, मजदूर सभी शामिल होते थे परन्तु उसकी शक्ति इसी कारण

से बढ़ती थी कि वे अपने दल में केवल उन्हीं लोगों को शामिल करते थे जो दल के उद्देशों की पूर्ति के लिए कार्य करने को तैयार रहते थे। किसान और मजदूर राष्ट्रीय दल की विजय में अपना लाभ देखते थे इसलिए वे ही लोग अधिक संख्या में शामिल होते थे। जनता का विश्वास राष्ट्रीय दल पर जम गया था; यही एक मात्र कारण था जिससे सारा दक्षिणी चीन राष्ट्रीय झण्डे के नीचे आने के लिए तैयार हो गया था।

जनता का विश्वास प्राप्त होना भी इस विजय का एक बड़ा कारण था। तुखन लोगों की सेना जिस रास्ते से जाती थी उसके आस-पास के निवासियों पर सैनिक नाना प्रकार के अत्याचार किया करते थे; उनसे बेगार लिया जाता था; उनके सामान ले लिये जाते थे और पैसे नहीं दिये जाते थे। उनकी सेना लोगों को बहुत डराया-धमकाया करती थी। राष्ट्रीय सेना का लोगों के साथ इसके ठीक विपरीत आचरण होता था इसलिए लोग उनके साथ सहानुभूति का भाव रखते थे। कुओमिरटांग की विजय का मुख्य कारण जनता की सहायता थी।

फूट

पर शंघाई पर कब्जा होने के बाद से राष्ट्रीय दल में फूट के लक्षण प्रत्यक्ष दिखलाई देने लगे। थोड़े-से क्रान्तिकारी नेता चीन की क्रान्ति को जनता की क्रान्ति का रूप न देकर कुछ थोड़े से राष्ट्रीय विचार-वालों की क्रान्ति का रूप देना चाहते थे जिसमें शासनाधिकार जनता के हाथ में न रहकर मुख्य-मुख्य राष्ट्रीय विचारवाले नायकों के हाथ में रहे। मजदूर और किसान तुखनों के शासन से अवश्य ही दुखी थे। राष्ट्रीय सरकार की पार्लमेण्ट स्थापित

हो जाने से उनकी अवस्था थोड़ी सुधर जाती परन्तु वे जैसा चाहते थे, वैसा सुधार होना सम्भव नहीं था। पार्लमेण्ट की अपनी सैनिक शक्ति नहीं रहती थी, उसे किसी न किसी तुखन की सहायता लेनी पड़ती थी इसलिए उसका कार्य वहुत-कुछ वादविवाद समितियों के ही जैसा रह जाता था। जनता को सबसे बड़ा भय यही था कि कहीं फिर से तुखन ही वास्तविक शासक न बन जायँ। कुओमिण्टांग के सदस्य भी इस खराबी का अनुभव करते थे। जनता को जिन सुधारों की आशाएँ उन्होंने दिलाई थीं, वे खयाली नहीं थे। व्यवसायी संघों और मजदूरों के कुछ विशेषाधिकार उन्होंने निश्चित कर दिये थे। व्यापारियों का उससे घाटा होता था। शंघाई व्यवसायियों का केन्द्र स्थान है। राष्ट्रीय दल के अधिकार में आते ही वहाँ के व्यापारियों ने चियांग-काई-शेक पर दबाव डाला कि जनता के साथ जो प्रतिज्ञाएँ की गई हैं वे पूरी न की जायँ।

चियांग-काई-शेक व्यापारी लोगों के वहकावे में आगये। इस समय साम्यवादियों का जोर कैंटन सरकार में वहुत अधिक वढ़ रहा था इसलिए वे और भी अधिक बिगड़े। चीनी नेताओं में कुछ ऐसे अवश्य थे जो साम्यवादी विचारों के माननेवाले थे परन्तु वहाँ के अधिकांश नेता रूसी सिद्धान्तों के अन्धभक्त कभी नहीं रहे। सोवियट सरकार के मंगोलिया और मंचूरिया के मामलों में हस्तक्षेप करने से राष्ट्रीय नेताओं को रूस पर भी सन्देह होने लगा। वे समझने लगे कि मंगोलिया को सोवियट सरकार ने अपने संरक्षण में रख लिया और मंचूरिया में जापानियों के लाभ के लिए वह प्रयत्न कर रही है। ऐसे विचार-

वाले नेताओं को यह भी सन्देह होने लगा कि बोरोडिन तथा अन्य रूसी सलाहकार राष्ट्रीय सरकार में कुओमिंगटांग के भीतर ही साम्यवादी विचारों को लेकर गृह-कलह खड़ा कर देना चाहते हैं। सारा चीन अभी एक हुआ नहीं और इसी समय रूसी फूट पैदा कर दे रहे हैं। कुओमिंगटांग की एकता नष्ट करना ही रूसी लोगों का उद्देश है, यह समझकर ही चियांग-काई-शेक उनके विरोधी हो गये। इस समय राष्ट्रीय दल के शत्रु चांग-सो-लिन की सहायता अंग्रेज, अमेरिकन और जापानी कर रहे थे। चीन को बचाने के लिए चियांग-काई-शेक ने रूसी लोगों का प्रभाव कम करना आवश्यक समझा।

प्रतिद्वंद्वी सरकार की स्थापना

हांगकाऊ के अधीनता में आते ही रूसी लोगों के जोर डालने से राष्ट्रीय सरकार ने उसे ही अपनी राजधानी बनाना चाहा। चियांग-काई-शेक रूसी लोगों के हाथ में बागडोर देखकर घबड़ा गये, इसीलिए हांगकाऊ से राष्ट्रीय सरकार की ओर से हटा दिये जाने की धमकी आने पर १८ अप्रैल १९२७ को उन्होंने नानकिन में कैंटन की प्रतिद्वंद्वी सरकार खड़ी कर दी। सरकार क़ायम करते ही उन्होंने व्यवसायी-संघ पर अधिकार कर लिया; शंघाई के मजदूर रक्षकों से हथियार छीन लिये और केवल उनके नेताओं को ही नहीं परन्तु कुछ विद्यार्थियों को भी पकड़कर क़ैद कर लिया और पीछे उनमें बहुतों को सजाएँ दीं। इसी समय जेनरल फेंग भी उनके सहायक हो गये। वे पश्चिम की ओर से हांगकाऊ पर चढ़ाई करने लगे। जेनरल फेंग और चियांग-काई-शेक ने साम्राज्यवादी विचार के बहुत से लोगों को

पकड़ा और उनमें सैकड़ों को मार डाला। चियांग-काई-शेक ने हांगकाऊ से साम्राज्यवादियों का प्रभुत्व उठा दिया; चीन से रूसी सलाहकार भगा दिये गये और चीन और रूस का राजनैतिक सम्बन्ध भी टूट गया।

इस समय विदेशी राष्ट्रों में आपस में बहुत मतभेद था, इसलिए वे सभी चीन के खिलाफ़ एक नहीं हो सकते थे। सभी अपनी-अपनी भलाई की सोच रहे थे। हाँग-काँग में अंग्रेज़ी चीज़ों के बहिष्कार का अंग्रेज़ों पर इतना प्रभाव पड़ा था कि वे दक्षिणी चीन की सरकार को भी मान लेने के लिए तैयार हो गये। चीनी अंग्रेज़ों के बहुत अधिक खिलाफ़ हो रहे थे। कुओमिण्टांग के परराष्ट्र-सचिव और अंग्रेज़ी दूत के कान्फ्रेंस करते रहने पर भी अंग्रेज़ी पूँजी को धक्का पहुँचाया जा रहा था और अंग्रेजी प्रजा पर आक्रमण किये जा रहे थे। राष्ट्रीय दल के नानकिन पर अधिकार करने के दूसरे ही दिन २४ मार्च १९२७ को अंग्रेज, अमेरिकन और जापानी नागरिकों पर सशस्त्र जनता ने हमले किये और जहाँ तक बन पड़ा विदेशी लोगों की चीजें नष्ट कीं। इस समय सात विदेशी मार डाले गये। अपने-अपने नागरिकों की रक्षा के लिए अंग्रेज, अमेरिकन और जापानी सरकार ने सेनाएँ भेजीं परन्तु इस समय का उपयोग बाक्सर-विद्रोह जैसा नहीं किया जा सका। थोड़े ही दिनों बाद चियांग-काई-शेक ने रूसी लोगों का प्रभाव नष्ट कर देने का प्रयत्न किया और उनका प्रभाव नष्ट हो जाने से विदेशी लोगों के खिलाफ़ भाव भी कम हो गया। अंग्रेज और दूसरे साम्राज्य-वादी राष्ट्रों ने देखा कि यदि इस समय चीन से बदला लेने का

प्रयत्न किया जायगा तो वह फिर रूस के साथ एक हो जायगा, इसलिए उन लोगों ने उसे स्वतंत्र छोड़ दिया।

चियांग-काई-शेक ने व्यापारियों के वहकावे में आकर चीनी जनता के प्रभाव को भुला दिया था। उन्हें उस समय यह नहीं मालूम हुआ कि बिना जनता की सहायता के राष्ट्रीय दल की विजय नहीं हो सकती थी। वे समझते थे कि विना जनता की सहायता के ही वे उत्तर के तुखनों को हरा दे सकेंगे और विदेशी शक्तियों को अपने साथ अच्छा वर्ताव करने के लिए वाध्य कर सकेंगे। परन्तु कुछ ही दिनों वाद उनकी भ्रांति दूर हो गई। उन्होंने देखा कि देश में मजादूर आन्दोलन को दवाना और विदेशी लोगों के प्रभुत्व को अपनी शक्ति के जोर से उठा देना उनके लिए असम्भव है। चियांग-काई-शेक के साथ ही साथ व्यापारियों ने भी समझा कि उन्होंने जनता का साथ छोड़कर अपनी मलशक्ति ही नष्ट करली है।

चियांग-काई-शेक की भूल

चियाँग-काई-शेक के विरोधी दल ने भी उस विकट परिस्थिति का अनुभव किया। जवतक पूरा चीन राष्ट्रीय झंडे के नीचे नहीं आ जाता आपस में झगड़ा कर उन्होंने भी देश की उन्नति के पथ में वाधा डालना उचित नहीं समझा। साम्यवादी विचार वालों के अलग हो जाने से वहाँ का गरम से गरम दल भी केवल आवेश में न आकर देश की वास्तविक भलाई की वातें शांत चित्त से सोचने लगा। उसी साल दिसम्बर के महीने में राष्ट्रीय दल के सभी प्रमुख नेता शंघाई में एकत्र हुए और उन सव ने चियाँग-काई-शेक का नेतृत्व स्वीकार करलिया।

कुओमिंगटाँग के नेताओं ने मंचूरियन तुखन चाँग-सो-लिन की सत्ता पेकिंग से उठा देने के लिए आक्रमण करने के पहले अमेरिका और इंग्लैंड से उस लड़ाई में तटस्थ रहने के लिए कहा। उन्होंने अपने राजनैतिक दूत जापान में वहाँ की सरकार को यह विश्वास दिलाने के लिए भेजे कि राष्ट्रीय दल के अधिकार में चीन का एकीकरण हो जाने से उनके आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचेगी। अपनी शक्ति पर पूरा भरोसा करके राष्ट्रीय दल ने पेकिंग पर चढ़ाई की और १९२८ के जून में उसपर अधिकार कर लिया।

राष्ट्रीयदल ने दो वर्ष पहले ही वूहन और नानकिन पर अधिकार जमा कर अंग्रेजों के याँगत्सी पर अधिकार करने की आशा पर पानी फेर दिया था। पेकिंग पर कब्जा करना उससे भी अधिक महत्व का था। इसपर कब्जा हो जाने से उत्तरी चीन से जापानी षड़यन्त्र का भय जाता रहा। पिछले साल दिसम्बर से मंचूरिया में भी राष्ट्रीय दल का झंडा फहराने लगा। पेकिंग और मंचूरिया पर दखल हो जाने से राष्ट्रीय सरकार के अधीन सारा चीन आ गया। अनेक वर्षों से विभक्त देश एक ही झंडे के नीचे आ गया। कुओमिंगटाँग को ऐसी सफलता पहले और कभी नहीं मिली थी। चीन की कोई भी क्रांति इसके पहले सारे देश को इस प्रकार से एक करने में समर्थ नहीं हुई थी। इस समय से चीन एक-राष्ट्र कहे जाने योग्य हो गया। विदेशी लोगों की एक भी नहीं चली। चीन का स्वातंत्र्य-युद्ध समाप्त हुआ-सा दीखता है। चीन अन्त में विजयी हुआ। यह विजय केवल चीन के

लिए ही नहीं परन्तु सारे एशिया के लिए बड़े ही महत्व की है। चीन में चली जाने वाली साम्राज्यवादी चालों के लिए यह एक बहुत बड़ा धक्का है। अब प्रत्यक्ष दीखने लगा है कि साम्राज्यवाद का ध्वंस निकट आ गया है।

स्वतंत्र होने पर चीन दिन-दिन उन्नति करता जा रहा है। अब वह अपने लाभों पर दृष्टि डाल सकता है। विदेशी बैंकर और पूंजीपतियों के चंगुल से भी वह शीघ्र ही छूट जायगा।*

राजधानी का परिवर्तन

चीनी लोगों ने अब अपनी राजधानी पेकिंग में न रखकर नानकिन में रखी है। १८ अप्रैल १९२८ को राष्ट्रीय सरकार ने वू-हान से हटाकर नानकिन को राजधानी बनाया। सनयातसेन १९११ में ही पेकिंग से राजधानी हटा देना चाहते थे परन्तु युआन-शिकाई के कारण वैसा नहीं कर सके थे। मंचू लोगों ने अपनी सुविधा के लिए देश के उत्तरी भाग में राजधानी रखी थी; उससे असुविधा हुआ करती थी। साथ ही युरोपियन लोगों का दाँवपेच वहाँपर बहुत-कुछ सफल हो जाता था। नानकिन में उसका सफल होना कठिन हो जायगा। चीन अपने जीवन में एक नया युग लाना चाहता है। पुरानी बातों को भूल जाना चाहता है; पेकिंग में उसे दासता, दरिद्रता, अपमान और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़े थे उनसे हटकर अपने पूर्व गौरव को वह प्राप्त करना चाहता है। नानकिन में जबतक

* हाल के चीन-जापान संघर्ष से सिद्ध हो गया है कि अब भी चीन कितना दुर्बल और अव्यवस्थित है तथा विदेशी उसपर कैसे ताक लगाये हुए हैं। —सम्पादक।

राजधानी थी चीन का इतिहास उज्ज्वल था इसीलिए अच्छे मकानों का अभाव रहते हुए भी राजधानी वहीं स्थानान्तरित की गई है। नानकिन को वर्तमान युग का एक नगर बना देने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। कुओमिंगटांग ने दो अमेरिकनों पर यह कार्य-भार सौंपा है।

चीन सनयातसेन-द्वारा निर्द्धारित क्रान्ति की तीन अवस्थाओं में पहली अवस्था पार कर चुका। विरोधियों को जीतने और कुओमिंगटांग की अधीनता में चीन का एकीकरण करने के लिए सैन्य-शक्ति लगाई गई थी, उसमें पूरी सफलता हुई। राजनैतिक शक्तियों को काम में लाने की और लोगों को शिक्षित करने की अवस्था आरम्भ हो गई है। जनता अपना शासन आप ही चला लेने योग्य हो जायगी, उस समय वैध शासन की अवस्था आ जायगी।

सैनिक विजय प्राप्त करने के बाद चीन अपना घर सम्हालने में लग गया है। क्रान्ति के समय उसके सैनिकों ने बड़ी वीरता का परिचय दिया। सैनिक शक्ति की अवस्था पार कर-चुकने पर चीन के सामने प्रश्न यह है कि अधिकांश सैनिकों को शांति-प्रस्थापन के कार्य में किस प्रकार लगाया जाय; देश की रक्षा के लिए बाक़ी सैनिकों को किस प्रकार रखा जाय और जनता की भलाई इन प्रश्नों को हलकर किस प्रकार की जाय? चियांग-काई-शेक ने पिछले साल फायून के मन्दिर में सनयात सेन की आत्मा की आराधना करते हुए ठीक ही कहा था—

'तुम्हारे (सनयातसेन के) निर्धारित किये जनता के तीन सिद्धान्तों के अनुसार क्रान्ति का क्षेत्र बड़ा ही विस्तृत है। सैन्य-

शक्ति द्वारा सफलता प्राप्त कर लेना तो उसका बहुत ही छोटा अंग है। शांति के समय हम लोगों को देश के मानसिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक पुनरुत्थान के लिए जितना प्रयत्न करना है वह सैन्य-क्रान्ति से दसगुना अधिक कठिन है। जबतक जनता के तीन सिद्धान्त पूर्णरूप से पूरे नहीं हो जाते हम लोग नहीं समझ सकते कि क्रान्ति खतम हो गई और हम लोगों ने अपना कर्तव्य पूरा कर दिया।'

क्रान्ति के समय चीन की अवस्था बहुत ही शोचनीय हो गई थी। सैन्य-क्रान्ति खतम हो जाने पर बीस लाख युवकों को सेना में रखना अनुत्पादक रीति पर खर्चा बढ़ाना था। वह लोगों पर व्यर्थ का भार होता इसलिए उसे कम कर युवकों के श्रम को देश के लाभ के लिए खर्च करने का चीन-वासियों ने प्रयत्न किया। फिर भी देश की रक्षा करने के लिए सैन्य-शिक्षा की आवश्यकता थी। २४ मई १९२८ को नानकिन-सरकार ने सभी कालेजों में सूचना भेज दी कि विद्यार्थियों को सप्ताह में कम से कम तीन बार सैन्य-शिक्षा अवश्य ही दी जाय। स्कूलों में सूचना भेज दी गई कि वहाँ विद्यार्थियों की शारीरिक अवस्था सुधारी जाय जिसमें कालेज में पहुँचने पर वे सैन्य-शिक्षा ले सकें।

१९२८ से ही चीन में घरेलू सुधार भी होने लगे हैं। बाहरी देशों से भी नये प्रकार के सम्बन्ध स्थापित होने लगे हैं।

घरेलू सुधार

१५ जून १९२८ को चीनी सरकार ने सभी विदेशी राष्ट्रों के प्रति घोषणा प्रकाशित की। उसमें उसने लिखा कि चीन अस्सी वर्षों से असमानता की

सन्धियों की जंजीर से जकड़ा हुआ है; उसे अपने देश में आयात-निर्यात कर लगाने की भी स्वतन्त्रता नहीं है, यह बड़े ही अपमान की बात है। यदि चीन कर की बाधाओं से मुक्त कर दिया जाय और अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में और राष्ट्रों के बराबर का राष्ट्र समझा जाय तो चीन में विदेशियों के जान-माल की और भी अच्छी तरह रक्षा की जा सकेगी; उसी अवस्था में शांति स्थापित रह सकेगी और मनुष्य-मात्र का कल्याण हो सकेगा।

संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने चीन की बातों पर सबसे पहले ध्यान दिया। उसने चीन की राष्ट्रीय सरकार को चीन की वास्तविक सरकार स्वीकार कर लिया; आपस के भेदों का फ़ैसला कर लिया और चीन के साथ एक नई व्यापारिक सन्धि करली जिससे चीन आर्थिक स्वतंत्रता में एक पग आगे बढ़ गया। अमेरिका ने २५ जुलाई १९२८ को चीन के साथ सन्धि की थी। २७ दिसम्बर तक उसके अलावे ग्यारह और राष्ट्रों ने, जिनमें इंग्लैंड, फ्रांस और हॉलैंड भी थे, चीन के साथ नई सन्धि करली। इन सन्धियों-द्वारा निश्चित हो गया कि चीन को अपने देश में आयात-निर्यात कर लगाने की पूर्ण स्वतंत्रता रहेगी और इसमें बाधक पहले की जितनी सन्धियां हैं वे सभी रद्द समझी जायँगी। उन ग्यारह राष्ट्रों में बेलजियम, डेन्मार्क, इटली, पुर्तगाल और स्पेन एक पग और भी आगे बढ़े। उन्होंने १ जनवरी १९३० से चीन में अपना विशेषाधिकार (extraterritoriality) भी छोड़ देने का वादा किया। ❀

❀इन सब बातों के होते हुए भी जहाँ स्वार्थों का संघर्ष होने की संभावना होती है वहाँ अवस्था पूर्ववत् ही हो जाती है। —संपादक।

सभी देशों ने चीन के साथ नई संधियां कर लीं परन्तु जापान ने अभी तक नहीं की। उसने १८९६ की सन्धि को ही और दस वर्षों के लिए क़ायम रखा। आपस के कई मामले तै करने के लिए जापान से याडा महाशय १९२८ के अक्तूबर में चीन गये परन्तु सभी मामले तै नहीं हुए। दूसरी वार नवम्बर में याडा फिर गये परन्तु चीनी परराष्ट्र-सचिव ने यह समझकर कि जापानी सरकार ने उन्हें अपनी पूरी शक्ति नहीं दी है, उनसे वातें नहीं कीं। अभीतक चीन-जापान की कोई सन्धि नहीं हुई है। हाल में, १९३३ में महीनों की जापान की जवर्दस्ती और संघर्ष के वाद कोई समझौता हुआ है पर क्या समझौता हुआ है, यह वात इतनी गुप्त रखी गई है कि अभीतक कुछ पता नहीं लगा है।

चीन में अपने देश के अधिकारियों-द्वारा न्याय कराने का अभी भी सोलह राष्ट्रों को—अमेरिका, वेल्जियम, ब्रेजिल, ब्रिटेन, डेन्मार्क, फ्रांस, इटली, जापान, मेक्सिको, नेदरलैंड, नार्वे, पेरू, पुर्तगाल, स्पेन, स्वीडेन और स्वीजरलैंड को अधिकार है। चीनी इसे अपने यहाँ और अधिक चलने देना नहीं चाहते। इसमें वे अपना सव से वड़ा अपमान समझते हैं इसीलिए उन्होंने कई वर्ष हुए ब्रिटेन को विशेषकर तथा अन्य राष्ट्रों को भी लिखा था कि इस प्रकार के विशेषाधिकार उठा दिये जायँ। उसने अपनी सूचना में यह भी दिखलाया था कि जिन देशों को विशेषाधिकार प्राप्त नहीं हैं उनके साथ कोई अन्याय का भय नहीं करना चाहिए।

चीन ने कानून और न्याय के मामलों में भी सुधार किया है। अपने यहाँ पहले की अपेक्षा अच्छे क़ानून, अच्छे न्यायालय, और अच्छे क़ैदख़ानों का बन्दोबस्त किया है। क़ानून के पुराने कोडों को सुधार कर नये कोड तैयार किये हैं। न्याय के लिए नये न्यायालय स्थापित किये हैं और न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा दी है। क़ानून की शिक्षा कालेजों में तो दी ही जाती है इसके लिए अलग नये ढंग के स्कूल भी खुल गये हैं।

राष्ट्रीय सरकार का संगठन न तो सोवियट और न युरोपीय ढंग का ही है। वह पूर्ण रूप से चीनी ढंग का है। वहाँ की सरकार के पाँच अंग हैं जिन्हें युआन कहते हैं। इस प्रकार से अंगों का विभाग स्वयं सनयातसेन ने ही किया था। वे पाँच युआन एक्जिक्यूटिव (शासन), लेजिस्लेटिव (व्यवस्था), जुडीशियल (न्याय), एक्जामिनेशन (परीक्षा) और कण्ट्रोल (अधिकार) के हैं। सरकार का इस प्रकार का संगठन नये ढंग का है; अभी इसे काम में लाया जा रहा है। आशा है कि यह यूरोपीय ढंग की सरकारों की अपेक्षा अधिक कार्यक्षम सिद्ध होगा।

चीन की क्रान्ति केवल राजनैतिक ही नहीं बल्कि आर्थिक भी है। वहाँपर तेल, टीन और लोहे की पर्याप्त खानें हैं। जिस दिन वह एक विकसित शिल्प-प्रधान देश हो जायगा उस दिन की उसकी शक्ति का अन्दाज़ा अभी नहीं लगाया जा सकता। सम्भव है उस दिन ग्रेटब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली और जापान एक साथ मिल कर भी उसका सामना नहीं कर सकें क्योंकि इन सभी देशों से पाँच

आर्थिक बातें

गुना बड़ा देश अकेला चीन ही है। उस समय अवश्य ही लोगों को सुनकर आश्चर्य होगा कि उतना बड़ा देश इन छोटी-छोटी शक्तियों के अधीन कैसे हो गया था? चीन जबतक शिल्प-प्रधान देश नहीं था उसके पास शक्ति नहीं थी। आर्थिक साम्राज्यवाद ने ही उसे शिल्प-प्रधान देश बनने के लिए बाध्य किया। सोते हुए दैत्य को उसीने जगाया। युरोपीय तथा जापानी साम्राज्यवादियों ने केवल अपने तात्कालिक लाभ पर ही ध्यान दिया है, उन्होंने आगे का विचार नहीं किया। १८७६ के बाद चीन में आठ हजार मील लम्बी रेल बनी; उसमें विदेशी पूँजी ही अधिकतर लगी हुई है। तांबा, लोहा, टीन आदि की खानों से उत्पत्ति दिन-दिन अधिक होती जा रही है। अस्सी वर्ष पहले चीन का व्यापार कुछ भी नहीं चलता था। वही (१९१९-२४ के औसत से) कुछ वर्षों पहले ही प्रति वर्ष एक अरब अस्सी करोड़ डालर का हो गया। अभी तक इंग्लैंड के रुई का माल भेजने वालों को चीन के व्यवसाय से दो करोड़ डालर का लाभ होता आया है। जापान के कपड़े के व्यापारी भी लगभग इतना ही लाभ उठाते हैं। विदेशी बैंकों ने चीन को एक अरब डालर ऋण दे रखा है। इस प्रकार का व्यापार चलने से चीन में एक नया वर्ग विदेशी माल खपाने वालों का बन गया। आगे चलकर देशी व्यापारियों का भी एक ऐसा वर्ग बन गया जो विदेश से मशीनें मँगाकर अपने देश में हीं कपड़ा तैयार करने लगा। उन्हें मशीन खरीदने और व्यवसाय चलाने के लिए रुपयों की आवश्यकता पड़ती थी। कर्ज देने के लिए विदेशी बैंक भी उन्हें मिल गये। मशीन तैयार करने

वाले विदेशियों का लाभ इसी में था कि वे अपना माल वेचें। वे मशीन वेचने लगे। अब चीन में ही माल तैयार होने लगा और विदेशी लोगों के तैयार माल की बिक्री रुकने लगी। यह साम्राज्यवाद के निज के शरीर का मृत्यु-बीज था। चीन को अपना माल आप ही तैयार कर लेने से वे रोक नहीं सके।

कारख़ानों के चलने से चीन में पूँजीपतियों का भी एक वर्ग हो गया। जिस चीन में कुछ ही वर्षों पहले एक भी कारख़ाना मशीन से चलनेवाला नहीं था वहीं पर १९२३ में १९००० कारख़ाने स्थापित हो गये। वह रुई उत्पन्न करने में संसार का तीसरा देश है, फिर भी कपड़ों के लिए दूसरों पर आश्रित रहता था। १९०० के वाद से ही अधिकतर कपड़े की मिलें वहाँ पर स्थापित हुईं। महायुद्ध के समय विदेशी कपड़ों का आना वन्द हो गया। इसलिए चीन के कपड़ों के कारख़ानों को वहुत प्रोत्साहन मिला। १९१९ में वहाँ पर केवल ६५९७५२ तकुए चलते थे; वे ही १९२२ में वढ़कर १५९३०३४ हो गये। इन चार वर्षों में मशीनों से चलनेवाले कारख़ाने तिगुने वढ़ गये। चीन पहले विदेश के तैयार माल पर निर्भर करता था। १९२१ में उसीने ७३०८०००० डालर से ९६०००००० डालर तक का तैयार माल विदेश भेजा।

औद्योगिक अवस्था

१९२५ में ही मैंचेस्टर के 'काटन यार्न असोसियेशन' ने एक पैम्फलेट निकाला था जिसमें उसने लिखा था कि चीन रुई उत्पन्न करनेवाला और उसके कपड़े व्यवहार करनेवाला देश है। अभी चीन में कपड़े की कुल १२७ मिलें चल रही हैं जिनमें चार अंग्रेज़ी, छियालीस जापानी और सतहत्तर चीनी हैं। वहाँ

के अधिकतर बुने जानेवाले करघे १९२१ में ही स्थापित हुए हैं। चीन अब भारतवर्ष में सूत भेजने लगा है। उसके साथ प्रतिद्वंद्विता करना दूसरे देशों के लिए कठिन हो गया है क्योंकि वहाँपर मजदूरी बहुत सस्ती है। चीनी जितने कपड़े व्यवहार करते हैं उसका तीन-चौथाई हाथ का बना होता है। विदेशी माल का दाम थोड़ा भी बढ़ जाता है तो देशी माल की मांग बहुत अधिक बढ़ जाती है। अब लंकाशायर के रुई के व्यापार में बहुत घाटा आने लगा है क्योंकि उसका चीन का बाजार छूट गया है तथा भारत का भी बाजार कुछ देशी उद्योग की उन्नति और कुछ जापानी प्रतियोगिता के कारण छूटता जाता है।

चीन में देशी पूँजीपतियों के खिलाफ़ भी आन्दोलन आरम्भ हुआ। सनयातसेन साम्यवादी विचारों को पसन्द करते थे परन्तु कुओमिंगटांग की नीति उन्होंने साम्यवादी नहीं बनाई। हाँ उन्होंने इतना निश्चय कर लिया था कि बड़े-बड़े व्यवसायों पर सरकार का ही आधिपत्य रहेगा। साम्यवादियों का उन्होंने यह सिद्धान्त नहीं अपनाया कि जमीन जमींदारों से छीनकर किसानों के बीच बांट दी जाय और कारखानों पर मजदूरों का अधिकार हो जाय। मजदूर तथा किसान लोगों की अवस्था में सुधार करने का उन्होंने वादा अवश्य ही किया था परन्तु उनकी दृष्टि से उनकी अवस्था सुधारने में साम्यवादी सिद्धान्त बिलकुल ठीक नहीं थे।

पूँजीवाद का विरोध

१९१९ में वर्साई की सन्धि के बाद देश में आन्दोलन चला उसी समय मजदूरों में भी आन्दोलन चला। व्यवसायी संघ की स्थापना सबसे पहले उसी समय हुई। व्यवसायी संघों

के स्थापित होने के बाद हड़तालें चलने लगीं। बड़े पैमाने पर सबसे बड़ी हड़ताल हनियेहपिन के लोहे के कारखाने में हुई। १९१९ में ही कैंटन, हांगकांग आदि शहरों में व्यवसायी संघ स्थापित होने लगे। जैसे-जैसे व्यवसायी संघ बढ़ते गये हड़तालें भी बढ़ती गईं। १९१८–२५ के बीच में कुल ६९८ हड़तालें हुईं। इन हड़तालों में ३७ प्रतिशत में मजदूरों की विजय हुई; १३ प्रतिशत में समझौते हुए; ९ प्रतिशत में हार हुई और ४१ प्रतिशत का कुछ पता नहीं चला। देश का राष्ट्रीय आन्दोलन जैसे-जैसे बढ़ता जाता था मजदूरों का आन्दोलन भी बढ़ता जाता था। कुओ-मिंटांग की ओर से कृषक-संघ भी स्थापित किये गये थे और उन लोगों ने स्वाधीनता की लड़ाई में किस प्रकार भाग लिया, यह हम लोग पीछे देख चुके हैं

मज़दूर आन्दोलन

राष्ट्रीय सरकार स्थापित होने पर मजदूर और किसानों की अवस्था में सुधार करने का प्रयत्न किया गया। कुओमिंटांग के सिद्धान्त साम्यवादी नहीं हैं। वे इसी बात पर जोर देते हैं कि उपज के २५ प्रतिशत से अधिक मालगुजारी न लगे; अकाल के समय मालगुजारी माफ हो जाय; वह पहले ही वसूल न की जाय और अधिक बढ़ाव-घटाव भी जल्दी-जल्दी न हो। बैंकों को कृषकों से पांच प्रतिशत और किसी भी अवस्था में बीस प्रतिशत से अधिक सूद लेने की मनाही कर दी गई। किसानों की जमीन दूसरे छीन नहीं सकेंगे। जबतक किसान देश-द्रोही न हों अथवा खेती की कला से अपरिचित न हों तबतक सरकार भी जमीन नहीं छीन सकेगी।

चीन की राष्ट्रीय सरकार ने यह भी समझा कि देश की आर्थिक अवस्था में सुधार नहीं होगा तबतक शांति नहीं स्थापित हो सकेगी। विद्रोहियों को सरकार के खिलाफ़ षड्यन्त्र रचने का मौक़ा न मिले, इसलिए उसने देश की आर्थिक अवस्था में सभी प्रकार के सुधार करने की योजना की। चीन शिल्प-प्रधान देश हो, उसका व्यापार खूब बढ़े इसलिए राष्ट्रीय सरकार के शिल्प तथा व्यापार-मंत्री ने निम्नलिखित घोषणा प्रकाशित की थी—

घोषणा

'अपने-देश के व्यवसायियों को लाभ हो इसलिए संरक्षण की नीति वर्ती जायगी। मजदूरों की अवस्था सुधारने के लिए एक नया कोड तैयार किया जायगा; चीन के व्यवसाय आधुनिक ढंग के हो जायँ इसलिए राज शिल्पी तथा व्यापारियों की सब प्रकार से सहायता करेगा। शिल्प तथा व्यापार-सम्बन्धी शिक्षा स्त्रियों तथा पुरुषों दोनों को ही देने का प्रबन्ध किया जायगा। दूसरे देशों की शिल्प तथा व्यापार की उन्नति देख आने के लिए चीन से कुछ आदमी भेजे गये हैं और भविष्य में भी उन्हें भेजते रहने का प्रबन्ध किया जायगा। विदेशों में तैयार माल भेजने वालों को सुविधाएँ दी जायँगी। जो व्यवसाय व्यक्तियों द्वारा अच्छी तरह से चलाये जायँगे वे छोड़ दिये जायँगे। थोड़े से बड़े-बड़े व्यवसाय सरकार अपने हाथों में लेगी जिसमें जिन सैनिकों को अभी सैनिक कार्य नहीं मिला वे कला सीख लें। व्यापार बढ़ाने के लिए विदेशी पूँजी भी ली जायगी। विदेश में चीन का माल खपे इसलिए उसका प्रचार अखबारों में जोरों से किया जायगा और देशी बैंक भी

स्थापित किये जायंगे जो कारख़ानों का अर्थ-संचालन करेंगे। विदेशी लोगों के साथ व्यापारियों का जो ठीका-पट्टा होगा वह सब चीनी भाषा में लिखा जायगा; विदेशी उसे समझ सकें इसलिए अंग्रेजी में भी उसका अनुवाद रहेगा परन्तु क़ानून की दृष्टि में चीनी भाषा में लिखा हुआ ही अधिक ठीक समझा जायगा।'

चीन को नये ढंग का राष्ट्र बनाने के लिए चीन की राष्ट्रीय सरकार विदेशी लोगों से भी सहायता लेती है। सैन्य और शिल्प के मामले में सलाह देने के लिए जर्मन तथा अर्थ-संचालन और कर का मामला ठीक करने के लिए अमेरिकन सलाहकार रखे गये हैं। चांग-सो-लिन के हारने और मरने तक चीनी राष्ट्रवादी अंग्रेज साम्राज्यवाद के खिलाफ़ लड़ते रहे हैं क्योंकि वे लोग उसे सहायता करते थे। इधर अंग्रेज और चीनियों के परस्पर सम्बन्ध में उलट-फेर हुआ है, नहीं तो राजनैतिक मामलों में सलाह देने के लिए अंग्रेजों की ओर से सर फ्रेडरिक ह्वाइट नहीं रखे जाते। चियांग-काई-शेक (राष्ट्रीय चीन के सभापति) और सी० टी० वांग (पर-राष्ट्र-सचिव)* चाहते हैं कि उन्हें संसार के दूसरे उन्नत राष्ट्र अपनी श्रेणी का मान लें इसीलिए वे अंग्रेजों से मिलकर रहना चाहते हैं। जब इस प्रकार के मेल से उनकी हानि होने की सम्भावना नहीं रह गई तो फिर मेल क्यों न करलें।

चीन के सामाजिक जगत् में भी इस क्रान्ति ने उथल-पुथल मचा दी है। पहले स्त्रियां डाक्टर वा वकील नहीं हो सकती

---

*यह १६२६ की बात है। —सम्पादक

थीं परन्तु अब होती जा रही हैं। उनकी शिक्षा के लिए भी समुचित प्रबन्ध किया गया है। चीन में स्त्रियों का क्रान्ति में क्या स्थान था यह श्रीमती सनयातसेन द्वारा भारतीय स्त्रियों के पास पटना के स्त्री-सम्मेलन के अवसर पर भेजे गये सम्वाद से विदित हो जायगा। उन्होंने ५ जनवरी १९२८ को बर्लिन से लिखा था:—

"मैं उन स्त्रियों की ओर से आप लोगों को बधाई देती हूँ जो नेताओं के देश को स्वतंत्र करने के पथ से विचलित हो जाने पर भी गृह-कलह और अंग्रेज तथा दूसरे साम्राज्यवादियों के भार से चीन को छुड़ाने में लगी हैं। चीन की स्त्रियों की तरह आप लोगों को भी देश के पुनरुत्थान के लिए देश को अंग्रेजी साम्राज्यवाद के चक्र से छुड़ाने में लग जाना चाहिए।"

चीन में बहुत-कुछ सुधार हुआ, वह उत्तरोत्तर वृद्धि करता जा रहा है; फिर भी कुओमिंगटांग में एक ऐसा दल है जो नानकिन-सरकार से सन्तुष्ट नहीं है। उस दल का कहना है कि सनयातसेन की इच्छानुसार कार्य नहीं चल रहा है। अभी भी सम्भावन यही है कि चीन के विभिन्न दलों में लड़ाई छिड़ जाय, परन्तु इतना स्पष्ट है कि गृह-कलह में चाहे जो दल भी विजयी हो उसे जनता के अधिकारों को मानना और राज्य के कामों में उसे प्रतिनिधित्व देना ही पड़ेगा। अब चीन की वैसी स्थिति भी नहीं रह गई है कि गृह-कलह से लाभ उठाकर साम्राज्यवादी अपना लाभ साध लेंगे।

अब चीनी क्रान्ति के पिता की मूर्ति, राष्ट्रीय सरकार-द्वारा दस लाख पौंड व्यय करके तैयार किये गये स्मारक में बैठकर

नानकिन की ओर एकटक दृष्टि से देखा करती है। सनयातसेन का प्रयत्न सफल हुआ, उनका स्वप्न पूरा हुआ, चीन स्वतन्त्र हो गया।

उद्‌बुद्ध भारत

जॉन स्टुर्ट मिल के शब्दों में यही कहा जा सकता है कि अंग्रेजों ने भारतवासियों को 'मनुष्य रूप में जानवर' समझ लिया था। वे जिस देश पर शासन करते हैं उसके हित-अनहित का कुछ भी ख़याल नहीं करते। अंग्रेजी राज्य में भारतवर्ष दरिद्रों का देश बन गया। आधी कृषक जनता साल भर तक कठोर परिश्रम करने पर भी नहीं जानती कि पेट भरकर किस प्रकार भोजन किया जाता है। देश की भूमि अभी भी उपजाऊ है, देश में अभी भी वे ही नदियाँ बहती हैं जिन के जल से सारा देश सींचा जाकर शस्य-श्यामल बनाया जाता था; सब कुछ वही है फिर भी दरिद्रता दिन-दिन बढ़ती ही जाती है। दरिद्रता का एक मात्र कारण अंग्रेजी शासन है।

अंग्रेजी राज्य में टैक्स बहुत अधिक बढ़ा दिये गये, भारतवर्ष के कला-कौशल का ज़बर्दस्ती नाश कर दिया गया। गवर्नमेंट के ख़र्च के लिए करोड़ों रुपये ले लिये जाते हैं। इतना ही नहीं, भारतवासियों को सदा अशिक्षित और परतन्त्र बनाये रखने का सतत प्रयत्न किया जाता है। इसीलिए गांधीजी ने अंग्रेजी राज्य का नाम 'शैतानी राज्य' दिया है। इससे किस प्रकार से छुटकारा पाया जाय ?

रूस में भयानक दुर्भिक्ष पड़ा था, लोग तड़प-तड़पकर मर रहे थे। उनकी सहायता करने के लिए कुछ आदमी अन्न-वस्त्र बाँट रहे थे। लेनिन ने उस समय कहा था—"इससे नहीं चलेगा। लोगों को तड़प-तड़पकर मरने दो। वे जितने ही सताये जायँगे उनकी आंखें उतनी ही जल्दी खुलेंगी।" वास्तव में लेनिन का कथन बिल्कुल सत्य है। महात्माजी ने भी एक बार कुछ ऐसा कहा था—'साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचकर मुझे विष दे मार डालना चाहते हैं तो मुझे कुछ भी चिंता नहीं है। जिस दिन वह बात होगी मैं समझ लूँगा कि अंग्रेजी साम्राज्य-वाद का अन्त हो गया।' भारतवासियों ने अंग्रेजों के लिए अपना खून बहाया था; उसके उपहार में उन्हें ६ अप्रैल

पंजाब के वे दिन !

१९१९ को रौलट ऐक्ट बनाकर दे दिया गया। यह क़ानून भारतवासियों की सभी प्रकार की स्वतंत्रता कुचल डालने के लिए पास किया गया था। लोगों ने इसका विरोध किया और उसके उपलक्ष में मातम मनाया। सारे देश में आन्दोलन चलने लगा। गान्धीजी ने लोगों को उसका विरोध अहिंसात्मक रीति से करने के लिए कहा। फिर भी अहमदाबाद, बम्बई, वीरमगांव, दिल्ली और कलकत्ता में बलवे हो गये। जहाँ पर लोगों ने अधिकारियों के रोकने पर भी सभाएँ की वहाँ गोलियाँ चला दी गईं। अमृतसर में सभा करने की मनाही कर दी गई थी फिर भी लोगों ने १३ अप्रैल को जलियाँवाला बाग़ में सभा की। फिर क्या था, जेनरल डायर ने निहत्थे लोगों को मारने में अपनी सारी गोलियाँ खतम कर दीं। इतना ही नहीं, जलियाँवाला बाग़ के हत्याकाण्ड के बाद

पंजाब में फ़ौजी क़ानून जारी कर दिया गया। पुरुषों और स्त्रियों को खुलेआम नंगा कर वेंत लगाये गये। विद्यार्थियों को सोलह-सोलह मील तक रोज़ चलकर युनियन जैक के सामने सिर झुकाना पड़ता था। पांच-सात वर्ष के छोटे-छोटे बच्चे भी इस प्रकार से सिर झुकाने के लिए वाध्य किये गये। प्रतिष्ठित लोगों तक को छाती के बल कुछ ख़ास गलियों में चलने के लिए मजबूर किया गया। भारतवासियों को अंग्रेजों की सहायता करने के उपलक्ष्य में यही अपमान इनाम दिया गया था। भारतवर्ष की दृष्टि से यह बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। यदि भारतवासियों को दबाने के लिए रौलट ऐक्ट नहीं पास हुआ होता और जलियाँवाला बाग़ में पांच सौ आदमी मरे और पन्द्रह सौ घायल नहीं हुए होते तो भारतवर्ष में वैसी जागृति नहीं हुई होती। भारतवर्ष को जागृत करने का यदि किसी को वास्तविक श्रेय है तो वह डायर-जैसे अंग्रेज अधिकारियों को ही है। यदि जलियाँवाला बाग़ जैसे और भी थोड़े-से काण्ड हो जाते तो भारतवर्ष और भी अधिक जागृत हो जाता।

रोटी का सवाल

भारतवर्ष की जमीन कम उपजाऊ नहीं है फिर भी यहाँ के लोगों को भूखों मरना पड़ता है। यह स्वाभाविक है कि जबतक पेट का प्रश्न नहीं आता, जनता जागृत नहीं होती। अंग्रेजों के अत्यधिक अत्याचार, विश्वासघात और ज्यादती के सिवा अन्न की कमी भी भारतीय जागृति का एक कारण है। अभीतक जागृति इने-गिने आदमियों में ही थी। उन थोड़े से लोगों का ख़याल था कि कांग्रेस के अवसर पर साल में एक बार सभी नेता इकट्ठे होकर ख़ूब

जोरों से व्याख्यान दें और किसी प्रकार से इस व्याख्यान की आवाज़ समाचार-पत्रों द्वारा इंग्लैंड तक पहुँच जाय तो देश की सारी बुराइयाँ दूर हो जायँगी। इस समय से लोगों ने समझा कि अंग्रेजों के दान-द्वारा भारतवर्ष स्वतंत्र नहीं बनाया जा सकता। कोई भी देश भिक्षा माँगकर कभी स्वतंत्र नहीं हुआ। स्वतंत्रता-प्राप्ति के लिए लड़ाइयाँ लड़नी होती हैं। उस लड़ाई में उन्हें अपने प्रतिद्वंद्वी को परास्त करना होता है। इस समय नेताओं का विश्वास व्याख्यान देने और समाचार-पत्रों में जोशीले लेख लिखने से उठ गया। अब वे वास्तविक कार्य की ओर झुके।

महात्मा गांधीजी ने इसी समय जनता के महत्व को समझा। उन्हें अनुभव हुआ कि जबतक जनता में जागृति नहीं होगी तबतक देश स्वतन्त्र नहीं हो सकता। उन्होंने कोपीन धारण किया और घूम-घूमकर लोगों को जागृत करने का काम आरम्भ किया। उन्होंने लोगों को सिखलाया कि अंग्रेजी साम्राज्य मुट्ठीभर अंग्रेजों के ही ऊपर अवलम्बित नहीं है; उसकी नींव हम भारतीय ही हैं। रेल, तार, सेना, न्याय सभी कार्य उनकी ओर से भारतीय ही चलाते हैं। यदि वे ही अंग्रेज़ी सरकार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करलें तो फिर क्या अंग्रेज़ी साम्राज्य एक दिन भी टिक सकता है?

तिलक ने कांग्रेस में क्रान्ति का बीज पहले ही बो दिया था। उन्होंने लोगों को समझा दिया था कि अंग्रेजों के हाथों से स्वराज्य प्राप्त करने का विचार हमें छोड़ देना चाहिए। अंग्रेज हमारे सहायक नहीं हो सकते। गांधीजी ने तिलक के मरते समय उनसे देश में असहयोग जारी करने की राय ली। तिलक

ने कहा कि रास्ता तो बहुत ही उपयुक्त है परन्तु देश उसके लिए तैयार नहीं है। गान्धीजी को पूरा विश्वास था। उन्होंने १९२० के सितम्बर में भारतीय महासभा के कलकत्ते वाले विशेष अधिवेशन में असहयोग का प्रस्ताव पेश कर पास करा लिया। दिसम्बर के महीने में नागपुर-कांग्रेस ने भी वह प्रस्ताव पास कर दिया।

असहयोग

यहाँ पर यह प्रश्न आपसे आप उठ खड़ा होता है कि असहयोग आन्दोलन कहीं कायरता को तो नहीं सूचित करता ? यदि हमारे पास काफ़ी शक्ति नहीं है, हम अपने शत्रु के आक्रमण को रोक नहीं सकते और वैसी अवस्था में कहें कि शत्रु को माफ़ कर दिया तो वह कायरता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। परन्तु शक्ति केवल अस्त्र-शस्त्र की ही शक्ति नहीं होती। असहयोग के सिद्धान्त में एक महान् शक्ति और उद्देश छिपा है। स्वयं इस आन्दोलन के प्रवर्तक गांधी जी का ही कहना है कि यदि शत्रु के खिलाफ़ हमारे भीतर क्रोध हो और केवल डर के ही कारण हम शत्रु से बदला लेने में असमर्थ हों तो असहयोग का अस्त्र हमारे लिए नहीं है। हमें शत्रु को क्षमा करना है परन्तु डर कर नहीं। अपने भीतर यदि यह सोचें कि हम डरके मारे चुप हो रहे हैं और उसे क्षमा करना कह रहे हैं तो उस प्रकार की झूठी क्षमा करने की अपेक्षा शत्रु के साथ लड़ाई में कटकर मर जाना कहीं अच्छा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि असहयोग, भय करनेवाले और कमजोर लोगों का नहीं परन्तु निर्भीक और अधिक से अधिक मजबूत लोगों का अस्त्र है।

लोगों ने गाँधी जी की आवाज़ सुनी। अनेक विद्यार्थियों ने अंग्रेज़ी स्कूल-कालेजों में पढ़ने की अपेक्षा सड़कों पर पत्थर तोड़ते रहना भी अधिक श्रेयस्कर समझा। उन लोगों ने सरकारी विद्यालयों का नाम ही गुलामख़ाना रख दिया था। जो विद्यार्थी अपने मात-पिता के दबाव से सरकारी स्कूल-कालेजों में पढ़ते थे उन्हें बड़ी ही लज्जा मालूम पड़ती थी। तुरन्त ही राष्ट्रीय स्कूल-कालेज स्थापित होने लगे और सरकारी विद्यालयों से निकले हुए विद्यार्थी इन राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़ने लगे। माता-पिताओं को अपने लड़कों के भविष्य की चिन्ता रहती थी। वे सोचते थे कि असहयोग एक लहर है; उसके चले जाने पर अवस्था पूर्ववत हो जायगी वैसी अवस्था में लड़कों का जीवन नष्ट होगा, परन्तु युवाओं का उमंग भविष्य की चिंता नहीं किया करता। कितने विद्यार्थियों ने माता-पिता की सरकारी विद्यालयों के छोड़ने की अनुमति न मिलने पर घर ही छोड़ दिया था। उन लोगों में स्वाभिमान, आत्म-सम्मान और स्वावलम्बन के भावों का संचार हो रहा था। भारतवर्ष के विद्यार्थियों को राष्ट्रीय शिक्षा नहीं मिली थी, फिर भी वे राजनैतिक मामलों में काफ़ी दिलचस्पी लेते थे। असहयोग के समय जितनी सभाएँ होती थीं उनका प्रबन्ध अधिकतर विद्यार्थी ही किया करते थे।

विद्यार्थियों का असहयोग

राष्ट्रीय विद्यालयों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों का जनता विशेष आदर किया करती थी। वह समझती थी कि उन लड़कों ने बुरी आदतें अवश्य ही छोड़ दी होंगी। असहयोग-आन्दोलन ने वास्तव में विद्यार्थियों के नैतिक जीवन में बहुत सुधार किया था।

इस समय अनेक विद्यार्थियों की बुरी आदतें छूट गई थीं। कितने कार्यों के विषय में वे कहने लगे थे कि अमुक कार्य के करने में हमारी अन्तरात्मा गवाही नहीं देती। 'अन्तरात्मा की आवाज़' का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि आगे चलकर विद्यार्थी एक दूसरे को यही कहकर चिढ़ाने लगे थे।

असहयोग-आन्दोलन के कारण मादक वस्तुओं के निषेध का भी काम आगे बढ़ा। विदेशी वस्तुओं को भी लोग कम करना चाहते थे। इसलिए विदेशी कपड़ों के साथ-साथ ताड़ी, शराब आदि की दूकानों पर लोग सत्याग्रह किया करते थे। इस प्रकार के सत्याग्रहों में विद्यार्थी ही अधिकतर भाग लिया करते थे। कभी-कभी उन लोगों पर पुलिसवाले तथा अन्य गुंडे मारने के लिए टूट पड़ते थे फिर भी वे उन लोगों की परवा नहीं करते थे। एक बार मार खा लेने पर उनका उत्साह और भी अधिक बढ़ जाता था।

स्कूल-कालेजों से निकल आने पर जिन विद्यार्थियों का घर से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता था वे 'गांधी-आश्रम,' 'तिलक-स्वराज्य-संघ' 'सत्याश्रम' 'सेवा सदन' अथवा अन्य नाम इसी प्रकार के रखकर अपना आश्रम बना लेते थे। विहार प्रांत में ऐसे आश्रमों का कार्य मुठिया से चलता था। गांव के प्रत्येक घर में जब भोजन बनने जाता था उस समय उस भोजन में से एक मुट्ठी अन्न निकाल दिया जाता था। सप्ताह में एक दिन जाकर वही अन्न एकत्र कर विद्यार्थी ले आते थे और उससे अपनी जीविका चलाते थे। वे पढ़े-लिखे विद्यार्थी गांववालों के इस दान के बदले इनके लड़कों को पढ़ा दिया करते थे। गांव के

लड़कों के लिए वैसे गुरुजी बड़े ही अच्छे मालूम पड़ते थे क्योंकि वे उन्हें पीटकर नहीं परन्तु प्यार से पढ़ाया करते थे। पुराने विचार के गुरु जी लोगों की तरह बात-बात में उनकी खबर नहीं लिया करते थे। इस प्रकार से पढ़ानेवाले विद्यार्थी अधिकतर बड़े घरों के ही लड़के होते थे इसलिए गाँवों के लोग इन्हें भिक्षुक न समझकर परोपकारी समझते थे; उन्हें वे अपने पुत्रों के जैसा ही मानते थे।

इस समय बहुत से वैसे लोग, जो पहले खेती करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे, सरकारी नौकरियाँ छोड़ खेती करने लगे। पढ़े-लिखे आदमी, जो शहर भी नहीं छोड़ना चाहते थे, इस समय गांवों में जा-जाकर लोगों में असहयोग के सिद्धान्तों का प्रचार करने लगे। देश के कई नामी वकील-बैरिस्टरों ने भी अपना पेशा छोड़ दिया।

अभी तक अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग देहाती लोगों से मिलना नहीं चाहते थे। उन्हें वे इतना मूर्ख समझते थे कि उनसे बातें तक नहीं करते थे। असहयोग ने लोगों के जीवन में सादगी ला दी, पढ़े-लिखे आदमी गाँवों में जाकर प्रचार का काम करने लगे इसलिए जनता भी जागृत होने लगी।

देहात की ओर

वह भी अब समझने लगी कि उसका वास्तविक शत्रु कौन है? गांधीजी का नाम गाँव-गाँव में फैल गया। जो लोग गाँवों में प्रचार करने जाते थे उन्हें गाँववाले गाँधीजी का चेला समझते थे, उनसे वे दिल खोलकर सभी प्रकार की बातें करते थे और उनका सत्कार करते थे। इस समय विदेशी लिबास में सज-धजकर चलनेवालों की पूछ नहीं होती थी।

खादी पहनने वालों की लोग इज्जत करते थे। उनके ऊपर लोगों का इतना विश्वास जम गया था कि साधारण जनता समझने लगी थी कि जितने खादी पहननेवाले होते हैं सभी त्यागी, सत्य बोलनेवाले और सच्चरित्र होते हैं। देहातों में बहुत अधिक पर्दा रहने पर भी कांग्रेस का काम करनेवाले नवयुवकों को लोग अपने घरों में खिलाते थे। देहातों के लोग यही समझते थे कि आजकल में ही गांधी जी भारतवर्ष के राजा हो जानेवाले हैं। कितने देहातवाले प्रचारकों की बातों को बढ़ाकर आपस के लोगों से कहते थे—'सरकार बहादुर कै राज उठ गवा। चिलमफोर साहेब (ला० चेम्सफोर्ड, तत्कालीन गवर्नर जेनरल) कै तो गांधीबाबा भगाय दिहन, अब तो गाँधीबाबा राजा होय चैन हैं।' दिहात के लोग पूजा अथवा मनौती मान कर ही किसी के प्रति अपनी सबसे अधिक श्रद्धा का भाव प्रकट करते हैं। गांधीजी की पूजा कितने गांवों में चल पड़ी थी और कितने उनके नाम पर मनौती भी मनाने लगे थे।

कांग्रेस का संगठन जिस प्रकार से आरम्भ हुआ था यदि वह चल जाता तो वास्तव में अंग्रेजी राज्य अधिक दिनों तक नहीं टिकता। भारतीय सरकार का जाल जिस प्रकार से बिछा है कांग्रेस का जाल भी वैसा ही बिछ गया था। प्रत्येक गांव में कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने पंचायत कायम कर दी थी। बड़े-बड़े गांवों में ग्राम्य कांग्रेस कमेटी स्थापित हो गई थी। कई

कांग्रेस का विस्तार

ग्राम्य कांग्रेस-कमेटियां मिलकर एक थाना कांग्रेस-कमेटी और कई थाना कांग्रेस-कमेटियां मिल कर एक जिला कांग्रेस कमेटी बनाती थीं। एक-

एक प्रान्त की सभी जिला कांग्रेस-कमेटियाँ अपने सदस्यों को चुनकर प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी में भेजती थीं। प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटियों से चुनकर लोग अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस-कमेटी में जाने लगे। यही सबसे बड़ी संस्था थी। लोग अपने झगड़ों का फैसला गाँव की पंचायतों से ही करा लेते थे। असहयोग के जमाने में किसी-किसी स्थान पर खून के मुक़द्दमे भी पंचायती सरकार द्वारा ही फ़ैसला होने लगे थे। कांग्रेस अंग्रेजी सरकार की प्रतिद्वंद्वी सरकार बन रही थी। यदि इसी सरकार पर लोगों का पूर्ण विश्वास रह जाता तो अंग्रेजी सरकार को कुछ काम ही नहीं मिलता। अंग्रेजी सरकार की सारी शक्ति आपसे आप राष्ट्रीय सरकार के हाथों में आ जाती। अंग्रेजी राज्य भारतवर्ष से उठ जाता। १९२१ में अंग्रेजी राज्य के बन्धनों से मुक्त होने के लिए देश का यह एक बहुत बड़ा प्रयत्न था।

आर्थिक परतंत्रता दूर करने का भी एक बहुत ही उपयुक्त साधन निकल आया। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार बड़े जोरों से आरम्भ हुआ। असहयोग जिस समय अपनी उन्नति की सीमा पर पहुँच रहा था महात्मा गान्धी ने बम्बई में विदेशी कपड़ों की होली जलाई थी। लोगों ने उत्साह के साथ बहुत से बहुमूल्य विदेशी कपड़े जलाने के लिए दे दिये थे। देश के प्रत्येक भाग में जहाँ-कहीं कांग्रेस की ओर से सार्वजनिक सभा की जाती थी उन सभाओं में विदेशी कपड़ों की होली जलाई जाती थी। कपड़ों का जलाना अंग्रेजों के आर्थिक साम्राज्यवाद पर बहुत बड़ा धक्का लगाना था। १९२१ में अंग्रेजी तैयार कपड़ों का आना पचीस प्रतिशत

बहिष्कार

कम हो गया था। विदेशी कपड़ों का वहिष्कार करना अंग्रेजी साम्राज्यवाद के लिए कितना वड़ा आघात था यह १९२८ के व्यापारिक चिट्ठे पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगा। उस साल एक अरव तेरह करोड़ का माल ग्रेटब्रिटेन से यहाँ आया था और ६९ करोड़ का कच्चा माल यहाँ से वहाँ पर भेजा गया था। यदि भारतवर्ष स्वतंत्र होता तो अपने यहाँ की कलाकौशल में वृद्धि करके वह साल में चौआलिस करोड़ रुपये विदेश जाने से वहुत ही आसानी से वचा सकता था। इंग्लैंड से आने-वाली चीजों में मुख्य रुई के कपड़े, वर्तन, मशीन, मोटर साइ-किल आदि गाड़ियाँ, शराव और रवर था। विदेश से जितनी चीजें आईं उनमें आधे से अधिक क़ीमत के केवल रुई के कपड़े ही आये। जव राजनैतिक शक्ति अपने अधिकार में नहीं है वैसे समय में विदेशी कपड़ों का ही केवल वहिष्कार कर देने से भारतवर्ष का वहुत-सा धन विदेश जाने से वच जा सकता है, यह सोचकर ही यह वहिष्कार किया गया था।

महात्मा गांधी ने इस वात पर वहुत जोर दिया है कि वहिष्कार खद्दर के द्वारा ही सफल वनाया जा सकता है।

चरखा और खादी

असहयोग के समय से ही कपड़ों की कमी दूर करने के लिए खद्दर बुना जाने लगा। १९२१ के कुछ ही महीनों में लगभग दो लाख नये करघे चलने लगे। स्कूल-कालेजों के विद्यार्थी पढ़ना-लिखना छोड़कर गाँवों में जा-जाकर लोगों से चरखा कतवाने और कपड़ा बुनवाने लगे। टूटे हुए चरखों पर की, जो विदेशी एवं मिल के कपड़ों के आजाने के कारण घर के किसी कोने में फेंक दिये गये थे, इस

समय धूल झाड़ी जाने लगी और उनकी मरम्मत कराई जाने लगी। गांधीजी सारे देश में घूम-घूम कर असहयोग के कार्य का, विशेष कर खद्दर को, प्रोत्साहित करने लगे। उन्होंने चर्खा चलाने के लिए छोटे-बड़े सभी प्रकार के लोगों को प्रोत्साहन दिया। बड़े घरों की स्त्रियों से वे कहा करते—"सीता भी चर्खा चलाती थी तभी रामराज्य का होना सम्भव हुआ था। यह भले बात ही रही हो कि उसका चरखा सोने का रहा हो, फिर भी वह चर्खा ही था। तुम लोग भी यदि चाहती हो कि भारतवर्ष में फिर से रामराज्य के दिन लौटें तो चरखा चलाओ। देश को बचाने का सबसे बड़ा साधन चर्खा ही है। उसका एक-एक तार इंग्लैंड के लिए एक-एक बम का गोला है।" बड़े घरों में भी चरखे चलने लगे। खादी पहनना अब निर्धनता सूचित नहीं करता था परन्तु देशभक्ति और स्वार्थ-त्याग प्रगट करता था। खादी की उत्पत्ति और उसका प्रचार दिन-दिन बढ़ता गया।

असहयोग-आन्दोलन ने गाँव-गाँव में चरखा चलवा दिया। यह केवल भारतवर्ष ही नहीं परन्तु सारे संसार को भलाई के लिए एक महान् अस्त्र है। कार्लमार्क्स का सिद्धांत जहाँ पर खतम होता है चर्खे का सिद्धान्त उसकी कमी पूरी करने के लिए वहीं से आरम्भ होता है। कार्लमार्क्स ने कोई वैसा पथ नहीं बतलाया जिसपर चलने से मनुष्य-मात्र की उन्नति हो; वह दिन-दिन खून-खराबी से हटकर शांति की ओर बढ़ता जाय। उनके रास्ते में भी खून-खराबी है। चरखा ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्य-समाज के भीतर शांति तथा सुख स्थायी रूप

से बनाये रख सकता है। मनुष्य-समाज की शांति तथा सुख स्थायी रखने के लिए उत्पत्ति का केन्द्रीभूत न होने देना अत्यन्त आवश्यक है। चरखे से उत्पत्ति केन्द्रीभूत नहीं होती। कोई आदमी उससे यदि आज सारे दिन में दो आने कमा सकता है तो कल दूसरों का छीनकर दो रुपया किसी भी हालत में नहीं कमा सकेगा। साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए कार्लमार्क्स के अस्त्र की अपेक्षा चरखे का अस्त्र अधिक शक्तिशाली है।

इसी समय अपने दुःखों को दूर करने के लिए मजदूरों ने झरिया में मजदूरों की कांग्रेस की। कारखानों के मालिक उनके सख्त खिलाफ थे, उनके पास सेना और पुलिस का भी बल था फिर भी मजदूरों ने कुछ परवा नहीं की। इस कांग्रेस में भिन्न-भिन्न मजदूर-संघों के चार सौ सदस्य इकट्ठे हुए और बीस हजार के लगभग दर्शक के रूप में गये थे। मजदूरों ने उस स्थान पर केवल आर्थिक मामलों पर--अपनी मजदूरी बढ़ाने, काम के घंटे कम करने आदि मामलों पर ही विचार नहीं किया परन्तु सबों ने एकमत से स्वराज्य-आन्दोलन आगे बढ़ाने का प्रस्ताव पास किया।

मजदूर और किसान

अभी तक मजदूर और किसान धनीवर्ग-द्वारा दबाये जा रहे थे। मजदूरों और किसानों ने अभी उनका विरोध नहीं किया था परन्तु इस समय से वे अपनी अधिकार-प्राप्ति की चेष्टा करने लगे। इस समय तक सारे भारतवर्ष में लगभग तीन हजार कारखाने स्थापित हो चुके थे। कारखानों में काम करने-वाले मजदूरों की अवस्था बहुत खराब थी। वहाँ पर काम करनेवाली स्त्रियों को मजबूर होकर अपने बच्चों को अफीम

खिलाकर काम पर जाना पड़ता था। बम्बई में ही इस प्रकार से चौंसठ प्रतिशत बच्चे मर जाते थे। यह काम अभी तक जारी है। इन कारणों से मज़दूरों में असंतोष होना स्वाभाविक ही था। काम के घंटे कम करने, मजदूरी बढ़ाने और अपने साथ अच्छा व्यवहार कराने के लिए मजदूर हड़ताल करने लगे। रेलवे, जूट, रूई, कोयले आदि के कारख़ानों में काम करनेवाले मज़दूरों ने अपना एक संगठित संघ बना लिया। प्रांत भर के इस प्रकार के संघ एक सूत्र में बँध जाने लगे। सभी प्रांतीय व्यवसायी संघों का मिलकर एक अखिल भारतीय व्यवसायी संघ स्थापित हुआ। एक साथ संगठित होकर अपनी अवस्था में सुधार करने के लिए सारे देश के मज़दूरों में आन्दो-लन चल पड़ा।

देहातों के किसान भी जागृत हो गये थे। वे किसान-सभाएँ क़ायम करने लगे। इनका अधिक प्रभाव संयुक्तप्रांत और बिहार में था। टैक्सों का बढ़ जाना, अनुपयुक्त कर लगना और जमींदारों के बेगार आदि पर इनको खास आपत्ति थी। रायबरेली के किसानों ने विद्रोह किया। १९२० में इनकी अवध में ही एक सभा हुई जिसमें पचीस हज़ार आदमियों ने भाग लिया था। इसी से हम लोग अनुमान कर सकते हैं कि वे कितनी शीघ्रता से जागृत होते जा रहे हैं।

किसान और मज़दूरों में शिक्षा का अभाव था इसलिए उनका नेतृत्व पढ़े-लिखे लोगों ने ही ग्रहण किया। असहयोग-आन्दोलन के कारण शिक्षित और अशिक्षितों के एकसाथ मिलने से उनका संगठन बहुत मज़बूत हो गया। अब किसान

भी समझने लगे थे कि भारतवर्ष की दुरावस्था अंग्रेज़ी राज्य के ही कारण है; अंग्रेज़ों की व्यापारिक नीति के ही कारण देश में अकाल, बीमारी, दुःख और अधिक संख्या में मृत्यु का प्रादुर्भाव हुआ है इसलिए वे भी राजनैतिक स्वराज्य-प्राप्ति की चेष्टा करने लगे।

स्वतंत्रता की लड़ाई भली-भांति चलाई जा सके इसलिए तिलक स्वराज्य-फंड के नाम से एक करोड़ रुपया इकट्ठा किया गया। राजनीति में भाग लेनेवाले थोड़े से मध्यम वर्ग ने ही यह चंदा नहीं दिया वरन् भारतवर्ष के सभी वर्ग—व्यापारी, ज़मींदार, नौकरी करनेवाले और अशिक्षित किसानों ने भी दिया था। बिहार में नीचवर्ग के मोची, चमार आदि ने अपनी एक-एक दिन की मजदूरी इस चंदे में दे दी थी। इससे मालूम पड़ता था कि भारतवर्ष के सभी वर्ग अंग्रेज़ी साम्राज्य से छुटकारा पाने के लिए एक सूत्र में बँध गये हैं। जमींदार वर्ग इस समय बहुत भयभीत हो गया था। उसे विश्वास हो गया था कि अब स्वराज्य मिल जाने में अधिक देर नहीं है। स्वराज्य मिल जाने पर राज्याधिकार कांग्रेसवालों के ही हाथ में रहेगा, इस भय से उनमें से बहुत लोग कांग्रेसवालों को अपना नाम न बतलाने का वादा कराकर चंदा दे देते थे।

तिलक-स्वराज्य कोष

इसके पहले कांग्रेस का नाम देहातों में नहीं फैला था। गांधीजी के नाम के साथ-साथ कांग्रेस का नाम भी सुदूर देहातों में फैल गया था। कितने देहातों में कांग्रेस देवी की पूजा चल पड़ी थी। कांग्रेस के सदस्य इसके पूर्व बहुत ही कम थे पर इस समय उनकी संख्या लाखों में थी।

अंग्रेजों के खिलाफ़ इस समय जैसा भाव था वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। प्रिंस ऑव् वेल्स १७ नवम्बर १९२१ को बम्बई उतरे। उस दिन सारे देश में हड़ताल मनाकर उनके स्वागत का विरोध किया गया। बाजारों में जहाँ सदा ही चहल-पहल मची रहती थी वहाँ उस दिन बिल्कुल सन्नाटा छा गया। अधिकारियों को इससे बहुत भय हुआ। भारतवर्ष के बहिष्कार के आन्दोलन में हिन्दू-मुसलमान दोनों ही समान रूप से भाग लेते थे। परिस्थिति भयानक देखकर तत्कालीन गवर्नर-जेनरल लार्ड रीडिंग ने इंग्लैंड के तत्कालीन प्रधान-मंत्री लायड जार्ज को तार दिया कि तुर्की के साथ लड़ाई न छेड़ी जाय।

आन्दोलन दबाने के लिए भारतवर्ष में दमन की नीति जारी की गई। कांग्रेस के प्रमुख नेता जेल भेजे जाने लगे। भारतवर्ष का कोई भी शहर ऐसा नहीं बचा जहाँ के लोग जेल न भेजे गये हों। १९२१ का साल लोगों को जेल भेजने में ही बीता। कलकत्ते की जेलों के स्थान नहीं रह गया तब गोदामों में क़ैदी रखे जाने लगे। देश के बड़े-बड़े नेता—लाजपतराय, मोतीलाल नेहरू, भगवान्दास, चित्तरंजनदास आदि जेल में रखे जा रहे थे। स्त्रियों में बासन्ती देवी, सुनीति देवी आदि भी कारावास के दंड से वंचित नहीं रखी गईं। फिर दूसरे लोगों को जेल जाने में अपमान का खयाल क्योंकर हो सकता था? जेल जाने के लिए अधिकाधिक लोग तैयार होते जा रहे थे। जेल जानेवालों का जनता आदर किया करती थी; वे देशभक्त समझे जाते थे, जेल जाना एक खेल बन गया था। कितने युवक जेल में अपने साथ कम्बल भी लेते जाते थे

दमन

जिसमें अधिकारियों को असहयोगियों के लिए बहुत से कम्बल इकट्ठे करने का कष्ट न करना पड़े। असहयोग के समय प्रत्येक गाँव, प्रत्येक शहर में आये दिन सभाएँ हुआ करती थीं। सभाओं में राष्ट्रीय गीत गाये जाते, वदेशी कपड़े जलाये जाते और जोशीले व्याख्यान हुआ करते थे। अंग्रेजी सरकार के खिलाफ़ चूँ भी करना जहाँ पहले असम्भव समझा जाता था वहीं पर उसे 'शैतानी सरकार' 'रावणराज्य' आदि खुलेआम कहा जाने लगा। इस प्रकार के व्याख्यान देने वालों को सरकार क़ैद करती थी परन्तु उससे उनका प्रचार करना नहीं रुकता था। इस समय भारतवर्ष का प्रत्येक गांव जागृत मालूम पड़ता था। १९२१ के जून में सरकारी कौंसिल, स्कूल, कालेज तथा विदेशी कपड़ों के वहिष्कार करने का प्रचार करते हुए गांधी जी ने लोगों को विश्वास दिलाया था कि यदि उनकी बातों को सब लोगों ने ठीक तरह से समझा और उसके अनुसार आचरण किया तो एक साल के भीतर ही स्वराज्य मिल जायगा। बहुत से लोगों को पूर्ण विश्वास हो गया था कि एक साल के भीतर स्वराज्य मिल ही जायगा इसलिए और भी अधिक उत्साह से लोग असहयोग के सिद्धान्तों को काम में लाते थे।

असहयोग स्वराज्य-प्राप्ति का एक साधन था। यह एक प्रकार का आत्म-त्याग था जिसके बिना कोई भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता। इसी समय बारडोली में गांधी जी ने सत्याग्रह आरम्भ करना चाहा। गांधी जी असहयोग के सिद्धान्त में अहिंसा को बहुत ऊँचा स्थान देते थे; उनमें इतनी शक्ति है कि यदि उनपर कोई प्रहार करे तो वे उसे हँसते हुए क्षमा कर देंगे परन्तु साधा-

रण जनता में इतनी शक्ति नहीं है और होना असम्भव-सा ही है। जनता प्रहार होने पर चुप बैठे रहना कायरता समझती है फिर भी गांधीजी की आज्ञा के कारण जनता ने अपने को बहुत रोका परन्तु अन्त में नहीं रोक सकी। चौरी-चौरा में पुलिसवालों के अत्याचार से पीड़ित होकर लोगों ने वहाँ का थाना जला दिया। और वहाँ के दारोगा और कई सिपाहियों को भी जला दिया। गांधी जी ने इसे बहुत ही भयानक कांड समझा। उन्होंने बारडोली में सत्याग्रह करने का विचार छोड़ दिया। सत्याग्रह के लिए अभी और भी तैयारी करने की आवश्यकता थी। बारडोली में सत्याग्रह करने के लिए प्रस्तुत हो जाने पर भी गांधीजी एक-ब-एक रुक गये।

गांधी जी की गिरफ्तारी

१० मार्च १९२२ को गांधीजी भी गिरफ्तार कर लिये गये। उन्हें छः वर्ष की सजा दे दी गई। उनके जेल चले जाने पर जनता का उत्साह पूर्ववत् ही रहा परन्तु शिक्षित समुदाय, ख़ासकर बड़े-बड़े नेता, अधीर होने लगे। बड़े-बड़े नेता कौंसिल-बहिष्कार के विरोधी पहले से ही थे। १९२० में कलकत्ता के अधिवेशन में जब कौंसिलों का बहिष्कार करने का प्रस्ताव गांधीजी ने उपस्थित किया, उस समय बड़े-बड़े नेता इसके विरोधी थे परन्तु महात्मा जी के व्यक्तित्व के सामने किसी की भी नहीं चली। उन लोगों ने कांग्रेस में ही उसका विरोध किया होता परन्तु उन्हें विश्वास था कि उस समय उनकी कुछ भी नहीं चलेगी। उस समय गांधीजी जैसा चाहते वैसा ही हो जाता। प्रस्ताव पास हो जाने पर भारतवर्ष के लगभग सभी कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने कौंसिलों का बहिष्कार

किया। गांधीजी के जेल चले जाने पर कौंसिल के पक्ष वाले नेताओं को अपनी बातें मनवा लेने में सुविधा हो गई। उन लोगों ने लोगों को समझाना शुरू किया कि हम लोगों ने कौंसिलों का वहिष्कार किया फिर भी वहांपर वहुत ही कम स्थान खाली रहे। हम कांग्रेस दल के लोग कौंसिलों में नहीं गये इसी का परिणाम हुआ है कि कर वहुत अधिक वढ़ा दिये गये हैं, सरकार ने दमन का ऐसा चक्र चलाया है जैसा पहले कभी नहीं चला था। भारतवर्ष के तीस हजार युवक जिनमें गांधीजी, देशबन्धु, मोतीलाल, अलीभाई आदि भी थे जेल में ठेल दिये गये। कौंसिलों के वहिष्कार करने का ही परिणाम है कि सरकार हिन्दू-मुसलमानों के वीच झगड़ा पैदा कर देने में समर्थ हो गई है!'

गांधी जी जेल में थे उस समय कांग्रेस में वहुत से ऐसे आदमी थे जो उनके वतलाये हुए मार्ग से एक पग भी अलग नहीं जाना चाहते थे इसलिए देशवन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू ने अलग स्वराज्य-पार्टी क़ायम की। उन्होंने कौंसिलों में जाने और वहाँपर स्वराज्य के लिए झगड़ा करने का विचार पक्का कर लिया। १९२२ कीगया कांग्रेस में उन्होंने अपने विचारों को कांग्रेस से मनवाने का प्रयत्न किया परन्तु उन्हें असफलता हुई। गया कांग्रेस ने कौंसिलों का वहिष्कार करने का प्रस्ताव पास कर दिया। देशवन्धु दास और पं० मोतीलाल नेहरू ने प्रयत्न कर एक अलग स्वराज्य-पार्टी स्थापित की और कांग्रेस से कौंसिलों में जाने की स्वीकृति लेने की चेष्टा करते रहे। १९२३ में दिल्ली में कांग्रेस का विशेषाधिवेशन किया गया। स्वराज्य-पार्टी

के सदस्य वहाँ अधिक संख्या में बहुत तैयारी करके पहुँचे। कांग्रेस ने कौंसिलों में जाने की इजाजत दे दी फिर भी कांग्रेस में परिवर्तन और अपरिवर्तन-वादी दो दल रह ही गये।

मुसलमानों ने असहयोग-आन्दोलन में भाग लिया था। उसका खास कारण खिलाफ़त की समस्या थी। उन्हें भारतीय मामलों से अधिक सम्बन्ध नहीं था। यह एक बड़ी ही विचित्र बात है कि कई शताब्दियों से भारतवर्ष में रहते हुए भी उन्होंने भारतवर्ष को अपना घर नहीं माना है। वे अब भी अरब वा तुर्की को जितना प्यार करते हैं उतना भारतवर्ष को नहीं करते। अंग्रेजी सरकार उनके इस भाव को और भी अधिक बढ़ाया करती है क्योंकि उसकी नीति ही फूट डालकर राज्य करने की रहती है। १९२३ के जुलाई में सैवरे की सन्धि लूसान की सन्धि हो जाने से रद हो गई; खिलाफत पर खतरा नहीं रह गया। खिलाफत का मसला हल हो जाने पर मुसलमानों ने आन्दोलन में भाग लेना छोड़ दिया।

असहयोग-आन्दोलन एक लहर के समान था। कोई भी लहर स्थायी नहीं रहती। देशव्यापी असहयोग-आन्दोलन भी

ह्रास

दिनदिन शिथिल होता गया। मुसलमान अलग हो गये; कांग्रेस में भी दो दल हो हो गये। विद्यार्थियों का भी जोश जाता रहा। अब वे भविष्य की चिंता करने लगे। कितने यहाँतक समझने लगे कि असहयोग-आन्दोलन ने उनका पढ़ना छुड़ाकर जीवन ही नष्ट कर दिया है। जबतक देश में जोश था उनका सभी बहुत आदर करते थे परन्तु जोश ठंडा हो जाने पर उन्हें कोई भी नहीं पूछता था।

जेल में गाँधीजी के पेट में फोड़ा हो गया। उसका आप्रेशन खतरनाक था। इसलिए ५ फरवरी १९२४ को सरकार ने उन्हें छोड़ दिया। उनके जेल से छूटने तक आन्दोलन बहुत-कुछ शिथिल हो चुका था। उन्होंने अपने क़ैद होने के समय गड़बड़ी न करने की आज्ञा दे रक्खी थी इसलिए आरम्भ में कहीं पर दंगे नहीं हुए थे। आन्दोलन शिथिल होने पर तो दंगों की सम्भावना ही नहीं थी। जिन लोगों ने विश्वास किया था कि एक वर्ष में ही स्वराज्य हो जायगा और इसी विचार से आन्दोलन में शामिल हुए थे वे लौटने लगे। वे लोग गाँधीजी पर कुपित भी हो गये; उनमें से कितने उन्हें दोष देने लगे।

विद्यार्थियों के लिए भी सरकारी स्कूल-कालेजों में जाने के सिवा दूसरा चारा नहीं था क्योंकि सरकारी स्कूल-कालेजों में पढ़े-लिखे लोगों की ही फिर से पूछ होने लगी। राष्ट्रीय विद्यालय दिन-दिन टूटने लगे। विद्यार्थियों की संख्या वहाँ उत्तरोत्तर कम ही होती गई। जो पढ़े-लिखे युवक गाँवों में जाकर काम करने लगे थे वे भी अब लौटने लगे। देहातों में उनका मन अब अधिक दिनों तक नहीं लगा। जबतक जोश था टिके रहे फिर लौटकर शहरों में आने लगे।

असहयोग-आन्दोलन बिल्कुल दब-सा गया। असहयोग-आन्दोलन असफल हुआ, इसका खास कारण यही था कि इसमें जितने भी राजनैतिक विचार के नेताओं ने भाग लिया था वे सभी अपने अलग विचार रखते थे। उन्होंने असहयोग को कुछ समय के लिए अपनाया था। वे उसे भी एक चाल ही समझ रहे थे। असहयोग ही उनके जीवन की सारभूत चीज

नहीं थी। उसके असफल होने का सबसे बड़ा कारण यही था कि लोगों ने उसे भी एक चाल ही समझ लिया था। यह असहयोग के सिद्धान्तों के बिल्कुल ही प्रतिकूल था। चाल के लिए असहयोग जैसी चीजों का व्यवहार नहीं किया जासकता। वह तभी सफल हो सकता है जब मनुष्य उसे जीवन का एक अंग मान ले। लोगों ने ऐसा नहीं किया, यही उसके असफल होने का एक मात्र कारण था।

आन्दोलन आया और चला गया परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि उसका प्रभाव भी शेष नहीं रहा। भारतीय तो गांवों में ही रहनेवाले हैं, उनमें इस आन्दोलन ने जैसी जागृति ला दी वह नष्ट नहीं हो सकती। अभी कुछ विश्राम लेकर अपना कार्य वह अवश्य ही दिखलायगी। अंग्रेजी पढ़े-लिखों में अधिकांश लोगों का कोई निश्चित विचार नहीं होता। वे पूर्व अथवा पाश्चात्य ढंग में किसे अपनावें इसी की विवेचना करते रहते हैं। वे यदि बदल गये तो देश की अधिक हानि नहीं। जनता का जागृत होना ही मुख्य कार्य है। उनकी जागृति से ही अंग्रेजी साम्राज्यवाद के शीघ्र ध्वंस हो जाने की सम्भावना है।

जेल से छूट आने पर गाँधी जी ने भी अपने थोड़े से पक्के अनुयायियों को साथ लेकर खद्दर और जनता में जागृति लाने का कार्य आरम्भ किया। १९२४ की बेलगाँव कॉंग्रेस में उन्होंने स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौता कर लिया। कॉंग्रेस में फूट न हो, सब लोग फिर से एक हो जायँ इसलिए उन्होंने यह भी मान लिया कि कॉंग्रेस की ओर से ही स्वराज्य-पार्टी के लोग

अपना नियम बना, चन्दा इकट्ठा कर कौंसिलों में जाया करें। १९२५ की कानपुर कांग्रेस ने स्वराज्य-पार्टी द्वारा चलाया गया कार्य स्वयं ले लिया। वहाँ यह प्रस्ताव पास हो गया कि देश की भलाई के लिए जो राजनैतिक कार्य आवश्यक हों उन्हें कांग्रेस अपने हाथों में ले ले और अपनी सारी शक्ति तथा सारा द्रव्य (चरखा-संघ को दिया गया था उसे छोड़कर) उस कार्य के आगे बढ़ाने में खर्च कर दे। कौंसिलों में जाने का कार्य भी इस समय देश की भलाई के लिए आवश्यक राजनैतिक कार्य समझा गया।

स्वराज-दल

स्वराज्यदल ने देश को स्वतंत्रता के संग्राम में आगे बढ़ाया वा नहीं यह कहना बहुत ही कठिन है। देश को आगे बढ़ाने का एक मात्र उपाय जनता में जागृति लाना है; इस विषय में स्वराज्यदल ने बहुत कम सहायता पहुँचाई। फिर भी उसने कई कार्य किये; उसकी सराहना स्वयं गाँधीजी ने की। गाँधीजी की सराहना से प्रोत्साहित होकर स्वराज्यदल अपने को बहुत बड़ा कार्य करने वाला समझने लगा। गाँधी जी को छुड़ाने में वह अपना बहुत बड़ा हाथ समझता था। गाँधी जी ने असहयोग-आन्दोलन द्वारा लोगों के भीतर अंग्रेजी सरकार का विरोध करने का जो भाव भरा, स्वराज्यदल वाले समझते हैं कि उन्होंने कौंसिलों में जाकर बंगाल और मध्यप्रांत में द्वैध शासन तोड़कर और कौंसिलों में राष्ट्रीयता तथा देश-भक्ति का वायु-मण्डल तैयार करके उसे बहुत दूर तक क़ायम रखा। इतना ही नहीं, वे यह भी समझते हैं कि बारडोली के प्रयत्न के बाद भारतवर्ष के राजनैतिक क्षेत्र में

जो कुछ भी जागृति लाई गई है उसका श्रेय स्वराज्यदल को ही है।

देशबन्धुदास की मृत्यु से स्वराज्यपार्टी का बहुत बड़ा नुक़सान हुआ। उनकी मृत्यु के बाद इस दल को कई बार अपनी नीति बदलनी पड़ी। अपनी नीति सदा बदलते रहने में स्वराज्यदल अपनी बुद्धिमानी का परिचय देता है। स्वराजियों को पक्का राजनीतिज्ञ होना ही चाहिए; बिना वैसा हुए वे विजय नहीं पा सकते। राजनीति भी एक प्रकार का जुआ है। ज़बतक प्रतिद्वंद्वी अपनी चालें नहीं दिखला देता अपना ध्येय निश्चित करना कठिन है।

आगे चलकर स्वराज्यदल में भी एक ऐसा दल हो गया जो उससे अलग होकर कौंसिलों में मंत्रियों का पद स्वीकार करने के लिए भी तैयार हो गया। सरकार ने देश में फूट डालने के लिए ही १९१९ में द्वैध शासन की प्रथा चलाई थी। उसने शक्ति अपने ही हाथों में रखी थी परन्तु बाहर से दिखलाने के लिए मंत्रियों को अधिकार दे दिये थे। ऐसा होने से वह जनता के आन्दोलन करने पर कह सकती थी कि अब तुम्हारे अपने ही लोगों के हाथ में अधिकार दे दिये गये हैं।

कांग्रेस का उद्देश्य १९२७ की मद्रास कांग्रेस तक कुछ साफ़ नहीं था। मद्रास-कांग्रेस ने प्रस्ताव पास किया कि कांग्रेस का उद्देश पूर्णरूप से राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करना है। अंग्रेज अभीतक यही कहते आते थे कि भारतवासियों की एक राय नहीं है, वे क्या चाहते हैं इसे भी साफ़-साफ़ नहीं बतला सकते। इसी लांछन को दूर

नेहरू रिपोर्ट

करने के लिए १९२८ में सर्वदल-सम्मेलन ने पं० मोतीलाल की अध्यक्षता में स्वराज्य का विधान तैयार करने के लिए एक कमेटी नियुक्त की। इसी वर्ष अगस्त के महीने में उस कमिटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन ने उस रिपोर्ट को मान लिया। कलकत्ता कांग्रेस में भी वह पेश किया गया। वहाँ पर उसका जोरों से विरोध हुआ। विरोधीदल का कहना था कि उस रिपोर्ट को मान लेने से कांग्रेस का उद्देश नीचा हो जाता है। मद्रास कांग्रेस ने अपना उद्देश पूर्ण-स्वतन्त्रता घोषित किया है; वैसी अवस्था में नेहरू कमेटी की औपनिवेशिक स्वराज्य की माँग मानली जायगी तो हम लोग उद्देश-भ्रष्ट हो जायँगे परन्तु मोतीलालजी ने समझाया कि हम लोगों का उद्देश पूर्णस्वतन्त्रता ही है। अभी यदि स्वतन्त्रता की ओर पग बढ़ाने के समय औपनिवेशिक स्वराज्य मिला जा रहा है तो हम उसे क्यों छोड़ दें ? पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने में उससे सहायता मिलेगी। नेहरूजी की बात लोगों ने नहीं सुनी। वे विरोध करते ही रहे परन्तु गाँधीजी ने भी नेहरूजी का ही पक्ष लिया था। गाँधीजी के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण औपनिवे-शिक स्वराज्य का ही प्रस्ताव पास हो गया। पर शर्त यह रही कि एक साल के अन्दर सरकार इस माँग को पूरा न करेगी तो काँग्रेस पूर्ण स्वतन्त्रता के ध्येय की घोषणा कर देगी।

सरकार ने भारतीय सुधारों की जाँच करने तथा नये शासन-सुधार देने के सम्बन्ध में जो (साइमन) कमीशन बनाया था उसका विरोध करने का प्रस्ताव मद्रास कांग्रेस और काशी के सर्वदल-सम्मेलन ने पास किया। व्यवस्थापिका सभा ने भी

लाला लाजपतराय के साइमन कमीशन पर अविश्वास के प्रस्ताव को पास कर दिया और कमीशन के खर्च की माँग को भी अस्वीकृत कर दिया! जहाँ-जहाँ कमीशन के सदस्य गये, लोगों ने काले झंडे लेकर और तख्तियों पर 'साइमन लौट जाओ,' 'साम्राज्यवाद का ध्वंस हो' आदि लिखकर उसका बहिष्कार किया परन्तु सरकार अपनी दमन नीति से बाज नहीं आई। उसने कमीशन का बहिष्कार करनेवाले लोगों पर प्रहार कराये। लाला लाजपतराय की मृत्यु वैसे ही प्रहारों से हुई। भारतवासियों के धन पर सरकार भारतवासियों का हक़ तो समझती ही नहीं इसीलिए भारतवासियों के कमीशन के ख़र्च देने से इन्कार कर देने पर भी उसने अपनी शक्ति से उसे भारतवर्ष का धन दिया।

भारतवर्ष के हितों का ख़याल रखते हुए उसने विनिमय की दर १९२६ के अगस्त से एक शिलिंग छः पेंस कर दी है। जिस करेंसी कमीशन ने यह दर निश्चित की वह भारत-सचिव के अधीन थी। भारतवर्ष के उत्पत्ति करनेवाले, माल तैयार करने वाले और व्यवसायियों को इससे घाटा होने लगा और विदेशी लोगों का लाभ हुआ। विनिमय की दर बढ़ा देने से भारतवर्ष के मजदूरों पर बहुत असर हुआ। जमशेदपुर और बम्बई के कारख़ानों में जैसी हड़तालें हुईं वैसी और कभी नहीं हुई थीं। मजदूर पहले से असन्तुष्ट थे ही; विनिमय की दर बढ़ जाने से उनकी अवस्था और भी अधिक शोचनीय हो गई। उनके भीतर खलबली मचती देखकर अंग्रेजी सरकार को रूस के षड्यन्त्र रचने का भय होने लगा, इसीलिए १९२८ में गवर्नर-जेनरल ने व्यवस्थापिका सभा के अस्वीकृत करने पर भी अपने विशेषा-

धिकार द्वारा 'पब्लिक-सेफ़्टी बिल' पास कर दिया। यह बिल भी पूँजीपतियों के फ़ायदे का ही हुआ। साम्यवाद का प्रचार रोकने के बहाने भारतीय मजदूरों को विदेशी सहानुभूति रखनेवाले तथा सलाहकारों से वंचित कर दिया गया। इसका उद्देश केवल विदेश से साम्यवादी विचारवालों को आने देने से रोकना ही नहीं वरन् भारतवर्ष के मजदूर नेताओं का दमन करना था।

सत्याग्रह

ऊपर लिखा जा चुका है कि कलकत्ता कांग्रेस ने सरकार को एक वर्ष का समय दिया था। इस बीच सरकार ने देश की माँग पर ध्यान नहीं दिया इसलिए ठीक एक वर्ष बाद लाहौर कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता के ध्येय की घोषणा कर दी और गाँधीजी को सत्याग्रह करने के सम्बन्ध में सर्वाधिकार दे दिया। गाँधीजी ने वाइसराय को इस सम्बन्ध में पत्र लिखा और अत्यन्त ख़र्चीली शासन-व्यवस्था की त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तथा स्वराज्य-सम्बन्धी कुछ शर्तें पेश कीं। वायसराय ने उनकी ओर विशेष ध्यान न दिया। फल-स्वरूप दाँडी-यात्रा एवं १९३० के नमक-सत्याग्रह का आरम्भ हुआ। देखते-देखते सत्याग्रह-आन्दोलन की लपटों ने सारे देश को आत्मसात् कर लिया। सरकार ने दमन की लाठी उठाई। हर तरह की संस्थाएँ ग़ैर-क़ानूनी करार दे दी गईं परन्तु साल के अन्त तक लगभग एक लाख आदमी जेलों में जा चुके थे और सत्याग्रह का जोर घटा नहीं था। विदेशी वस्त्रों, ब्रिटिश माल तथा मादक द्रव्यों का ऐसा बहिष्कार हुआ कि विदेशी, विशेषतः अंग्रेज, व्यापारियों को बड़ा घाटा हुआ; लंकाशायर का व्यवसाय उजड़ने लगा। भारत-सरकार एवं

प्रायः प्रत्येक प्रान्तीय सरकार के बजट में घाटा हुआ। व्यापारियों के यहाँ विदेशी कपड़ा तथा अन्य माल कॉंग्रेस की मुहर के नीचे बंद पड़ा था। इससे सरकार घबड़ा गई और सर तेजबहादुर सप्रू एवं श्री जयकर के प्रयत्न से सरकार एवं कांग्रेस के बीच अस्थायी सन्धि हुई। इसके अनुसार सब सत्याग्रही क़ैदी छोड़ दिये गये और आर्डिनेन्स हटा लिये गये। कॉंग्रेस ने आन्दोलन स्थगित कर दिया।

इस संधि के फल-स्वरूप महात्मा गाँधी, श्रीमती सरोजनी नायडू एवं पं० मदनमोहन मालवीय गोलमेज-सम्मेलन में शरीक होने लन्दन गये। महात्माजी को कांग्रेस ने अपना एकमात्र प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उधर महात्माजी इंग्लैंड में थे, इधर सरकार ने अपनी दमन की नीति जारी रक्खी। युक्तप्रान्त के किसान, फ़सल की ख़राबी एवं अन्न का दाम गिर जाने से, भूखों मरने लगे और जब कॉंग्रेस ने लगान की छूट के लिए सरकार को लिखा तो सरकार ने ध्यान न दिया। उलटे कॉंग्रेस पर उन्हें भड़काने का इलजाम लगाया। किसानों की ओर से सत्याग्रह का आयोजन होने लगा। इस समय सरकार ने युक्तप्रान्त, बंगाल एवं सीमाप्रान्त को दबाने के लिए आर्डिनेन्स जारी कर दिया। अन्त में कोई उपाय न देख युक्तप्रान्त में किसान-सत्याग्रह आरम्भ हुआ।

ऐसे बहुत-से प्रमाण मिलते हैं जिनसे मालूम होता है कि सरकार ने दमन की पूरी तैयारी करली थी। इतना दमन एवं सन्धि के नियमों का भंग होते हुए भी कांग्रेस महात्माजी के आगमन के लिए रुकी थी। महात्माजी के देश में पदार्पण करने

के वाद, एक हफ्ता भी न वीता था कि पं० जवाहरलाल नेहरू, श्री शेरवानी आदि वम्बई (कांग्रेस-कार्यकारिणी की वैठक में) आते समय गिरफ्तार कर लिये गये। वम्बई में कार्यकारिणी की वैठक हुई। उसकी सम्मति से महात्माजी ने वायसराय को पत्र लिखा कि मैं निष्पक्ष मन से देश की स्थिति का अध्ययन करना और आपसे वातें करना चाहता हूँ पर वायसराय ने ऐसा रूखा उत्तर दिया कि महात्माजी को सत्याग्रह की घोषणा करनी पड़ी। इस वार सारे देश में भयंकर दमन आरम्भ हुआ। जायदादें जब्त की गईं। सव तरह के राष्ट्रीय विचारों की संस्थाओं पर पुलिस ने अधिकार कर लिया और सरकार के पास जितने साधन थे सवका प्रयोग विद्युत् गति से किया।

सरकार ने सोचा था कि आन्दोलन १५ दिन से ज्यादा न चलेगा पर उसकी जड़ गहरी थी। इसलिए डेढ़ वर्ष से अधिक समय तक चलता रहा है। और अव महात्माजी के आत्मशुद्धि के अर्थ किये गये २१ दिन के उपवास के कारण उनके विना शर्त्त छूटने पर ६ सप्ताह के लिए स्थगित हुआ। इस समय गाँधीजी ने सरकार से सहयोग की अपील भी की। पुनः १८ जून को गाँधीजी की तवियत खराव रहने के कारण, उनसे सलाह-मशविरा करने की सुविधा न होने से ३१ जुलाई तक के लिए आन्दोलन स्थगित किया गया। इस वार सरकार की नीति अदूरदर्शितापूर्ण वनी रही। उसने गाँधीजी के सहयोग के भावों का आदर नहीं किया।

एशिया के और राष्ट्रों के स्वतंत्र रहने के लिए भारतवर्ष का स्वतन्त्र होना अत्यन्त आवश्यक है। एशिया के सभी मामलों की

जड़ में भारतवर्ष ही है। तुर्की, अरब, फ़ारस, अफ़ग़ानिस्तान आदि के मामलों में अंग्रेजों के हस्तक्षेप करने का मुख्य कारण यही था कि वे भारतवर्ष में अपनी जड़ मजबूत करना चाहते थे। मिश्र को भारतवर्ष के ही कारण ग़ुलाम होना पड़ा। भारतवर्ष जबतक पूर्णरूप से स्वतंत्र नहीं होगा, ये देश स्वतंत्र नहीं रह सकते। महासमर की तरह यदि तुर्की आदि देशों से अंग्रेजों की लड़ाई छिड़ी तो अंग्रेज भारतवर्ष की ही सेना, धन, सामग्री आदि पर निर्भर करेंगे। भारतवर्ष यदि स्वतंत्र हो जाय तो उन देशों के लिए भय नहीं रह जायगा।

अधीनता में रहने से और देशों की अपेक्षा भारतवर्ष सभी बातों में पीछे पड़ गया है। शिक्षितों की संख्या नगण्य है।

पतन

बच्चों की मृत्यु सबसे अधिक यहीं होती है। मनुष्यों की आयु कम से कम इसी देश की है। सामाजिक अवस्था भी बहुत गिरी हुई है। इन सभी बुराइयों को दूर करने का केवल एक ही उपाय है; वह है राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना। रूस ने रास्ता दिखला दिया है। उसने दिखला दिया है कि शिक्षा के अभाव और देश में फूट रहने से ही कोई देश विदेशी शक्ति के अधीन नहीं रखा जा सकता। अनेक बाधाओं के रहते हुए भी देश स्वतन्त्र हो सकता है। देश जबतक विदेशी लोगों के पंजे से नहीं छूट जाता वहाँ से दरिद्रता, अशिक्षा, सामाजिक कुरीतियाँ दूर नहीं हो सकतीं। दस-पन्द्रह वर्षों में ही रूस ने कितनी उन्नति करली है? भारतवर्ष भी स्वतन्त्र होकर उतनी ही शीघ्रतापूर्वक उन्नति कर ले सकता है।

भारतवर्ष केवल दूसरे लोगों की ही सहायता पर अवलम्बित

नहीं है। आज वह स्वतन्त्र होने के लिए हाथ-पांव पटक रहा है। आज स्वतन्त्रता का आन्दोलन केवल बंगाल, मद्रास वा महाराष्ट्र में ही नहीं है; आज केवल एक प्रांत ही अलग होकर स्वतन्त्र नहीं होना चाहता है बल्कि ऐसी स्वतन्त्रता की पुकार मच रही है जिसमें देश के सभी वर्ग, सभी प्रान्त भाग ले रहे हैं। आज सारा भारतवर्ष एक होकर अंग्रेजों से छुटकारा पाना चाहता है। अंग्रेज हिन्दुस्तान को (देशी भारत और ब्रिटिश-भारत नामक) दो भागों में विभक्त कर देना चाहते हैं, भारतवर्ष में आयलैंड की तरह एक 'अलसटर' बना देना चाहते हैं, भारत-वासियों के संगठित बल को कम करना चाहते हैं परन्तु वे जितना ही अधिक विभेद डालने का प्रयत्न करते हैं भारतवासी उतने ही अधिक वेग से एकता की ओर बढ़ते जाते हैं। बाहरी देशों में साम्राज्यवाद की विरोधी संस्थाओं से भी कांग्रेस ने अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। उसने ब्रसेल्स की साम्राज्यवाद का विरोध करनेवाली कांग्रेस में अपना प्रतिनिधि भेजा था।

जिस आर्थिक साम्राज्यवाद का उद्भव संसार के कमज़ोर राष्ट्रों को चूसकर हुआ; जिसकी स्थिति भौतिक सभ्यता तथा सैन्य-बल पर निर्भर है; जिसने संसार में किसी को भी स्वतन्त्र रूप से चुप बैठने देना असम्भव कर दिया है उसी के खिलाफ़ भारतवासियों ने लड़ाई छेड़ दी है। उन्होंने गांधीजी के बतलाये हुए ऐसे अस्त्र को अपनाया है जो आर्थिक साम्राज्यवाद के मर्म स्थल पर आघात पहुँचाता है। भारतवर्ष में खादी का काम ज़ोरों से चला और गाँवों में जागृति हुई तो वे दिन अधिक दूर नहीं हैं जब भारतवर्ष पुनः स्वतन्त्र होकर अपने पूर्व वैभव को प्राप्त कर लेगा।

[६]

हम भी पीछे नहीं हैं !

जिस समय एशिया के बड़े-बड़े राष्ट्र साम्राज्यवाद के चक्र से छूटने की कोशिश कर रहे हैं उस समय यहाँ के छोटे-छोटे राष्ट्रों का चुप बैठे रहना असम्भव है। उन में भी बड़े राष्ट्रों की ही तरह क्रांति की भावनाएँ हिलोरे मारा करती हैं।

श्याम ने १९२० में सब से पहले अमेरिका से सन्धि की। इस सन्धि के अनुसार १८५६ की सन्धि रद्द हो गई और अमेरिकनों का श्याम में विशेषाधिकार (Extraterritoriality) नहीं रह गया। न्याय-विभाग में सुधार करने के लिए एक नया कोड तैयार किया जाने लगा। जब तक कोड तैयार नहीं हो जाता, अमेरिका ने श्याम में उसकी जनता के साथ अनुचित व्यवहार न हो इसका भी प्रबन्ध कर लिया। इस सन्धि के अनुसार श्याम को अमेरिका के माल पर मनमाने कर लगाने का अधिकार मिल गया परन्तु शर्त यह रखी गई कि दूसरे राष्ट्र भी इस बात को मान लें। कोई राष्ट्र इसके लिए हर्जाना न ले। अमेरिका के साथ सन्धि कर लेने पर श्याम के योग्य परराष्ट्र-सचिव वैदोपप्रबन्ध ने बहुत परिश्रम के बाद दूसरे राष्ट्रों के साथ की गई असमानता की सन्धियां भी रद्द करा लीं। ब्रिटेन,

श्याम का स्वतंत्रता-लाभ

फ्रांस, डेन्मार्क, पुर्तुगाल, और दूसरे युरोपीय राष्ट्रों के साथ नई सन्धियां करली गईं। सत्तर वर्ष तक विदेशियों के बन्धन में रहने के बाद श्याम स्वतंत्र हो गया। स्वतंत्र हो जाने पर श्याम ने देश की अवस्था सुधारने में बहुत उन्नति की। १९२५में वहाँ के राजा छठे राम मर गये। उनके राज्य के अन्तिम काल में राज्य पर थोड़ा ऋण भी हो गया था। उनके भाई वर्तमान श्याम-नरेश प्रजाधिपक गद्दी पर बैठे; उस समय से वह ऋण घटने लगा। नये शासक ने राज-घराने का खर्च नव्वे लाख टिकल (श्यामी सिक्का) से घटाकर साठ लाख कर दिया। शासन कार्य में ये पुराने राजाओं की दयालुता का अनुकरण करते रहे। अपने यहां पार्लमेंट की स्थापना करना और देश में वैध-शासन प्रचलित करने का इन्होंने विचार पहले ही किया था। १९३२ में एकाएक वहाँ शान्त क्रांति हुई। प्रजा के नेताओं ने शासनतंत्र अपने हाथ में ले लिया। सम्राट् इस से सहमत हुए; प्रतिनिधिसत्तात्मक शासन स्थापित हुआ। सम्राट् भी हैं पर उनका वही स्थान है जो इंग्लैंड के प्रजा सत्तात्मक शासन में वहां के सम्राट का है।

श्याम के सामने इस समय सब से बड़ा प्रश्न यह है कि पश्चिमीय सभ्यता को अपनाते हुए भी वह अपनी पुरातन सभ्यता किस प्रकार से कायम रखे और पाश्चात्य सभ्यता के साथ आनेवाली बुराइयों से किस प्रकार अपनी रक्षा करे। पश्चिमीय सभ्यता की बुराइयों से वह भलीभांति परिचित हो गया है इसलिए उन में उसके अटक जाने की सम्भावना नहीं है। श्याम दिन-दिन उन्नति ही करता जायगा।

रूस के आक्रमण से बचने के लिए अंग्रेजों ने तिब्बत को अपने अधिकार में रख लिया है। अंग्रेज नहीं चाहते कि यहाँ के लोगों को भी आधुनिक जगत् की झलक लगे। उन्हें वे पूर्णरूप से अधिकार में रखना चाहते हैं परन्तु एशिया में जैसी हवा चल रही है उससे इस महादेश का एक भी कोना नहीं बच सकता। राजा महेन्द्र प्रताप तिब्बत गये थे, उस समय उनकी वहाँ के मुख्य लामा से मुलाक़ात हुई थी। लामा ने उनके सामने जो विचार प्रकट किये थे उससे स्पष्ट हो जाता है कि एशिया का एक भाग होकर अपना कर्तव्य पूरा करने की जिम्मेवारी तिब्बत भी समझता है। दलाई लामा ने कहा था कि वह चीन को प्यार करता है; वहाँ जाने के लिए वह उत्सुक भी है क्योंकि वह जानता है कि तिब्बत विना अपने पूर्वी पड़ोसी की सहायता के उन्नति नहीं कर सकता। अंग्रेज तिब्बतियों को जबर्दस्ती दबा रखते हैं इसलिए वे कुछ कर नहीं पाते। उनकी भारतवर्ष के लोगों के साथ सहानुभूति है। तिब्बत का सम्बन्ध आधुनिक सभ्यता से नहीं हुआ है फिर भी एशिया के उत्थान में उसका एक विशेष स्थान है। वह अपनी जिम्मेवारी अब समझने लगा है। अंग्रेज अब कितना ही प्रयत्न क्यों न करें उसे अपने एशियायी भाइयों से अलग नहीं रख सकेंगे।

तिब्बत

रूस ने अभी साम्राज्यवादी राष्ट्रों के भीतर आतंक पैदा कर दिया है। साम्राज्यवाद का सब से बड़ा शत्रु इस समय साम्यवाद हो रहा है। डच लोगों ने इण्डोनेशिया पर कब्जा किया था और उसी कारण से वह साम्राज्यवादी राष्ट्र कहे जाने योग्य है। इण्डोनेशिया हॉलैंड की

इण्डोनेशिया

अपेक्षा चौसठ गुना बड़ा है। वहाँ की आबादी भी हॉलैंड की अपेक्षा सात गुनी अधिक है। डच लोगों ने वहाँ के लोगों को सब प्रकार से कुचल डालने का प्रयत्न किया है।

रूस की राज्य-क्रान्ति की लहर इण्डोनेशिया तक पहुँच गई। वह भी स्वतंत्र होने की चेष्टा करने लगा। रूस से उसका सम्बन्ध हो वा नहीं, डच लोगों ने समझ लिया कि रूस के साथ सम्बन्ध होने के ही कारण इण्डोनेशिया में जागृति हो रही है। उन लोगों ने दमन करना आरम्भ किया। हड़ताल करने, एकत्र होकर सभा करने तथा समाचार-पत्रों द्वारा आन्दोलन करने में रुकावटें डालने के लिए बहुत ही सख्त कानून बना दिये गये। वहाँ का गवर्नर-जेनरल चाहे किसी को देश-निकाले की सजा दे सकता है। डच लोग वहाँ वालों को शिक्षित भी नहीं करना चाहते। जब से उनका राज्य क़ायम हुआ शिक्षा का अभाव बढ़ता ही जाता है। पहले पचास प्रतिशत लोग अशिक्षित थे परन्तु सुसभ्य युरोपीय डच साम्राज्यान्तर्गत आने पर वहाँ के पंचानवे प्रतिशत लोग अशिक्षित हो गये। इतना ही नहीं वहाँ के एक प्रसिद्ध डाक्टर का कहना है कि डच सैनिकों ने कामुक बीमारियाँ फैलाकर देश को बरबाद कर दिया। लोगों की निर्धनता दिन-दिन बढ़ती ही गई।

इण्डोनेशिया के लोग अधिक बर्दाश्त नहीं कर सके। स्वतंत्र होने के लिए वहाँ के लोगों ने रूस का अनुकरण किया। १९२० में 'पारताई साम्यवादी इण्डोनेशिया' नामक समिति की स्थापना हुई थी। उस समिति का मूल उद्देश किसान और मजदूरों की अवस्था में सुधार करना

दमन और अत्याचार

था। नये दल के सदस्य दिन-दिन बढ़ते ही गये; इससे डच-सरकार और भी अधिक घवड़ा गई। उसने और ज़ोरों से दमन आरम्भ किया। सरकार ने जितना ही दमन किया लोग उतने ही अधिक क्रान्तिकारी होते गये। १९२६ के अन्त में पश्चिमी जावा और १९२७ के आरम्भ में पश्चिमी सुमात्रा में विद्रोह हो गया परन्तु विद्रोहियों को सफलता नहीं मिली। डच-सरकार ने इस समय लोगों पर ऐसे अत्याचार करने आरम्भ किये जिसका नमूना इतिहास में दुर्लभ है। चार हज़ार इण्डोनेशियनों को ऊपरी दिगौल (नये-गायना के बीच में) भेज दिया गया। वहाँ की ज़मीन दलदल है, मलेरिया बहुत जल्द हो जाता है और लोग बचते नहीं हैं। निर्वासित इंडोनेशियनों ने जीवन की आशा छोड़ दी। देश में लोगों से यह स्वीकार कराने के लिए कि वे साम्यवादी विचार के हैं ऐसी-ऐसी कठोर यातनाएँ दी जाती थीं जिन्हें देखकर राक्षसी यन्त्रणाओं को भी लज्जा आयेगी। पुरुषों और स्त्रियों की मूत्रेन्द्रियाँ जला दी जाती थीं। यह करतूत बीसवीं शताब्दी में एक सभ्य कहलानेवाला राष्ट्र करता था। अर्थ-लोभ ने उनमें मनुष्यता का नामोनिशान भी नहीं छोड़ा।

साम्राज्यवादियों के इस प्रकार के अत्याचारों के कारण लोगों के भीतर की क्रान्तिकारी भावनाएँ और भी प्रज्वलित हो उठीं। इण्डोनेशिया का शिक्षित वर्ग अभीतक डच लोगों पर विश्वास करता था परन्तु इस समय वह बहुत अधिक बिगड़ गया। १९२७ ई० में 'पारताई राष्ट्रीय इण्डोनेशिया' की स्थापना हुई। इसमें विदेश से लौटे हुए लोगों ने अधिक भाग लिया। अब ये लोग इण्डोनेशिया के पूर्ण स्वतन्त्र होने के लिए आन्दो-

लन मचा रहे हैं। वे अब डच लोगों से अपना किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। अपनी कांग्रेस में उन लोगों ने कृषक और मज़दूरों में जागृति लाने का, उन्हें संगठित करने का विचार निश्चित किया। इण्डोनेशिया का यह दल सभी दलों से बड़ा होगया। डच अख़बारों ने उन लोगों पर दवाव डालकर उनके आन्दोलन को दवा देने के लिए सरकार पर काफ़ी ज़ोर डाला। इण्डोनेशिया में गुप्तचरों की संख्या बहुत अधिक बढ़ा दी गई और भारतवर्ष की ही तरह निरपराध लोगों का पकड़ा जाना फिर से जारी हो गया।

इण्डोनेशिया की राष्ट्रीय संस्था ने भी 'साम्राज्यवाद विरोधिनी अन्तर्राष्ट्रीय लीग' (International league against Imperialism) के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लिया है। वहाँ की अवस्था देखते हुए हम लोग यही कह सकते हैं कि डच साम्राज्यवाद ने ही प्रयत्न करके नरम दलवालों के दल को भयानक क्रान्तिकारी दल बना दिया है। जनता सजग होती जा रही है; मज़दूर और किसान दिन-दिन संगठित होते जा रहे हैं। डच-सरकार ने उन लोगों को ग़ुलाम बनाये रखने के लिए कुछ सुधार देने चाहे थे परन्तु लोगों ने उन सुधारों का विरोध किया। १९२७ में एक व्यवस्थापक सभा बनाई गई जिसमें सम्राट्-द्वारा नियुक्त अध्यक्ष तथा ६० सदस्य (३०-३२ डच, २५ इण्डोनेशियन ३-५ तक दूसरे, चीनी या अरब आदि) होते हैं। इन सदस्यों में कुछ स्थानीय कौंसिलों के सदस्यों-द्वारा निर्वाचित होते हैं और कुछ गवर्नर-जेनरल द्वारा *निष्पक्षतापूर्वक* मनोनीत किये जाते हैं। परन्तु इण्डोनेशिया वाले डच लोगों की

साम्राज्यवादी चालों में आनेवाले नहीं हैं। वे अपनी शक्ति पर निर्भर करते हैं और अपनी ताक़त और संगठन के बल पर ही पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त करने की चेष्टा में लगे हुए हैं। विगत पाँच वर्षों में वहाँ की जनता बहुत जागृत हो गई है।

इण्डोचीन

राष्ट्रपति विलसन ने जिस स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की आवाज उठाई थी वह इण्डोचीन तक पहुँच गई। साम्यवादी आन्दोलन ने उस आवाज़ के बहुत शीघ्र वहाँ पहुँचा देने में रेडियो के जैसा कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यहाँ के लोग भी स्वतन्त्र होने की आवाज उठाने लगे। यहाँ के लोगों ने भी पाश्चात्य शिक्षा ग्रहण की थी इसलिए राष्ट्रीयता का भाव उनमें पहले से ही आ गया था। फ्रांसीसी सरकार ने अंग्रेज़ तथा डच-साम्राज्यवादियों की तरह यहाँ पर अत्याचार नहीं किये इसलिए क्रान्ति की आग जोरों से नहीं भभकी। १९२५ में फ्रेंच-सरकार की ओर से एम. वारनी गवर्नर-जेनरल बनाकर इण्डोचीन भेजे गये थे। ये साम्यवादी विचारों के थे। उन्होंने लोगों को बतलाया कि फ्रांस का उद्देश इण्डोचीन को स्वतन्त्रता के लिए तैयार करना है पर फ्रांसीसी सरकार ने तुरन्त ही इसी प्रकार का कोई भी कार्य होने देने में बाधा डाली। उसका परिणाम यह हुआ कि स्थान-स्थान पर बलवे होगये। लोग फ्रांसीसी सरकार के विरोध में जुलूस निकालने लगे, विद्यार्थियों ने भी फ्रांसीसी स्कूलों में जाना बंद कर दिया। अन्नाम में इस प्रकार के विद्रोह का भाव बहुत अधिक था। फ्रांसीसी सरकार ने बहुत से लोगों को क़ैद कर लिया। वहाँ के अधिकांश राष्ट्रवादी जेल में रख दिये गये अथवा निर्वासित कर दिये गये।

इण्डोचीन वालों की आशा रूस की सहायता पर लगी है। जापान उस देश को अपने कब्ज़े में लाना चाहता है इसलिए वह भी वहाँ पर क्रांतिकारी भाव फैलाने से बाज़ नहीं आता। इण्डोचीन वाले भी स्वतंत्र होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

कोरिया

जापान के मार्किस ईटो ने पहले ही विचार किया था कि कोरिया को दास बनाकर नहीं वरन् यदि बराबरी का भाव दिखलाकर रखा जाय तो वह जापान के अधिकार में रह सकेगा। परन्तु जापान के कितनी भी नरमी दिखलाने पर कोरियन जापानी लोगों से असन्तुष्ट थे। १९१९ में स्वभाग्य-निर्णय की हवा चलने पर कोरिया ने भी अपने स्वतन्त्र होने की घोषणा करदी। स्वतन्त्रता घोषित करने के लिए जितनी शक्ति की आवश्यकता होती है उतनी शक्ति न रहते हुए भी उसने वैसे महान् कार्य में हाथ डाला इसका कारण यह था कि उसकी दृष्टि पश्चिमी राष्ट्रों की ओर थी। वह समझता था कि उसकी सहायता पश्चिमी राष्ट्र करेंगे परन्तु उसकी आशा भंग हुई। उसके स्वतन्त्रता की घोषणा करने पर बहुत-से लोग क़ैद कर लिये गये; बहुतों को यंत्रणाएँ दी गईं और बहुत-से निर्दोष कोरियनों की हत्या की गई। कोरिया की सहायता के लिए कोई भी नहीं पहुँचा। कोरियन लोगों की आंखें खुल गईं। उन्होंने पश्चिमी राष्ट्रों के सम्बन्ध में समझ लिया कि हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और हुआ करते हैं। पश्चिमी राष्ट्रों के भरोसे स्वतन्त्र होने की आशा उन्होंने छोड़ दी।

कोरियन स्वयं कमजोर हैं। उनमें जापान के चंगुल से अपने को छुड़ा लेने की शक्ति नहीं है फिर भी स्वतन्त्र होने के लिए वे बहुत जोर लगाया करते हैं। वहाँपर अस्थायी प्रजातंत्र शासन की स्थापना कभी नहीं हुई, फिर भी उसका प्रतिनिधि मास्को में रहता है। प्रजातन्त्र शासन स्थापित करने की कोरियन लोग बहुत चेष्टा करते हैं; वैसे विचारवाले बीच-बीच में दंगा कर देते हैं। १९२६ के जून में उन लोगों ने कोरिया में साम्यवादी सरकार स्थापित करने के ख़याल से दंगा कर दिया था परन्तु सफल नहीं हुए।

कोरिया सोवियट सरकार और जापान के बीच में है। सोवियट सरकार से उसे मदद मिलने की आशा है। यदि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति का फ़ायदा उठाना उसने सीख लिया और उसके लिए थोड़ी शक्ति इकट्ठी कर ली तो उसका स्वतंत्र हो जाना कठिन नहीं है। जिस तरह अफ़ग़ानिस्तान अंग्रेज़ों के पंजे से निकल गया कोरिया भी जापानियों के पंजे से निकल जा सकता है परन्तु अभी अफ़ग़ानिस्तान जितनी भी उसमें शक्ति नहीं है। उसी शक्ति की प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न कर रहा है। कोरियन देखने लगे हैं कि उनके यहाँ के सभी जापानी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक धनी हैं। अपने देश में ही कोरियन लोगों की अवस्था पानी भरनेवालों और लकड़ी फाड़नेवालों से अच्छी नहीं है। जापानियों के साथ अपनी तुलना करने पर उनमें उन्नति करने का भाव स्वभावतः ही आ जाता है इसीलिए वह जापानियों के खिलाफ़ विद्रोह कर दिया करते हैं। जापान क्या कोरियनों की राष्ट्रीयता से झगड़ा करते हुए

अधिक दिनों तक उस पर कब्जा जमाये रखने में समर्थ हो सकेगा ?

उपर्युक्त छोटे-छोटे राष्ट्रों को देखते हुए भी हम लोगों को यही पता चलता है कि उनमें भी बड़े राष्ट्रों जैसे ही भाव काम कर रहे हैं। बड़े राष्ट्रों की ही तरह वे भी साम्राज्यवाद को अपना शत्रु समझते हैं और उसका नाश करने में प्रयत्नशील हैं।

[१०]

क्या जापान एशियायी राष्ट्रों का शत्रु है ?

एशियायी राष्ट्रों में जापान ही एक साम्राज्यवादी राष्ट्र है। उसने कोरिया पर दख़ल जमा लिया; चीन को बार-बार सताया करता है और एशिया के दूसरे राष्ट्रों पर भी अपनी वक्रदृष्टि लगाये रहता है परन्तु क्या केवल इन्हीं कारणों से वह एशियायी राष्ट्रों का शत्रु कहा जायगा ?

जापान की राष्ट्रीय आवश्यकताओं ने उसे आरम्भ में एशिया के दूसरे भाग पर अधिकार करने के लिए बाध्य किया था। जापानियों की जन-संख्या दिन-दिन बढ़ती जाती थी; उनका देश उतना बड़ा नहीं था कि सब का गुज़ारा वहाँ पर हो सके। अपनी आत्म-रक्षा के लिए उन्हें एशिया के दूसरे राष्ट्रों पर क़ब्जा करना आवश्यक प्रतीत हुआ। जापान के भी कारख़ाने बढ़ रहे थे, उसे भी कच्चे माल की आवश्यकता थी इसलिए भी उसे अपना राज्य-विस्तार करना आवश्यक प्रतीत हुआ। इन बातों के रहते हुए इतनी बात अवश्य है कि जापान ने अपने यहाँ के कुछ पूँजीपतियों के विशेष लाभ का ध्यान रखकर ही एशिया के दूसरे भागों पर क़ब्जा किया। जापान व्यवसाय-प्रधान देश हो गया था इसलिए वहाँपर पूँजीपतियों का एक वर्ग पैदा हो जाना स्वाभाविक था। संसार के दूसरे साम्राज्य-वादी राष्ट्र जिस समय एशिया में लूट मचा रहे थे उस समय

जापान ने भी उनका अनुकरण किया। जापान यदि अपना प्रसार पूर्वी एशिया में नहीं करता तो वे स्थान भी युरोपीय साम्राज्यवादियों के हाथ में चले जाते। यदि उस प्रकार की नीति जापान काम में नहीं लाता तो आज उसकी भी वही स्थिति होती जो और एशियायी राष्ट्रों की है। उसने साम्राज्यवादी नीति युरोपीय सभ्यता में ढल जाने के लिए नहीं अपनाई थी परन्तु अपनी वास्तविक स्थिति क़ायम रखने के लिए की थी।*

साम्राज्यवादी राष्ट्रों के धक्का लगने पर जापान ही सब से पहले सजग हुआ। वहाँ के 'सामुराई' लोगों ने जैसा त्याग किया उसका नमूना एशिया के दूसरे राष्ट्रों ने नहीं दिखलाया। उसके पड़ोसी चीन के 'तुखन' लोगों ने तो उसका विपरीत ही उदाहरण उपस्थित किया है। जापान ने अपने देश में सभी प्रकार के सुधार किये और युरोपीय राष्ट्रों की बराबरी का हो गया इसीलिए मजबूर होकर विदेशी लोगों को वहाँ से अपना

---

* लेखक के इन वाक्यों से जापान के प्रति उनके पक्षपात की ध्वनि निकलती है। जापान हो या और युरोपीय राष्ट्र, साम्राज्यवाद की नीति अपनाने पर सभी का एक ही रास्ता हो जाता है। कोई आदमी विलायती शराब पिये या देशी उसका नैतिक पतन तो दोनों ही अवस्थाओं में होना अनिवार्य है। जहां स्वार्थ का भाव इतना प्रबल हो कि दूसरों को भी कुचलकर बढ़ना चाहे वहाँ नैतिक मर्यादा की रक्षा की नहीं जा सकती। जापान का कर्त्तव्य तो यह था कि वह दूसरे एशियायी राष्ट्रों की उन्नति में सहायक होता पर वह उलटे बाधक हो रहा है। स्वार्थ के लिए न केवल चीन वरन् भारत की (व्यापारिक) उन्नति में भी उसने बाधा डाली है।

—सम्पादक

विशेषाधिकार उठा लेना पड़ा। जापान यदि सबसे पहले जागृत होकर अपने परिश्रम का फल उपभोग करना चाहता है तो एशिया के दूसरे राष्ट्रों को उससे ईर्षा नहीं करनी चाहिए। उन्हें भी अपनी रक्षा के लिए वैसा ही प्रयत्न करना चाहिए। जापान से उन्हें शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि अपना राजनैतिक सुधार कैसे किया जा सकता है?

जिस समय जापान एशियायी राष्ट्रों पर विजय प्राप्त करना चाहता था, उस समय भी अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें जागृत करने में ही सहायता पहुँचा रहा था। * महासमर के बाद से उसकी यही नीति रही है कि पूर्वी एशिया से अमेरिकन और युरोपियन लोगों को निकाल बाहर कर दिया जाय। वह एशियायी भूमि पर विदेशी साम्राज्यवादियों को और अधिक दिनों तक नहीं रहने देना चाहता। अपनी रक्षा के लिए वह अपने को सर्व-शक्तिशाली बनाना चाहता है। वह अपनी सीमा बढ़ाने के प्रयत्न में है। सबसे बड़ी आवश्यकता उसे इस बात की है कि वह अंग्रेज आदिकों की बराबरी का राष्ट्र मान लिया जाय। यदि विदेशी राष्ट्र उसे बराबरी का स्थान देने के लिए तैयार नहीं हैं तो वह उन्हें एक क्षण भी एशियायी भूमि पर नहीं टिकने देना चाहता।

वाशिंगटन कान्फ्रेंस के बाद से जापान अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में अकेला पड़ गया। इंग्लैंड के साथी रहने के कारण इंग्लैंड-जापान दोनों का ही फायदा था परन्तु वाशिंगटन कान्फ्रेंस की शर्तों

---

* पर इसमें जापान का कोई श्रेय नहीं है।   —सम्पादक।

के कारण जापान का इंग्लैंड के साथ सम्बन्ध नहीं रह गया।

'एशियाटिक इमीग्रेशन एक्ट'

१ जुलाई १९२४ से संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने क़ानून बना दिया कि वहाँ पर जाकर एशियायी नहीं बस सकेंगे। एशिया के और दूसरे भागों से वहाँपर बसने के लिए बहुत कम लोग जाते थे; जापान और चीन के ही अधिक आदमी जाते थे। अमेरिकन मजदूरों की अपेक्षा जापानी मजदूरों के रहन-सहन में बहुत कम खर्च होता था। इसलिए वे अमेरिकन मजदूरों के साथ प्रतिद्वंदिता करने लगते थे। अब अमेरिका में जापानियों का जाना बंद हो गया। इसलिए उसकी दृष्टि एशिया की ओर गई। पहले भी वह एशिया की ओर ध्यान देता था परन्तु इस समय से विशेष रूप से देने लगा। विदेशियों से लड़ने के लिए उसने एशियायी लोगों से मेल कर लेना चाहा। वर्साई की सन्धि के समय एशिया के सभी राष्ट्र अपमानित हुए थे परन्तु जापान की उस समय इज्ज़त हुई थी इसलिए जापानी समझने लगे थे कि उन्हें युरोपवालों ने अपनी बराबरी का मान लिया है परन्तु अमेरिका से निकाले जाने पर उनका भ्रम दूर हो गया। अब उन्हें पूरा विश्वास हो गया कि यदि वे अपने को संसार की दृष्टि में ऊंचा रखना चाहते हैं तो युरोपियन राष्ट्रों से नहीं बल्कि एशियायी राष्ट्रों से मिलकर रहना चाहिए। अमेरिका में क़ानून पास होते ही जापान में खलबली मच गई। वहाँपर उसके विरोध में सभाएँ होने लगीं।

सनयातसेन ने पहले ही जापानी लोगों से प्रस्ताव किया था कि अमेरिका और इंग्लैंड को निकालने के लिए रूस, जापान और चीन को मिल जाना चाहिए। इस समय जापानियों ने

उनकी बातों पर ध्यान दिया और उसे काम में लाने की चेष्टा करने लगे। जापान ने अपने तैयार माल की खपत करने के लिए तुर्की से व्यापारिक सन्धि करली। फ़ारससे भी उसकी सन्धि हो गई। रूस से भी सन्धि की बातें चलने लगीं और उससे भी सन्धि हो गई। इससे जापानियों का लाभ हुआ। साखालिन की खानों का अधिकार जापान को मिला। वहाँ के पचास प्रतिशत तेल पर अमेरिकन कम्पनी अपना अधिकार बतलाती थी, वह भी जापान को दे दिया गया। साखालिन के पश्चिमी तट की कोयले की खानों का भी अधिकार जापान को ही मिल गया। रूसी सरकार ने कोयले और तेल का कुछ प्रतिशत अपने लिए निश्चित करा लिया।

एशिया की ओर—

इंग्लैंड के लिए रूस-जापान सन्धि एक बहुत बड़ा धक्का था। जापान अब चीन में भी इंग्लैंड का स्थान स्वयं प्राप्त कर लेने की चेष्टा करने लगा। इसी समय अखबारों में यह भी अफ़वाह उड़ गई थी कि जापान और रूस ने आपस में यह समझौता कर लिया है कि इंग्लैंड, फ्रांस वा अमेरिका चीन पर चढ़ाई करें तो रूस दो लाख सैनिक और जापान उनके लड़ने के लिए पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र देगा। इंग्लैंड-स्थित जापानी राजदूत ने इसे झूठा बताया।

१९२७ के आरम्भ में टोकियो में चीनी राष्ट्रीय दूत और जापानी परराष्ट्र-विभाग से बातचीत हुई थी। जापानी पत्रों ने इस समय प्रकाशित किया था कि यांगत्सीक्यांग में जापान को बहुतसी सुविधाओं के साथ रेल बनाने की भी सुविधा दी गई

है। इन सभी बातों का यही मतलब था कि जापान एशियायी राष्ट्रों से मिलकर विदेशी लोगों को एशिया से निकाल देना चाहता है। इन बातों पर ध्यान देते हुए हम लोग नहीं कह सकते कि जापान एशियायी राष्ट्रों का शत्रु है।

हम और भी कितने प्रकार की विभिन्नताएँ एशिया के दूसरे राष्ट्रों और जापान में देखते हैं जिससे उसे अपना शत्रु समझते हैं। आज एशिया में प्रजातन्त्र की पुकार मच रही है परन्तु जापान प्रजातन्त्र का पक्षपाती नहीं है। वह समझता है कि प्रजातन्त्र के सिद्धान्त प्राकृतिक नियमों के खिलाफ़ हैं। अमेरिका आदि में नाम-मात्र का प्रजातन्त्र है; वहाँपर अधिक से अधिक डालरों पर अधिकार रखने वालों की ही चलती है। वहाँ प्रजातन्त्र नहीं डालरतन्त्र है। प्रजातन्त्र शासन में राज्य की शक्ति राजतन्त्र जैसी संगठित नहीं रहती। दूसरे एशियायी राष्ट्र आँख मूँदकर पाश्चात्य देशों का अनुकरण करना चाहते हैं परन्तु जापान आँखें मूंदकर विदेशियों की नकल नहीं करना चाहता इसीलिए वह प्रजातन्त्र का माननेवाला नहीं है परन्तु इससे उसका एशियायी राष्ट्रों का शत्रु होना सिद्ध नहीं होता।

जापान साम्यवादी विचारों का भी कट्टर विरोधी है। उसने अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति से लाभ उठाने के लिए सोवियट सरकार से सन्धि की परन्तु अपने देश में साम्यवादी विचारों को फैलने देना नहीं चाहता। जापान भी शिल्प-प्रधान तथा साम्राज्यवादी देश है इसलिए मजदूर और धनीवर्ग का झगड़ा वहाँ भी स्वभा-वतः खड़ा हो जाया करता है। परिस्थिति अनुकूल होने के कारण साम्यवादी विचारों का भी प्रचार वहाँ रुक नहीं सकता।

इसीलिए वहाँ पर भी एक साम्यवादी दल खड़ा हो गया है। उसे दमन करने के लिए जापान ने अक्तूबर १९२८ में पाँच सौ आदमियों को गिरफ्तार कर लिया था। उन लोगों में अधिकांश विद्यार्थी ही थे। विद्यालयों में विद्यार्थी साम्यवादी विचारों के न हो जायँ इसका भी जापान काफ़ी ख़याल रखता है। एशिया के दूसरे राष्ट्र साम्यवाद का आवाहन करते हैं और जापान साम्यवाद का शत्रु है इसीलिए जापान को एशियायी राष्ट्रों का शत्रु नहीं कह बैठना चाहिए। एशिया के दूसरे राष्ट्र विदेशी साम्राज्यवाद के आतंक से भयभीत हो उठे हैं इसीलिए वे साम्यवाद का आवाहन करते हैं। यदि वे विदेशियों से छुटकारा पा जायँ तो संभव है साम्यवाद के वैसे पक्षपाती न रह जायँ जैसे अभी हैं। तुर्की और फारस का उदाहरण सामने है। जापान अपने देश के वर्तमान समाज-संगठन को बदलना नहीं चाहता इसीलिए वह साम्यवाद का विरोधी है। सभी बातों पर ध्यान से विचार करने पर यही मालूम पड़ता है कि जापान एशियायी राष्ट्रों की स्वतंत्रता में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित करना चाहता।

नवीन भाव और उनकी प्रगति।

वर्तमान समय एशिया के इतिहास में बड़े ही महत्व का समय है। युरोप के इतिहास में सुधार और पुनरुत्थान के समय का जैसा महत्व था एशिया के वर्तमान समय का भी ठीक वैसा ही महत्व है। आज सारा एशिया एक सिरे से दूसरे सिरे तक जागृत हो उठा है। अपने को साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसा हुआ देखकर वन्धन तोड़ने के लिए वह भगीरथ प्रयत्न कर रहा है। पुराने विचार, पुरानी रीतियाँ अव अतीत की घटनाएँ वनती जा रही हैं। एशिया आज आलस्य त्यागकर अपनी कायापलट कर रहा है। इस समय उसके भीतर जो भाव-लहरी उठी है उसका दृष्टांत एशिया के प्राचीन से प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में खोजने से भी नहीं मिलेगा। अपने को संगठित करने के लिए राष्ट्रीय महासभा, समाज-सभा, आर्थिक सभा, विज्ञान-परिषद, महिला-परिषद, आदि सभाएँ आये दिन हुआ करती हैं। युवकों में सुधार करने के लिए युवकसंघ, स्वयंसेवकदल, वालचर-विभाग दिन-दिन खुलते जा रहे हैं। भारत में कायस्थ-सभा, मारवाड़ीसभा, अग्रवाल-सभा आदि अलग-अलग अपना समाज-सुधार कर रहीं हैं। अछूतोद्धार, दलितोद्धार, शुद्धिसभा आदि भी पीछे नहीं हैं। इन सव से वड़ी

सुधार का कोलाहल

हिन्दूसभा, जमायतुलउलमा आदि हैं जो बड़े पैमाने पर सुधार करना चाहती हैं। देशी वाणिज्य, देशी वस्त्र, देशी बैंक, देशी-बीमा कम्पनियों की धाक दिन-दिन बढ़ती जाती है। ग्राम्य-संगठन की आवाज भी धीमी नहीं है। इन सभी सुधार और संगठनों का कोलाहल इतना अधिक है कि इन सब में किसी प्रकार की समानता भी है वा नहीं, यह जानना कठिन हो गया है। इन सब का उद्भव एक ही समय में, एक ही परिस्थिति में, एक ही प्रकार की शक्ति के दबाव डालने से हुआ है इस-लिए इन सब में किसी न किसी बात में समानता रहना आव-श्यक है। ये इतने सभी सुधार और संगठन किसलिए किये जा रहे हैं? इनकी क्या आवश्यकता है? इन सभी सभाओं और परिषदों से कौन-सी एक आवाज निकल रही है?

इन सभी सुधारों की विशेषता यह है कि सभी आधु-निकता की ओर बढ़ना चाहते हैं। इनमें कोई भी लकीर का फ़क़ीर बने रहना नहीं चाहता। सारा एशिया नई आशाओं, नये ख़यालों से इसीलिए भर जाना चाहता है जिसमें वह विदेशी लोगों का अस्त्र न बना रह जाय। वह सब-कुछ अपने लाभ का विचार करके करना चाहता है।

वर्तमान समय में राजनैतिक विचारों का जोर एशियायी लोगों में जितना अधिक है उतना धार्मिक विचारों का नहीं है। मुसलमान सदा से धर्म की कट्टरता के लिए प्रसिद्ध हैं परन्तु उनमें भी महान् परिवर्तन हुए हैं। धार्मिक जगत् से खलीफ़ा का अस्तित्व उठा देना विचार-धारा में कुछ कम परिवर्तन का कार्य नहीं है। एक देश के मुसलमान दूसरे देश के मुसलमानों

से मिलना चाहते हैं, इसका खास कारण धार्मिक एकता नहीं परन्तु साम्राज्यवाद के खिलाफ दलवन्दी है। चीन में ईसाई लोगों के खिलाफ़ भाव बहुत प्रबल हो रहा है इसका भी कारण धार्मिक नहीं है। राष्ट्रीय सरकार विद्यार्थी-जीवन को राष्ट्रीय-जीवन का एक मुख्य अंग समझती है। वह समझ गई है कि ईसाई स्कूलों में पढ़ने से लड़के केवल राष्ट्रीयता के भावों के प्रतिकूल विचारों के ही नहीं हो जाते बल्कि साम्राज्यवाद की पुष्टि करनेवाले भी वन जाते हैं। मिशनरी स्कूलों में पढ़नेवाले लड़के यदि चीनी साहित्य को भुला नहीं देते तो उसके महत्व को कम तो अवश्य ही कर देते हैं। वे जितना महत्व अंग्रेजी साहित्य को देने लगते हैं उतना चीनी साहित्य को नहीं देते, इससे देशमें विदेशी सभ्यता का प्रचार हो जाता है। इन्हीं कारणों से चीन की राष्ट्रीय सरकार ने मिशनरी स्कूलों को अपना पाठ्य-क्रम मानने के लिए मजबूर किया है। पादरियों से घृणा का भाव रहने का एक खास कारण यह है कि वे ही लोग साम्राज्यवाद के अग्रदूत होते हैं। उनके पीछे-पीछे ही साम्राज्यवाद के साथ आनेवाली सभी चीजें पहुँचती हैं और देश को गुलाम वना लेती हैं। भारतवर्ष में हिन्दुओं से मुसलमान चिढ़ते हैं, इसका एक-मात्र कारण यह है कि वे लोग सभी क्षेत्रों में अपने को हिन्दुओं से कम शक्तिशाली पाते हैं। जो हिन्दू-सभा स्थापित हुई, उसका मुख्य उद्देश हिन्दुओं में शक्ति लाना ही था, मुसलमानों के खिलाफ काम में लाने के लिए नहीं वरन् अंग्रेजी साम्राज्यवाद को हटाने के लिए। अंग्रेज शासक इस वात को जानते हैं। इसीलिए मुसलमानों में राष्ट्रीयता का भाव

कम होने के कारण वे उनका उपयोग अपनी नीति के प्रयोग में कर लेते हैं। विगत दस वर्षों से तो उन्हें हर बात में प्रधानता दी जाती है।

साम्राज्यवाद का आतंक जैसे-जैसे बढ़ता गया लोग एकता की ओर झुकते गये। समाज के नीच वर्ग के लोगों से पहले लोग जितनी घृणा किया करते थे अब उतनी नहीं करते। गांधी के जोर देने के कारण हिन्दू-जाति अस्पृश्यता को दूर करने के लिए कमर कसकर खड़ी हो गई है। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए भी प्रयत्न हो रहा है। अब धार्मिक लड़ाइयों के दिन बीत गये। अब लोगों में साम्राज्यवाद के आतंक के कारण राष्ट्रीयता का भाव आ रहा है। सारे एशिया में यदि सबसे तीव्र पुकार आज कोई मच रही है तो वह यही है कि 'क्या यह हमारा देश नहीं है? क्या यहाँ पर स्वतंत्र रूप से रहने का हमारा अधिकार नहीं है? यदि हमारा देश आज आर्थिक साम्राज्यवाद के बंधनों से जकड़ा हुआ है तो हम लोग भी मशीन लेकर, विज्ञान के आविष्कारों का उपयोग कर अपने देश को धन-धान्य सम्पन्न क्यों न बनावें? विदेशियों को क्या अधिकार है कि वे हमारे देश में आकर लूट मचावें? उन्हें क्या अधिकार है कि वे हमारा ही खून बहाकर हमारे ही देश-भाइयों को गुलाम बनावें? क्यों न उनके विरुद्ध हम सभी एशियावासी एक हो जायँ?'

राष्ट्रीयता का भाव

साम्राज्यवादियों का आतंक इतना अधिक बढ़ गया है कि न केवल एशिया वरन् युरोप आदि देशों में भी इसका विरोध जोरों से आरम्भ हो गया है। १९२७ में ब्रसेल्स में अन्तर्राष्ट्रीय

साम्राज्यवाद-विरोधिनी कांग्रेस(League Against Imperialism) की स्थापना हुई। इस संस्था का मूल उद्देश है साम्राज्यवाद की सभी विरोधी शक्तियों को एक सूत्र में बाँध देना। साम्राज्यवादियों की संगठित शक्ति से लड़ने के लिए साम्राज्यवाद की विरोधी शक्तियों का संगठन अत्यन्त आवश्यक है। इस संस्था का उद्देश यह है कि उपनिवेशों में साम्राज्यवाद के खिलाफ़ जो लड़ाई चल रही है वह जारी रहे और दिन-दिन वृद्धि करती जाय। इस संस्था का अंग्रेज साम्राज्यवादी कट्टर विरोध करते हैं, वे इसके विषय में झूठी खबरें उड़ाते हैं। कहते हैं—थर्डइंटरनैशनल इसका खर्च चलाती है और वही इसका नियन्त्रण भी करती है। अंग्रेज साम्राज्यवादी इसके विरोधी हैं, इसका कारण यह है कि भारतीय राष्ट्रीय महासभा तथा भारतीय व्यवसायी संघ की कांग्रेस इस संस्था मे शामिल हैं। एशिया के और दूसरे स्थानों की भी संस्थाएँ इसमें शामिल होकर बाहर-भीतर दोनों ही तरफ से प्रयत्न कर साम्राज्यवाद का ध्वंस कर देना चाहती हैं।

साम्राज्यवाद का विरोध

साम्राज्यवादियों को एशियायी लोगों की ये प्रवृत्तियाँ अच्छी नहीं लगतीं। वे उन्हें रोकने का प्रयत्न करते हैं; जब नहीं रोक सकते। तब कहने लगते हैं—'अच्छा! जितना बढ़ गये उतना ही बस है। अब और आगे नहीं बढ़ना!' परन्तु उन लोगों के रोकने से एशियायी लोगों की प्रगति रुकती नहीं। साम्राज्यवादी उसे बोल्शेवी लोगों का असर समझते हैं परन्तु वास्तव में वह किसी का भी असर नहीं है। हाँ, साम्यवादी भावों ने रास्ते में आकर सहायता अवश्य दी है। एशिया में स्वतन्त्र होने की

भावना कार्य कर रही है। साम्राज्यवाद का धक्का लगने से इस भावना का जन्म लेना स्वाभाविक ही था। अब एशिया का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं बचा है जो अपने को विदेशी लोगों के चंगुल से मुक्त हुआ न देखना चाहता हो।

स्वतन्त्र होने के लिए सभी एशियायी राष्ट्र एक सूत्र में बँध जाना चाहते हैं। इसी प्रयत्न के लिए एशियायी सम्मेलन भी हुआ करते हैं। इसकी सबसे पहली बैठक १९२६ के अन्त में जापान में हुई थी। इस सम्मेलन में एशियायी लोगों ने एक होकर युरोपियन लोगों का सामना करना चाहा था। दूसरी बैठक १९२७ में शंघाई में हुई थी। चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिंगटांग ने इसका समुचित स्वागत किया था। उसी अधिवेशन में इस सभा ने निम्नलिखित उद्देश अपने लिए निर्धारित किये थे:—

एशियायी संघ

१. किसी भी प्रकार का दबाव किसी पर डाला जाना अनुचित है। व्यक्तियों तथा समाज को अपनी उन्नति करने तथा मनुष्य-मात्र की उन्नति करने में पूर्ण स्वाधीनता मिलनी चाहिए।
२. मनुष्य मात्र के लाभ की दृष्टि से यह सभा एशियायी राष्ट्रों में एकता प्रस्थापित करने का प्रस्ताव पास करती है जिसमें ;वे सब मिलकर अपनी रक्षा कर सकें।

सभी एशियायी राष्ट्र मनुष्यता की सेवा कर सकें, इस उद्देश्य से अपने को तैयार रखने के लिए इस सभा ने निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये:—

१. एक ऐसा शिक्षा का केन्द्र हो जहाँ एशिया के सभी लोग पढ़ सकें।

२. एशियायी संघ की स्थायी सभा को एशिया की उन्नति करनेवाले आन्दोलनों का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।

३. अमेरिका और रूस की सहानुभूति तथा जापान के हाथ बंटाये विना चीन की अवस्था में सुधार नहीं हो सकता।

एशियायी संघ से रूस की सदा सहानुभूति रही है। वहाँ के एक प्रमुख राजनीतिज्ञ ने इस संघ के विषय में अपना विचार प्रदर्शित करते हुए कहा था—'अपनी आर्थिक और राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए एशियायी राष्ट्र जो कोई भी आन्दोलन करते हैं उसमें रूस सदा सहायता करता आया है और भविष्य में भी करता रहेगा। एशियायी संघ के उद्देश अभी तक विलकुल साफ नहीं रहे हैं। एक प्रभावशाली संस्था वनने के लिए उसे अपनी यह कमी दूर कर देनी चाहिए'।

प्राच्य देशों में राष्ट्रीयता का इतना जबर्दस्त भाव पहले नहीं था। जिस समय यहाँ के राष्ट्र संसार में सबसे उन्नत थे उस समय भी यहाँ के लोगों में 'वसुधैव कुटुंबकम्' के ही भाव काम किया करते थे। वे अपने को किसी एक देश के साथ मिला नहीं देते थे। सोते, जागते, उठते, बैठते विश्व को अपना समझने का भाव उनमें काम करता रहा है। युरोपीय देशों को तरह उनमें स्वार्थ-परता नहीं थी। पीछे इसके दुरुपयोग और अन्य भावों के असामञ्जस्य से उलटा फल हुआ और यह भी यहाँ के राष्ट्रों की गुलामी का एक कारण हो सकता है परन्तु इसी कारण से ऊँचे विचारों को तिलांजलि नहीं दी जा सकती। मनुष्य

का धर्म स्वार्थ-भाव को दिन-दिन कम करते जाना है।

धक्का लगने पर प्राच्य देश युरोपीय आदर्श और व्यवहार की ओर बड़ी ही द्रुत गति से झुकते जा रहे हैं। उनकी नक़ल में उन्होंने राष्ट्रीयता का भाव भी अपना लिया है। अब इन देशों के नवयुवकों के भीतर भी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के भाव आ गये हैं। विदेशी शक्ति की जड़ अपने देश से उखाड़ फेंकने के लिए वे भी पाश्चात्य ढंगों को अपनाते हैं। रूस ने जिस प्रकार से स्वतंत्रता प्राप्त की, यहाँ के लोग भी उसी प्रकार से प्राप्त करना चाहते हैं। विदेशियों के आतंक से अपने को बचाने के लिए उनका ढंग अपनाकर काम करने से उन्हें सफलता भी मिली है और भविष्य में भी मिलने की आशा है।

रूस का प्रभाव

रूस और एशियायी राष्ट्रों के विचारों में बहुत-कुछ समानता है। एशियायी विचारों को रूसी विचार सहायता पहुँचाते हैं इसीलिए एशियायी राष्ट्र रूस की ओर बहुत आकर्षित हुए हैं। आज हम एशिया के कसी भी आधुनिक स्कूल वा कालेज में जायँ जोशीले विद्यार्थियों को बातचीत करते समय हम पग-पग पर लेनिन का नाम लेते हुए सुनेंगे। विद्यार्थियों के मन पर फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने और उससे भी अधिक रूस की राज्यक्रान्ति ने अपना प्रभाव डाला है। विद्यार्थियों को जब कभी किसी आदर्श राज्य-प्रणाली का वर्णन करना होता है तो वे सोवियट संस्थाओं का वर्णन किया करते हैं। आधुनिक युग का सब से बड़ा आदमी उनके विचार में लेनिन ही है। उनका यदि बस चले तो वे भारतवर्ष में भी सोवियट ढंग की ही राज्य-प्रणाली स्थापित करें।

केवल शिक्षित समाज ही नहीं बल्कि अनपढ़ जनता भी रूस की राज्यक्रान्ति से अनभिज्ञ नहीं है। वह भी समझती है कि जैसे अंग्रेजों की लड़ाई जर्मनी से हुई थी वैसे ही रूस से भी होगी। रेलवे स्टेशनों से अनेक मील दूर के गाँवों में रहनेवाले कितने आदमी किसी पढ़े-लिखे आदमी को रास्ते से जाते हुए देखते हैं तो बड़ी उत्सुकता से उनसे सुनने की कोशिश करते हैं कि रूस और अंग्रेजी सरकार में कबतक लड़ाई छिड़नेवाली है ? वे अंग्रेजों द्वारा दबाये जाते हैं, कर का बोझ उनपर बढ़ता ही गया है इसलिए वर्तमान सरकार के अन्त की वे सदा प्रतीक्षा किया करते हैं।

कुछ देर के लिए हम लोग अंग्रेजों के भारतवर्ष में आने के पहले की स्थिति को अपनी आंखों के सामने लावें। उस समय प्रत्येक गाँव अपने ही ऊपर निर्भर करता था। वहाँ के खेतों से जो उपज होती थी वही लोग खाते थे। गांव के जुलाहे कपड़ा बुन दिया करते थे, वही कपड़ा लोग व्यवहार करते थे। खेतों में ही तीसी, सरसो, रेंड़ी आदि की उपज हो जाती थी उससे लोग तेल निकाल लिया करते थे; वही तेल लोगों के लगाने और जलाने के काम में आता था। गाँव में ही लुहार रहा करता था जो कृषकों के लिए औजार तैयार कर दिया करता था। गाँव का नाई लुहार के यहाँ से अस्तुरा बनवा लेता और उसी से लोगों की हजामत बना दिया करता था। लोगों के लिए मोची ही जूते तैयार कर दिया करता था। गाँव का ही धोबी लोगों के कपड़े रेह मिट्टी से साफ कर दिया करता

भारत के वे स्वावलम्बी गांव !

था। खेतों में ही तम्बाकू पैदा कर लिया जाता था जिसका लोग उपयोग किया करते थे। कुछ चीजें अवश्य ही ऐसी थीं जिनके लिए बड़े-बड़े नगरों पर निर्भर करना पड़ता था। पीतल वा किसी और धातु के बर्तन प्रत्येक गाँव में तैयार नहीं किये जा सकते थे इसलिए लोग उन्हे बड़े-बड़े नगरों से खरीद लाया करते थे। खाने का नमक बाजार से ही खरीदना पड़ता था। जानवरों के खिलाने का नमक गाँव के नोनियाँ ही तैयार कर लिया करते थे। गाँवों के बच्चों के लिए गाँवों की ही बकरियाँ अथवा गाएँ दूध दे दिया करती थीं। लोगों को मक्खन आदि के लिए दूसरों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता था। एक वाक्य में यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक गाँव के लोग अपनी आवश्यकताओं के लिए दूसरों पर आश्रित नहीं रहा करते थे।

अंग्रेजों के आने पर अवस्था बिल्कुल ही बदल गई। गाँव अपनी आवश्यकताओं के लिए पूर्णरूप से अपने ही देशों के नगरों पर नहीं परन्तु बहुत दूर तक विदेशों पर आश्रित हो गये हैं। विदेशी चीजों का बहुत अधिक प्रवेश गाँवों में नहीं हुआ फिर भी उनमें महान् परिवर्तन हो गया है। भारतवर्ष के शहर पूर्णरूप से विदेशी हो गये। वहाँ की दूकानों में अधिकतर चीजें विदेशों से ही आई हुई रहती हैं। अब केवल शहरों में ही नहीं परन्तु कितने गाँवों में भी बच्चों को पिलाने के लिए हार्लिक्स इत्यादि के जमे दूध विदेशों से आया करते हैं। बच्चों को खिलाने के लिए मेलिन्स फूड, ग्लैक्सो आदि भी विदेशों से ही मँगाये जाते हैं। बड़े लोगों के उपयोग के लिए भी भारतवर्ष से भेजे गये गेहूँ व जव आदि

अब के गाँव

से तैयार कर लंडन से हंटली पामर बिस्किट, राबिसन वार्ली हिन्दुस्तान में आता है। जलपान के लिए अमेरिका से क्वेकर ओट्स तैयार कराकर मंगाये जाते हैं। डेन्मार्क से तैयार बना-बनाया मक्खन आता है।* नमक तथा चीनी कितने जहाजों में भर-भर कर भारतवर्ष में विदेशों से आते हैं। जलाने का तेल अमेरिका तथा इंग्लैंड की कंपनियाँ भेजा करती हैं। लैवेंडर, पियर्स आदि साबुन तथा खुशबूदार तेल विदेश से ही आते हैं। अब देशी मोचियों की आवश्यकता केवल जूतों के टूट जानेपर सुधारने के लिए ही रह गई। फ्लेक्स, अल्बर्ट तथा सैंडो आदि की बूट-कंपनियाँ लोगों के लिए जूते तैयार करने लगीं। गाँव के नाई अब विदेशी अस्तुरों से लोगों की हजामत बनाने लगे। शहरों के कुछ लोग वैलेट तथा अन्य सेफ्टी अस्तुरों के बिना अपनी हजामत बना ही नहीं सकते। चाकू, पेंसिल, छुरे, दावात, बच्चों के खिलौने आदि विदेश से ही बनकर आते हैं। भारत-वर्ष में कितने शौक़ीन ऐसे भी निकल पड़े थे जिनके कपड़े पैरिस से धुलकर आया करते थे। मनिला की तम्बाकू के बिना शौक़ीनों का जी न भरता। देशी वर्तनों के स्थान पर जर्मनसिल्वर और क्राउन मार्के के विदेशी अल्म्युनियम के वर्तन बिकने लगे। ठाकुरजी पर चढ़ाने के लिए कट्टर से कट्टर पुजारी भी मैंचेस्टर की मिलों के कपड़े व्यवहार करने लगे। जुलाहों की आवश्यकता नहीं रह गई, उनके बदले लंकाशायर, मैंचेस्टर

* जब से स्वदेशी आन्दोलन चला है ये सभी चीजें स्वदेश में बनी हुई भी मिलने लगी हैं। —सम्पादक।

और जापान की मिलें भारतवर्ष से रुई ले जाकर कपड़े तैयार कर दिया करती हैं। कट्टर से कट्टर भक्त विदेशों की छपी हुई रामनामी चादर व्यवहार करते हैं। देशी रंगरेज और छपेरियों का काम अब नहीं रहा। ऐलीजरीन, जर्मन के नैपथल और ऐनेलाइन उनका काम कर दिया करते हैं। अपने घरों के सजाने में विदेशी शीशे और घड़ियों के बिना काम नहीं चलता। हम लोग यदि ध्यान-पूर्वक देखें तो पता चलेगा कि हम रोज़मर्रे के इस्तेमाल में जितनी चीजें व्यवहार करते हैं उनमें अधिकतर चीजें विदेशी रहती हैं। यदि ऐसी ही अवस्था और कुछ दिनों तक रह जाय तो सम्भव है भारतवासियों के लिए भात और रोटियाँ भी विदेशों से ही बनकर आया करेंगी।

इन विदेशी वस्तुओं के आने का परिणाम यह हुआ कि देश दिन-दिन दरिद्र होता गया। अकाल सदा विकराल रूप धारण कर लोगों का गला दबाने लगा। रेलों के हो जाने से अकाल तो दूर हुआ ही नहीं, उलटे मलेरिया आदि बीमारियों ने अनेक प्रांतों में अपना घर बना लिया। देशी लोगों को काम न मिलने से बेकारी बढ़ने लगी। गाँवों के किसानों को कपड़े तथा दूसरी वस्तुओं के ख़रीदने में ही अपनी उपज का अधिकांश भाग दे देना पड़ता है। खेतों में समस्त दिन मेहनत कर, धूप, वृष्टि, जाड़ा सहनकर खेती करनेवालों को भी भर-पेट भोजन नहीं मिलता। रुई उपजानेवाले और कपड़ा बुननेवाले निपुण कारीगरों को कपड़े का अभाव प्रतीत होने लगा।

इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में दिन-दिन कारख़ानों की संख्या बढ़ती जाती है। यहाँ के पूंजीपति विदेशी पूँजीपतियों

से मिलकर कारखाने खोलते जा रहे हैं। सरकार भी क़ानून द्वारा उनकी जितनी सहायता कर सकती है करती जाती है। व्यवस्थापिका सभाओं में उनके लिए स्थान निश्चित कर देती है। पूँजीपतियों को विदेशी लोगों से मिल जाने से लाभ का थोड़ा भाग अवश्य ही मिल जाता है परन्तु मजदूर और किसानों का उससे कुछ भी लाभ नहीं होता। वे भूखों ही मरते हैं। एशिया के दूसरे देशों की अवस्था भी भारतवर्ष से अधिक अच्छी नहीं है।

साम्राज्यवाद के युग में पढ़े-लिखे लोगों की भी क़दर नहीं है। बहुत आशा लगाकर माता-पिता ख़ुद भूखों रहकर अपने बच्चों को सरकारी स्कूल-कालेजों में पढ़ाते हैं परन्तु उन में भी अस्सी-नब्बे प्रतिशत लोगों को काम नहीं मिलता। वे भी बेकार हो जाते हैं और भूखों मरते हैं।

क्षुधा की ज्वाला सब से अधिक भयानक होती है। उसके सामने परोपकार, पूजा-पाठ, देवी-देवता और ईश्वर तक भूल जाता है।

क्षुधा की ज्वाला

क्षुधा की ज्वाला ने एशिया को जागृत कर दिया। यहाँ के लोगों के लिए और अधिक अत्याचार बर्दाश्त करना असम्भव हो गया। लोग जागृत होकर अधिकार-प्राप्ति की चेष्टा में लग गये हैं। परन्तु अधिकार क्यों-कर प्राप्त करें? विदेशी लोगों की तोप-बन्दूक़ों के सामने टिकना अत्यन्त कठिन है। फिर भी वे चुप नहीं बैठे हैं। वे अपने को संगठित करने की धुन में लगे हैं। आज पढ़े-लिखे आदमी देहात के मजदूर और किसानों से मिल रहे हैं; उनमें जागृति पैदा कर रहे हैं। वे भी समझ गये हैं कि बिना उन लोगों की

सहायता के स्वराज्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। आज चारों तरफ यही कोलाहल मच रहा है कि 'गांवों की ओर फिर से मुड़ो।' जो क्रांतिकारी दल विदेशों से थोड़े अस्त्र-शस्त्र मंगाकर वा स्वयं बम, रिवाल्वर तैयार कर विदेशियों को अपने देश से निकाल देने के लिए तैयार हो रहा था वह भी आज उस रास्ते को अधिक उपयुक्त नहीं समझता। वह भी समझता है कि वास्तविक कार्य गाँवों में जागृति लाना है। क्रांतिकारियों में एक दल ऐसा हो गया है जो अपनी पुरानी नीति छोड़कर गाँवों में जा बैठा है।

गाँवों की ओर फिर से लौट चलने की आवाज का यही मतलब है कि लोग विदेशियों के चंगुल से अपना छुटकारा कर लें। इसका उद्देश यही है कि देश पुनः अंग्रेजों के आने के पहले की अवस्था का हो जाय। अब विदेशियों पर आश्रित रहकर भूखों मरना लोग नहीं चाहते। वे स्वावलम्बी बनना चाहते हैं, अपनी आवश्यकताओं की चीजें आप ही तैयार कर लेना चाहते हैं। रामराज्य अतीत में रहा हो वा न रहा हो परन्तु लोगों का विश्वास है कि जनता को सब से अधिक सुख रामराज्य में ही प्राप्त करने का अवसर मिला था। उसी रामराज्य की पुनः स्थापना करने का लोग प्रयत्न कर रहे हैं। अपने देश को वे पुनः पूर्वकाल के जैसा ही धन-धान्य से भरा बनाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि आधुनिक युग के साम्राज्यवादियों की तरह एशिया के राष्ट्र भी कहीं राक्षस न बन जायँ। वे पहले की तरह मनुष्यता के उपासक एवं मनुष्य-मात्र के मित्र बने रहना चाहते हैं।

अब लोग समझने लगे हैं कि स्त्रियों अथवा दलितों की अवस्था गिरी रहने से स्वराज्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। ये समाज के मुख्य अंग हैं। इनके पीछे पड़े रहने से समाज पीछे पड़ा रहता है; इन्हें छोड़कर समाज आगे नहीं बढ़ सकता। बच्चों पर सबसे अधिक प्रभाव माताओं का ही रहता है। बच्चे ही आगे चलकर राष्ट्रोपवन के खिले हुए फूल बनते हैं इसलिए यदि उनका सुधार करना है तो स्त्रियों का सुधार करना ही पड़ेगा। स्त्रियाँ भी मनुष्य हैं। पुरुष उन्हें सदा से दबाते आये। यहाँतक उन्हें दबाते गये कि उन्हें मनुष्य भी नहीं समझने लगे। इसी का परिणाम यह हुआ कि वे भी गिर गये। पुरुष आज उठना चाहते हैं इसीलिए वे स्त्रियों को भी उठाना आवश्यक समझते हैं।

स्त्रियों एवं दलितों का सुधार

अछूतों के साथ भी समाज बहुत बुरा व्यवहार करता आया है। इसका यह परिणाम हुआ कि हिन्दू-समाज दिन-दिन कमजोर होता जाता है। आज उसमें जागृति आई है इसलिए अपने अन्दर से इस पाप को वह निकालने में प्रयत्नशील है।

केवल घरेलू मामलों में ही नहीं परन्तु बाहर के मामलों में भी एशियायी राष्ट्र समझने लगे हैं कि उनका हित-अनहित किन-के साथ मैत्री-द्वेष रखने से सिद्ध हो सकता है! अंग्रेज और फ्रांसीसियों ने उनपर बहुत अत्याचार किये और सदा इसी प्रयत्न में रहे कि एशिया-वासियों को किस प्रकार से गुलाम बनाकर रखा जाय! एशियायी राष्ट्र इन लोगों से जहाँतक बच सकते हैं बचने की कोशिश करते हैं

सहानुभूति की दिशा

परन्तु संसार के किसी भी राष्ट्र से सम्बन्ध न रखकर वे जीवित नहीं रह सकते इसलिए उनका किसी न किसी के साथ सम्बन्ध रखना आवश्यक ही है। वे देख लेते हैं कि कौन राष्ट्र उनकी स्वतंत्रता में बाधक नहीं होता और उन्हें गुलाम बनाने की चेष्टा नहीं करता; उससे वे घनी मित्रता स्थापित करलेने की चेष्टा करते हैं और उसी की सलाह भी लेते हैं। रूस की अभी धाक अधिक नहीं है। उसे युरोपीय राष्ट्रों ने एक प्रकार से जातिच्युत-सा बना रखा है। रूस अवश्य ही आशा रखता है कि कुछ ही दिनों बाद युरोपीय राष्ट्र भी उसके ही समान हो जायँगे और इंग्लैंड ही जातिच्युत-सा हो जायगा। एशियायी राष्ट्रों को भी रूस की सफलता पर विश्वास है परन्तु दो कारणों से वे रूस से दिल खोल कर मिलने में डरते हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्रों से लड़ने की उनमें अभी काफ़ी शक्ति नहीं है; उनके विरोधी बन जाने से वे डरते हैं। दूसरे वे रूस को भलीभांति पहचान लेना चाहते हैं कि कहीं उसने साम्यवाद की चादर के भीतर साम्राज्यवाद तो नहीं छिपा रखा है? अमेरिका ने एशियायी राष्ट्रों के साथ बहुत-कुछ सहानुभूति प्रगट की है। उसका सहानुभूति दिखलाने का कारण युरोपीय राष्ट्रों से वैर-भाव रहना भले ही हो एशियायी राष्ट्रों को प्रत्यक्ष रूप में उसने नहीं दबाया है इसलिए एशियायी राष्ट्र उससे भय नहीं खाते। एशियायी राष्ट्रों में किसी राष्ट्र को अर्थ-सचिव आदि की आवश्यकता पड़ी तो अब वह अमेरिका से बुला लेना उतना खतरनाक नहीं समझता है। महासमर के बाद जर्मनी के हाथ से एशिया के सभी उपनिवेश निकल गये। एशिया के राष्ट्र अब समझते हैं कि जर्मनी की नीयत उनके

लिए हानिकर नहीं है इसलिए उससे भी अपना सम्बन्ध बनाये रखते हैं। चीन में चियांग-काई-शेक की सरकार ने जर्मनी के साथ केवल बराबरी की व्यापारिक सन्धि ही नहीं कर ली बल्कि अपने लिए बहुत-से जर्मन-सलाहकार भी रख लिये थे। फारस ने भी अपने यहाँ एक जर्मन आर्थिक सलाहकार रखा। अफ़ग़ानिस्तान के साथ भी जर्मनी का अच्छा सम्बन्ध है। एशि-यायी राष्ट्र अब दूसरों की सलाह लेने में भी सजग हो गये हैं। यह बात उनकी उन्नति में सहायक होगी।

साम्राज्यवाद ने चिरकाल तक अपना दास बनाये रखने के लिए एशिया के मानवीय भावों को नष्ट कर देने का प्रयत्न किया है। किसी को ग़ुलाम बनाने के लिए उसकी मनु-ष्यता छीन लेना, उसके आत्म-विश्वास और अन्तःप्रेरणा को नष्ट कर देना उसे ग़ुलाम बनाने का सब से बड़ा अस्त्र है। एशिया ने अपनी कठिनाई, अपनी बाधा जान ली है। वह फिर से मनुष्यता प्राप्त करना चाहता है। अपने उद्देश-पूर्ति के लिए चाहे जिस साधन का भी वह उपयोग क्यों न करे उसका लक्ष्य पुनः मनु-ष्यता प्राप्त करना ही है।

मनुष्यता की रक्षा के लिए एशिया का दासत्व से मुक्त होना परमावश्यक है। यहाँ की भूमि का प्रत्येक इंच एशियायी लोगों के अधिकार में रहना चाहिए। यहाँ के राष्ट्रों की राज्य-प्रणाली साम्यवादी, प्रजासत्तात्मक अथवा चाहे जिस ढंग की हो, उसे एशियायी लोगों के अधिकार में ही रहना चाहिए क्योंकि वैसा होनेपर ही संसार में शांति रहेगी और उस शांति से मनुष्य-मात्र का कल्याण होगा।

एशियायी राष्ट्रों में नवीन भावों की प्रगति देखते हुए मालूम पड़ता है कि वे शीघ्र ही मनुष्यता के सबसे बड़े शत्रु आर्थिक साम्राज्यवाद का पूर्णरूप से अन्त कर देंगे।

[१२]

आगे क्या है ?

एशिया में जिस प्रकार की लहर उठ रही है उससे दिन-दिन स्पष्ट होता जा रहा है कि अब संसार के सामने सबसे बड़ी समस्या यही रहेगी कि युरोप और एशिया का कैसा सम्बन्ध रहे ? महासमर के पहले जर्मनी की वृद्धि का प्रश्न इस प्रश्न की तुलना में कुछ भी नहीं है। एशियावासी समझ रहे हैं कि युरोप ने उनका सत्यानाश कर दिया है; वे उठकर रूस के नेतृत्व में दिन-दिन अधिक संगठित और शक्तिशाली होते जा रहे हैं। पूर्णरूप से शक्तिशाली हो जाने पर वे युरोप वालों से प्रश्न करेंगे—'बतलाओ ! तुम्हारे कृत्यों का तुम्हें क्या दण्ड दिया जाय ?'

आधुनिक पाश्चात्य जगत् ने संसार में किसी भी जीव का शांति से बैठना असम्भव बना दिया है। स्वार्थ आज उनमें नग्न रूप धारण कर नृत्य कर रहा है। वे रात-दिन दौड़ रहे हैं। इस दौड़ का अन्त कहाँ जाकर होगा, इसका स्वयं उन्हें भी कुछ पता नहीं है। उनकी नीति के लिए महासमर एक बहुत बड़ी ठोकर था परन्तु उससे भी वे सचेत नहीं हुए। अब भी वे उसी नाशक नीति को अपनाये हुए हैं। राष्ट्र-संघ धोखे की टट्टी है, जहाँ शान्ति की बातें होती हैं—ठीक उसी समय जब घर में जंगी जहाजों का निर्माण होता रहता है और सैनिक

व्यय बढ़ता जाता है। वे कहते हैं कि राष्ट्र-संघ का उद्देश संसार में शांति स्थापित करना है परन्तु वास्तव में वह उनकी कुत्सित नीति को ढककर उसका रूप और भी अधिक भयानक बना देनेवाली चीज़ है। राष्ट्र-संघ महासमर में विजयी राष्ट्रों के हाथों का पुतला मात्र है। भारतवर्ष तथा दूसरे राष्ट्रों पर ग्रेट-ब्रिटेन अपना अधिकार जमाये हुए है; लोगों को वह जबर्दस्ती अपने अधिकार में रखे हुए है, और दूसरी ओर संसार में शांति-स्थापन करने की बातें करता है। अमेरिका भी संसार में शांति-स्थापन करने की डींग हांकता है फिर भी फिलीपाइंस वालों को स्वतंत्रता की इच्छा रहते हुए भी उन्हें स्वतंत्र नहीं होने देता। वह और भी दूसरे देशों को व्यापार के ज़रिये दिन-दिन जकड़ता जाता है। फ्रांस और इटली भी उपर्युक्त राष्ट्रों से कम नहीं हैं। संसार के सीधे लोगों को ठगने के लिए साम्राज्यवादियों ने अपना गुट्ट बनाकर राष्ट्र-संघ का ढोंग रचा है।

थोड़े-से साम्राज्यवादियों की स्वार्थ-नीति के कारण सारा संसार तबाह हो रहा है। साम्राज्यवादियों ने गत महासमर में करोड़ों आदमियों को अपने लाभ की वेदी पर चढ़ा दिया और अभी उससे भी भयानक महासमर की तैयारी में लगे हैं। युरोप के लोग उससे बहुत अधिक तबाह हो रहे हैं। वहाँ के विचारक स्पष्ट रूप से देखते हैं कि युरोपीय शक्तियाँ आपस में ही लड़ती-लड़ती मर जायँगी। यदि यही हाल रहा तो अगले सौ वर्षों में वर्तमान पाश्चात्य जगत् का नामोनिशान भी शायद ही शेष रहे। इस भयानक विपत्ति से युरोप को बचाने के लिए वे प्राच्य

देशों की ओर मुख करके कहते हैं—'हे गांधी, हे तपस्वी ! इस ईर्षा, द्वेष और स्वार्थ के हल से कुरेदी हुई भूमि में प्रेम का बीज वो जाओ ।'

आज साम्राज्यवादियों के पैशाचिक अट्टहास से आकाश ऐसा गूँज रहा है; प्रत्येक देश, प्रत्येक जाति में विरोध, कलह और ईर्षा की प्रवृत्ति उसे ध्वंस करने के लिए ऐसा उग्र रूप धारण कर रही है कि मनुष्यता का श्वासावरोध होता जा रहा है। प्रकृति-लीला दर्शन करानेवाले वैज्ञानिकों को साम्राज्यवादियों ने अपने जाल में फँसा रखा है। उनकी ही सहायता लेकर आज वे विज्ञान को अपने अर्थ-लोलुप कलुप-स्पर्श से व्यभिचारी वना रहे हैं। आज प्रकृति का परदा खोलकर दिखलानेवाले विचार-शील वैज्ञानिक समझ रहे हैं कि उन्हें साम्राज्यवादियों ने कैसा धोखा दिया है। महासमर के वाद ही ब्रिटिश युद्ध-विभाग ने बहुत से वैज्ञानिकों को रासायनिक युद्ध-प्रणाली (Chemical Warfare) में वृद्धि करने के लिए बुलाया था। उस समय आमन्त्रित किये जाने वालों में एक आक्सफोर्ड के रसायन-शास्त्र के अध्यापक डा० फ्रेडरिकगौडी ने जाने से इन्कार किया क्योंकि वे समझते थे कि मरने-मारने में विज्ञान का उपयोग करना उसका व्यभिचार करना है।

वैज्ञानिकों के मुखपत्र 'नेचर' ने एक स्थान पर बड़े ही करुण शब्दों में प्रकाशित किया है—'हम लोगों ने विज्ञान की सहायता से एक दैत्य पैदा कर दिया है जो हम लोगों को ही खा डालेगा। विज्ञान-द्वारा उत्पन्न की गई वस्तुओं से युद्ध में सहायता लेना विज्ञान का व्यभिचार करना है। जोरदां (एक

प्रसिद्ध वैज्ञानिक) के शब्दों में विज्ञान का उद्देश मनुष्य की कार्य-प्रणाली, विचारशक्ति को उचित साँचे में ढालकर सभ्यता की उन्नति करना है परन्तु दुष्ट प्रकृतिवालों की दुष्टता कम करने की औषधि विज्ञान, शिक्षा वा अन्य उच्च वस्तुएँ नहीं हुआ करतीं।'

यदि साम्राज्यवादियों को विज्ञान की सहायता नहीं मिली होती तो न तो उनका आतंक ही इतना बढ़ सकता और न संसार में इस प्रकार से 'नाश' 'नाश' की आवाज़ ही सुनाई पड़ती। नैचुरल साइण्टिफिक यूनियन के सभापति लियोनार्ड वार्लटो ने एक स्थान पर कहा था—'हम लोगों में से कोई भी वैज्ञानिक आविष्कारों-द्वारा अपने स्त्री-पुत्रों की हत्या होने की बात से भयभीत हुए बिना नहीं रहेगा। अब मालूम पड़ता है कि संसार-भर की सरकारें विज्ञान का जिस प्रकार से उपयोग कर रही हैं, उससे वे मनुष्य-मात्र का मूलोच्छेद कर देने में भली-भांति सफल हो जायँगी। प्राणनाशक गैसों को ले जानेवाले वायुयान उन्नति के सूचक नहीं हैं, यदि वे ही डाक ले जाने, व्यवसाय बढ़ाने अथवा संकट के समय लोगों को बचाने के काम में लाये जायँ तो अवश्य ही मनुष्य का उपकार होगा।"

साम्राज्यवादियों ने विज्ञान का उपयोग कलह बढ़ाने में किया। यही कारण है कि आज उनके नाश का चित्र सामने अंकित दिखलाई देता है। हम लोग अपने नित्यप्रति के जीवन में दो प्रकार के मनुष्य पाते हैं। एक प्रकार के लोगों में आक्रमण करने का और दूसरे में सह लेने का भाव प्रधान रहता है। पहले मालूम पड़ता है कि आक्रमणकारी का

ही सहन करनेवाले पर प्रभुत्व है परन्तु कुछ ही दिनों बाद यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगता है कि सहन करनेवाला मनुष्य आक्रमणकारी को बाँध लेता है। आक्रमणकारी बहुत अधिक थका रहता है इसलिए उसे बँध जाने पर रोष नहीं होता। राष्ट्र भी ठीक इन्हीं दो प्रकार के विचारों के होते हैं। पाश्चात्य राष्ट्रों में आक्रमण-कारियों के समान गुण हैं; वे आक्रमण करते हैं। एशियायी राष्ट्र सहन करने वाले राष्ट्र हैं; वे आक्रमण सहन कर लेते हैं और धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ाकर आक्रमणकारी को अपने कब्ज़े में कर लेते हैं।

सारे मनुष्य-समाज की दृष्टि से सहन कर लेने का भाव ही लाभदायक सिद्ध होता है। कितने पाश्चात्य विद्वानों का तो यहाँ तक खयाल होने लगा है कि प्राच्य देशों के ही लोग जीवित बचेंगे। पाश्चात्य राष्ट्र उनपर कब्ज़ा जमाने के लिए ही आपस में लड़कर नष्ट हो जायँगे।

संसार के कल्याण के लिए स्वार्थ-त्याग करना ही पड़ता है। पाश्चात्य राष्ट्र थोड़ा भी स्वर्थ छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं इस-लिए उनके द्वारा मनुष्य-मात्र के कल्याण होने की आशा नहीं की जा सकती। सोते-जागते, उठते-बैठते उनके भीतर अपने स्वार्थ की पूर्ति का ही भाव काम करता है। यूरोपीय राष्ट्र अपना-अपना लाभ ही सदा देखा करते हैं। मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए विश्व-बन्धुत्व का भाव आवश्यक है पर इसका उनमें अभाव है।

दूसरी ओर एशियायी लोगों के भीतर बजनेवाली तंत्री एक श्लोक-द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है। भारतवर्ष

आदि राष्ट्र आज बहुत अधिक अवनति की अवस्था में हैं। अन्ध-विश्वास, अशिक्षा, दुर्भिक्ष आदि का साम्राज्य फैला हुआ है; फिर भी वैसे कष्ट की अवस्था में रहते हुए वे न केवल सारे संसार के मनुष्यों की ही वरन् छोटे से छोटे तिनके तक की मंगल-कामना किया करते हैं। वे ही अशिक्षित, क्षुधापीड़ित नित्य जपा करते हैं:—

'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥'

यहाँ पर सर्वे का अर्थ केवल भारतवर्ष अथवा समस्त संसार के मनुष्यों से ही नहीं बल्कि छोटी से छोटी वनस्पतियों से ब्रह्म तक, 'आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्तं जगत्' से है। पूर्वी राष्ट्रों के लोग संसार को अपने से अलग रखना नहीं चाहते; वे सबों को अपने शरीर का अंगभूत समझने की कोशिश करते हैं।

पूर्वी राष्ट्रों की अवनति के कारणों में सबसे बड़ा कारण उनका यही उदारभाव बतलाया जाता है पर यह लोगों की भूल है। सद्धर्म से सदा मनुष्य का अभ्युदय होता है, वह उसे नीचे कभी नहीं गिराता। फिर यहाँ हम लोगों को मनुष्यता की दृष्टि से विचार करना है। यों तो पशु भी अपना पेट भर लिया करते हैं, यदि मनुष्यों में ऊँचे आदर्श स्वार्थ-त्याग की प्रवृत्ति और उदारभाव नहीं रहे तो उनकी विशेषता ही क्या है? मनुष्य-समाज के कल्याण, उन्नति तथा मानवधर्म को जीवित एवं जागृत रखने के लिए उच्च आदर्शों का रहना अत्यन्त आवश्यक है। ये उदारभाव ऊपर से कभी-कभी दुर्बलता लानेवाले दिखाई पड़ते हैं पर यदि शान्त चित्त से विचार किया जाय तो ये दुर्बलता के

नहीं वल्कि महान् शक्ति के लक्षण हैं। आज रोम, युनान, मिश्र आदि की सभ्यता का नामोनिशान भी नहीं है परन्तु उच्च आदर्शों के ही कारण भारत और चीन की प्राचीन सभ्यता अभी भी अपना सिर ऊँचा किये हुए है।

अभी प्राच्य राष्ट्र पश्चिमी जगत् की चमक से चकाचौंध में पड़ गये हैं। वे उनका ही अनुकरण करना चाहते हैं परन्तु यह अनुकरण करना उनके स्वभाव के विरुद्ध है। वे पाश्चात्य सभ्यता को अपने भीतर लेलें यह सम्भव है परन्तु वे पाश्चात्य सभ्यता में ढल जायँ यह सम्भव नहीं है। जिस प्रकार संसार की एक महान् समस्या को हल करने का प्रयत्न कॉर्ल मार्क्स ने किया उससे कहीं अधिक उपयोगी एशियायी राष्ट्रों का प्रयत्न होगा। आज साम्राज्यवादियों ने मनुष्यता को रोगी कर रखा है, उसका समुचित उपचार एशियायी राष्ट्र ही कर सकेंगे।

एशिया में अभी क्रान्ति का युग है। जिस प्रकार रात्रि के व्यतीय होने पर दिन का आना स्वाभाविक है वैसे ही क्रान्ति के वाद संगठन का काल आना स्वाभाविक है। अभी एशियायी राष्ट्रों को सवसे वड़ी फ़िक्र इसी वात की लगी हुई है कि किस प्रकार वे साम्राज्यवाद के चंगुल से अपना पीछा छुड़ावें। युद्ध के समय कुशल सैनिक अपने खीमों को संसार के उत्तमोत्तम वस्तुओं से सजाने की कोशिश नहीं करता। भावी संगठन के विषय में, सामने आनेवाली समस्याओं के विषय में चीन, भारत वा अन्य किसी एशियायी राष्ट्र ने अपनी कोई खास नीति निर्धारित नहीं की है परन्तु इतना स्पष्ट है कि वे अपने निजी स्वार्थ के लिए अपने देश भाइयों का अथवा दूसरे राष्ट्रों का खून चूसना नहीं चाहेंगे।

साथ ही समाज का जो वर्तमान संगठन है उसे अधिक दिनों तक चलने देना भी पसन्द नहीं करेंगे। वे कभी ऐसा नहीं होने देंगे कि किसी मनुष्य के पास इतना अधिक धन हो जाय कि उसे उसका उपयोग ही नहीं मालूम और दूसरा ऐसा निर्धन हो कि उसे सारे दिन मिहनत करने पर भी दो पैसे न प्राप्त हों ! मनुष्य-समाज जितना अधिक बढ़ता गया है उसकी समस्याएँ उतनी ही जटिल होती गई हैं। इस समस्या को हल करने का प्रयत्न एशिया के किसी-किसी भाग में अभी से प्रारम्भ हो गया है। भारतवर्ष में चरखों का चलना फिर से आरम्भ हो गया है। चरखों की महत्ता इसी बात में है कि उनके रहने से उत्पत्ति केन्द्रीभूत नहीं हो पाती। उत्पत्ति केन्द्रीभूत न होने से असमानता बहुत अधिक नहीं बढ़ सकती। कल-कारखानों ने मजदूरों को मनुष्य कहलाने योग्य नहीं छोड़ा है। चरखे से उस प्रकार से मनुष्यता तिरस्कृत नहीं की जा सकेगी। यह सोचना ग़लत है कि वह अति प्राचीन प्रणाली है इसलिए उसे छोड़ दें। अत्यन्त विकसित और प्रारम्भिक अवस्थाओं की चीजों का बाह्यरूप एक-सा ही होता है। चरखा भी अत्यन्त विकसित है इसलिए उसका रूप अत्यन्त प्राचीन-सा दीखता है। भारतवर्ष में प्राचीनकाल में बड़े-बड़े यन्त्र चलते थे वा नहीं इसका विवेचन करने का यह स्थान नहीं है फिर भी इतना स्पष्ट है कि प्राचीन ग्रन्थों ने 'महायन्त्रप्रवर्तन' का विरोध किया है। सम्भव है उनसे आगे आनेवाली खराबियों का विचार करके ही उनका विरोध किया गया हो। भावी एशिया अपनी जो भी आर्थिक नीति अपनायगा उसके द्वारा सभी आर्थिक समस्याएँ हल करने का

प्रयत्न करेगा । वह अपने और दूसरे राष्ट्रों के कल्याण की दृष्टि से ही कार्य करेगा । सभी एशियायी देशों का शिल्प नष्ट,हो गया है परन्तु जीवित रहने के लिए वे अपने यहाँ शिल्प की वृद्धि अवश्य ही करेंगे । अपने यहाँ के कच्चे माल का आप ही उपयोग करेंगे । विदेशी उस समय किसी भी बहाने से उनपर अधिकार नहीं जमा सकेंगे ।

संसार के अधिकतर लोगों को महासमर के पहले पाश्चात्य सभ्यता के राक्षसी होने में कुछ सन्देह था परन्तु महायुद्ध के बाद उनका वह सन्देह भी जाता रहा । महासमर के बाद से प्राच्य देश पूर्णरूप से सजग हो गये हैं ।

एशिया के इतिहास में वर्तमान पाश्चात्य राष्ट्रों की तरह दूसरों पर आधिपत्य जमाने का भाव कभी नहीं रहा । समुद्रगुप्त-जैसे व्यक्ति साम्राज्यवादी थे परन्तु वे दूसरों से केवल बातों द्वारा अधीनता स्वीकार कराकर ही सन्तुष्ट हो जाते थे । वर्तमान समय की तरह अधीनस्थ लोगों के खून के प्यासे नहीं रहते थे । यदि हमें एशिया की वास्तविक प्रवृत्ति को पहचान लेना है तो यहाँ के महान् व्यक्तियों पर दृष्टि डालनी चाहिए । सामाजिक आचार-व्यवहार और उसके परिवर्तन होने के ढंग उन महान् व्यक्तियों के विचार और स्वप्नों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं हो सकते । एशियायी लोगों पर भगवान् बुद्ध तथा प्राचीन ऋषियों का बहुत अधिक प्रभाव है । यहाँ के लोगों के जितने भी कार्य होते हैं पैसे-रुपयों पर दृष्टि रखकर नहीं ! भगवान् बुद्ध अथवा प्राचीन ऋषियों का आदर करने वाला राष्ट्र कभी अपने भाइयों के खून से अपना हाथ कलंकित

करना पसंद नहीं करेगा।

क्रान्ति में सफल होने पर एशियायी राष्ट्रों में इतनी शक्ति रहेगी कि युरोपीय अथवा दूसरे राष्ट्र उन्हें गुलाम नहीं बना सकेंगे। अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण एशियायी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को गुलाम बनाने जायँगे ही नहीं। आज एशिया को भी मरने-मारने के लिए उद्यत देखकर हम लोगों को यह नहीं समझ लेना चाहिए कि वह भी पाश्चात्य राष्ट्रों की तरह खून का प्यासा है। एशियायी क्रान्ति शांति स्थापित करने वाली है। उसने क्रांतिकारी वेश में भीलों के तीर नहीं बल्कि शांति की मोहिनी बाँसुरी छिपा रखी है। जिस समय एशियायी राष्ट्र क्रान्ति में सफल होंगे वह वंशी बजने लगेगी। उस समय सभी मनुष्य दूसरे मनुष्यों को बराबरी का समझेंगे, उनमें समानता रहेगी। मनुष्य-मात्र के लिए वह सबसे अधिक सुख का समय रहेगा। उस समय चारोंतरफ शांति विराजेगी। एशियायी क्रान्ति मनुष्य-समाज के सामने आया हुआ प्रेम और शांति का संदेश है। आज सारे संसार की निगाह एशिया पर है। एशियायी क्रान्ति की सफलता और उसकी भावी नीति बतलायेगी कि आगे क्या है और वही निश्चित करेगी कि न केवल एशिया के परन्तु सारे संसार के, सारे मनुष्य-समाज के दिन कल कैसे हैं!

एशिया की क्रान्ति

[परिशिष्ट]

१—वर्तमान एशिया [ले०—श्री परिपूर्णानन्द वर्मा]

२—ईरान और ब्रिटेन [ले०—श्री रामनाथ 'सुमन']

[१]

वर्त्तमान एशिया

उपर्युक्त अध्याय लिखे लगभग चार वर्ष हो गये। तव से न जाने कितना जल गंगा में वह गया। एशिया के वक्षस्थल पर न जाने कितने भीषण, दुःखद तथा मनमोहक और सुखद नाटक खेले जा चुके। तीन वर्ष पूर्व जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी, ऐसी बातें भी घटित हुईं।

संस्कार-संघर्ष

एशिया के वर्त्तमान युग का स्मरण करते ही चीन का सब से पहले ध्यान आता है। इसका कारण है। भारत के बाद, सभ्य संसार का मुकुट-मणि चीन ही था। चीन में साम्राज्य का जो रूप था, वह तत्कालीन साम्राज्यों के लिए आदर्श था। मार्कोपोलो का यात्रा-विवरण पढ़ने पर यह ध्रुव-विश्वास हो जाता है कि सत्रहवीं सदी तक भी, युरोप का रोमन,—पवित्र रोमन—वाइजैण्टाइन—, फ्रेञ्च या जर्मन-साम्राज्य चीन के विशाल तथा सुसंघटित साम्राज्य के सम्मुख एक खिलवाड़ की वस्तु थी। इस समय, सव से ताजी गणना के अनुसार, संसार में ३६ करोड़ २० लाख रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के ईसाई हैं। इन ईसाइयों के धार्मिक संघटन के कारण ही आज संसार में इनका प्रभुत्व है, प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयों की संख्या जाने दीजिए। सत्रहवीं सदी में चीन लगभग ३७ करोड़ आवादी का 'बौद्ध-कनफ्यूसियस—ताओ' धर्मों का समन्वय कर, उनको समान

आदर से पूजनेवाला, एक आचार तथा संस्कारवाला राष्ट्र था—और दृढ़ ऐक्य तथा एक-छत्र सम्राट् के अधीन होने के कारण चीन का सम्मान और पद भारत से विशेष आगे बढ़ गया। क्रमशः चीन की शक्ति छिन्न-भिन्न हो गई। जिस समय चीन पर एक सम्राट् का शासन था, उस समय भारत कम से कम तीन टुकड़ों में बँटा हुआ था। अशोक भी पूरे भारत के स्वामी नहीं थे। जब चीन का पतन होने लगा, भारत अंग्रेजों की मजबूत मुट्ठी में आ चुका था। उधर एक विनष्ट साम्राज्य के पराजित वैभव पर अजीब लूट हो रही थी। युरोपीय राज्यों की वैसी ही दशा थी जैसे मरे शेर को देखकर स्यार उसकी लोथ के निकट निर्भय खड़े रहने में अद्भुत आत्माभिमान का अनुभव करते हैं, फिर भी लोथ ले भागने से डरते हैं! संभव है शेर जी उठे! चीन की सभ्यता तथा संस्कार का आतङ्क चारों ओर छाया हुआ था। विदेशी चीनी से भीतर ही भीतर डरते थे; उसकी सभ्यता के सामने अपने को छोटा समझते थे। फिर भी वे इतनी बड़ी शक्ति की दुर्बलता में वही सुख लूट रहे थे जो रोमन-साम्राज्य पर प्रभुत्व जमाने पर बर्बर जाति ने लूटा था। धीरे-धीरे चीन में विदेशी शक्तियों ने यह समझ लिया कि वे स्वच्छन्दतापूर्वक चीन को हड़प नहीं सकतीं। यह संघर्ष पाशविक शक्ति का नहीं, किन्तु *संस्कारों का संघर्ष* हो गया था।

यही कारण है कि चीन एशिया की क्रान्ति में सब से महत्व-पूर्ण स्थान रखता है। चीन ने विदेशी शक्ति का जमकर मुकाबला किया। ईसाई पादरी चीन को ईसाई बनाना चाहते थे। चीनी अपने धर्म पर इतने अचल थे कि उन्हें पादरियों की सत्ता ही

बुरी लगी। फलतः पादरियों पर अत्याचार हुए। उन पादरियों के धर्म-प्रचार के साथ संगीन और बन्दूक की सहायता शामिल कर दी गई। यहीं से यह संघर्ष प्रारम्भ हो गया और दबी ज़बान से अनेक युरोपीय राजनीतिज्ञों ने इसे स्वीकार किया है। युरोपीय नरेशों में जर्मनी की 'शांतुंग' नीति के प्रवर्त्तक विल्हेल्म क़ैसर द्वितीय ने अपनी आत्म-कथा में इसपर दबी ज़बान से प्रकाश डाला है। और चूँकि चीन ने विदेशी सांस्कृतिक आक्रमण से अपनी रक्षा करने का आदि में झंडा उठाया था, इसलिए वह एशिया के लिए सब से प्रधान अङ्ग हो गया। चीन की विजय एशियाई विजय थी। आगे चलकर, संस्कार के संघर्ष ने अधिकार संघर्ष का रूप धारण कर लिया, यह बात पाठक भली प्रकार पढ़ चुके हैं।

किन्तु, जब चीनी प्रजातंत्र की रचना हो गई, उस समय चीन के सामने दो विकट समस्याएँ उपस्थित हुईं। चीनी स्वभावतः कर्म-तथा-धर्म-भीरु होते हैं। अनुदारता या दक़ियानूसीपन उनके दिमाग़ की पहली निशानी है। पर, जब एक बात उनकी समझ में आ जाती है, वे उसे अपना लेते हैं, तब उससे हटते नहीं। अमेरिका की एक प्रसिद्ध बीमा-कम्पनी के डायरेक्टर ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि जापानी तुरन्त जान-बीमा करा लेते हैं। जोश में आकर वे तुरत काम कर बैठते हैं। पर, पीछे वे पलट भी जाते हैं और पॉलिसी डूब जाती है। पर, चीनी बहुत सोच-समझ कर जान-बीमा करावेगा; हाँ, यदि करा लेगा तो जीवन-भर निबाहेगा। यही भावुकता—शीघ्रता जापानी

जापानी वैर

अभ्युदय की शीघ्रता का कारण है और यही दीर्घसूत्रता चीनी-विकास की मन्द-गति का कारण है। अस्तु, जब चीन ने विदेशी संस्कार तथा विदेशी शक्ति को पराजित कर दिया और आत्म-गर्व से प्रत्येक चीनी की छाती फूली नहीं समाती थी, उसी समय रूस के समर्थकों ने, यानी बोल्शेविकों—वर्गवादियों ने, चीन की नई सरकार पर अधिकार कर, अपने वर्षों के स्वप्न को सत्य सिद्ध करना चाहा। राष्ट्रीय सरकार के सामने बड़ी अड़चनें उठ खड़ी हुईं। एक ओर वर्गवादी मज़दूरों को भड़का रहे थे, हड़ताल हो रही थी। दूसरी ओर लाल षड्यंत्र की तैयारी हो रही थी। कुछ नवयुवक लाल झण्डे के आकर्षण में आ गये थे। पर, वर्गवाद एक विदेशी सिद्धान्त था। उसको अपनाने में फिर एक विदेशी शक्ति से हाथ मिलाना पड़ता। इसीलिए अधिकारियों ने वर्गवाद को कुचलना शुरू किया। चीन में 'लाल' मतवाले पकड़े जाने लगे। सैकड़ों जेल भेजे गये। कितने ही देश से निकाले गये। घबड़ाकर सरकार ने हरेक नवयुवक पर अविश्वास करना शुरू किया। विद्यार्थी-आन्दोलन ही कुचला जाने लगा। फलतः विद्यार्थी राष्ट्रीय सरकार से क्षुब्ध हो गये। चिंग-काई-शेक की शिशु राष्ट्रीय सरकार के सामने बड़ा संकट-काल आ गया।

पाठकों को स्मरण है कि कोरिया और मञ्चूरिया में जापानी नीति के कारण चीनी जनता कितनी क्षुब्ध रहती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि जापान बीच में अड़ंगा न लगाता तो रूस या जर्मनी वही काम करते पर जापान का दोष यह था कि उसने अड़ंगा लगाकर चीन की रक्षा नहीं की, अपना

पेट भर लिया। जापान ने विदेशी संस्कार से पराजय स्वीकार कर, विदेशी नीति और कूटनीति को अपना लिया था। चीन के बँटवारे में जापान भी एक आततायी था और एक सहधर्म्मी पड़ोसी और भूतपूर्व प्रजा होने के नाते चीन उससे ऐसी आशा नहीं करता था। इसीलिए चीन उसे क्षमा नहीं कर सकता था। जब चीन की राष्ट्रीय सरकार स्थापित हो गई और चीन ने यह दिखला दिया कि वह एक नवीन जागृत राष्ट्र है, जापान ने अपनी नीति बदलने का विचार किया था। उसने तत्परता के साथ राष्ट्र की नई सरकार को स्वीकार कर लिया था। पर चीन का नव-युवक समुदाय प्रत्येक पिछले आततायी से बदला लेना चाहता था। बदला ही नहीं, दण्ड देने के बाद उसपर ज़ुल्म तक करना चाहता था। जापान के प्रति उसका पहला क्रोध स्वाभाविक ही था। राष्ट्रीय सरकार अधिक सतर्क थी। वह सम्हलकर चलना चाहती थी। पर उसे वर्गवादी आक्रमण रोकना था। इस दिशा में वह नवयुवकों का दमन कर रही थी। पर, वह नवयुवक-क्रान्ति तथा गृह-युद्ध के लिए तैयार न थी। इसीलिए उसने जापानी-विरोध को न रोका। बल्कि, प्रोत्साहन तक दिया। नव-युवकों का ध्यान बँटाने का यही उपाय था। फलतः, जापान से बदला लेने के लिए नवयुवक चीन में जापानी माल के बहिष्कार का जबर्दस्त आन्दोलन करने लगे। जापान का हरा-भरा रोज़-गार मुरझा गया। जापान का करोड़ों का नुक़सान हो गया। जापान ने राष्ट्रीय सरकार के पास जोरदार विरोध लिख भेजा। पर, राष्ट्रीय सरकार स्वयं लाचार थी। वह क्या कर सकती थी! जिस आग में उसने स्वयं घी डाला था, वह कैसे बुझ सकती थी?

चीनी-जापानी विरोध के अत्यन्त उग्र हो जाने का यही कारण था।

जापान की महत्वाकांक्षा तथा समस्याओं पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। उन्हें यहाँ फिर से दुहराने की जरूरत नहीं है। पाठकों को ज्ञात है कि जापान में केवल तीन करोड़ की आबादी गुजर कर सकती है। पर इस समय जापान की जन-संख्या लगभग छः करोड़ है। इनके लिए उपयोगी तथा लाभदायक उपनिवेश ढूँढ़ लेना जरूरी है। यदि जापान रूस की ओर बढ़ना चाहता है तो उसे कोई लाभ न होगा। साइबेरिया ठंडा प्रदेश है। दूसरे, रूस बड़ी जबर्दस्त शक्ति है। यदि वह प्रशान्त महासागर की ओर पैर बढ़ाता है तो उसे अमेरिका से टक्कर लेनी पड़ेगी। नीचे की ओर सिंगापुर का ब्रिटिश बेड़ा और आस्ट्रेलिया की नौ-सेना उसके सामने तोप सीधी किये खड़ी है। जापान ऐसे प्रगतिशील देश के लिए यही संभव है कि अपना माल बेचकर ही इतना द्रव्य कमा ले कि अपने देश को भूखों मरने से बचावे। पर, जब चारों ओर चुंगी की दीवारें उठ रही हैं, चारों ओर व्यापार का राष्ट्रीय-करण किया जा रहा है, जापान को अपने पड़ोसी चीन का ही भरोसा रह गया। जब चीन में भी व्यापार असंभव हो गया तो जापान के लिए यही मार्ग रह गया कि वह चीन को डरा-धमकाकर अपना माल बेचे। जब यह भी संभव न दीख पड़ा तो एक ओर तो जापान ने धीरे-धीरे चीन में अपना उपनिवेश बनाने, अपने संरक्षण में एक राज्य स्थापित करने और चीन का अङ्ग-भङ्ग करने का निश्चय किया, दूसरी ओर उसने जबर्दस्ती चीन में अपना माल खपाना चाहा।

जापान की कामना

यह तो राष्ट्रीय नीति थी। इसके साथ ही जापान की सरकार की दशा भी राष्ट्रीय नीति के अनुकूल हो गई। जापान की शासन-प्रणाली विचित्र-सी है। १८६८ तक वहाँ निरंकुश राज-सत्ता थी उसके बाद वैध राज-सत्ता हो गई। जापानी पार्लमेण्ट का चुनाव जनता के उस प्रत्यक्ष वोट से नहीं होता जो ब्रिटेन के भाग्य का फ़ैसला करता है। वाद-विवाद केवल प्रश्नोत्तर में ही हो जाता है। वाद-विवाद में पराजित दल को शासन का भार छोड़ देना पड़ता है। इस प्रकार वहाँपर विद्वान व्याख्याताओं की तूती बोलती है। शासन-कार्य कुछ पढ़े–लिखे परिवारों तक ही सीमित हो गया है। १८६८ में जापान में राज्यक्रान्ति हुई थी। उस समय सम्राट् को गद्दी पर फिर से बिठाने का श्रेय चोशू जाति को है। इस जाति की सेना ने क्रान्ति का अपने मन के अनुसार अन्त किया था। उसी समय से जापान में सेना का ही असली प्रभुत्व चला आ रहा है। पर इस सेना में भी दो दल हैं। एक है चोशू जाति का, दूसरा है सत्सुमा (Satsuma) जाति का। दोनों ही दल सेना तथा देश के शासन में विशेष अधिकार पाने के लिए लड़ा करते हैं। पर सत्सुमा जाति ने समझौते के विचार से स्थल-सेना तो चोशू जाति के लिए छोड़ दी और जल-सेना अपने लिए रक्खी। इस प्रकार जापान का शासन–सैनिक तथा राजनैतिक—दो सैनिक जातियों के हाथ की वस्तु हो गई। सैनिक जाति की महत्वाकांक्षा केवल एक ही हो सकती है—विजय! बस विजय ही चाहिए। जिस जाति के शासन में जापान अधिक से अधिक विजय करेगा, उसी को अधिक यश तथा नाम प्राप्त होगा और

वही अधिक समय तक शासन करेगी। अतएव जापान की सरकार इधर कुछ वर्षों से केवल रण-विजय की कामना से पागल है और विजय के लिए, पीसने के लिए चीन ऐसे दुर्बल पड़ोसी से बढ़कर कौन मिलेगा ?

यहाँ पर इतना स्थान नहीं कि इस विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाय। साथ ही, घटनाएँ ताज़ी होने के कारण साधारण समाचार पत्र के पढ़नेवाले भी इनसे परिचित हैं। केवल, पाठकों को थोड़ी याद ही दिला देना काफ़ी होगा। जापान चीन का बहिष्कार बर्दाश्त न कर सका। उसके शंघाई-स्थित राजदूत ने चीन की सरकार को सूचित किया कि शंघाई में चीनी विद्यार्थी जापानी माल खरीदने वालों को पीटते तक हैं। शंघाई की चीनी म्युनिसिपल बोर्ड ने विद्यार्थियों को रोकना चाहा पर, नवयुवक न रुके, फलतः बहाने से, जापान ने शंघाई की चीनी बस्ती, अत्यन्त घने बसे चापाई नामक स्थान में अग्नि-वर्षा कर दी। वे अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के मार्ग से सेना ले गये। चापाई को धूल में मिला दिया गया। हज़ारों आदमी मारे गये। लाखों गृह-हीन हो गये। क्रूरता की हद हो गई। साम्राज्यवाद खुलकर नाच रहा था। इधर चीन की राष्ट्रीय सरकार विद्यार्थियों के पाप का स्वयं प्रायश्चित्त नहीं करना चाहती थी अतः उसने विद्यार्थियों को कुछ भी सहायता न दी। फलतः विद्यार्थियों ने स्वयं अपनी सेना संघटित की। छात्राओं ने अपने भाइयों की बड़ी मुस्तैदी से सहायता की और जापानी साम्राज्यवाद का मुँह काला करनेवाली शंघाई के विद्यार्थियों की '१९ वीं' सेना एशिया ही नहीं, संसार के इतिहास में

चापाई-मञ्चुकुओ-जेहोल —

अमर हो गई। दो भाई जी खेलकर कभी इस तरह नहीं लड़े थे। सदियों का सञ्चित वैर फूट पड़ा। खून देखकर काली भी मतवाली हो उठती हैं। जापानी लहू बह निकला। जापान हार गया, लज्जित हुआ। उसने सन्धि की पर मानों साथ ही यह निश्चित हो गया कि चीन-जापान का यह वैर और भयंकर रूप में फूट निकलेगा।

शंघाई की जीत में चीन के मन्दिरों में घण्टे बज ही रहे थे कि चीन पर घोर दुःख के काले बादल छा गये। जापान ने मञ्चूरिया में रुपये की नदी बहाकर अपना मंत्र सिद्ध कर लिया। एकाध सैनिक सरदारों को छोड़कर, सब को मिलाकर मञ्जूरिया में एक नये राज-तंत्र की घोषणा करा दी गई। मञ्चूरिया की गद्दी पर, चीन के भूतपूर्व मञ्चू सम्राट् के वंशज—छः वर्ष के एक बालक-युवराज बैठाये गये। इस नये देश का नाम रखा गया मञ्चुकुओ। चीन ने विरोध किया। चीन ने राष्ट्र-परिषद् से अपील की। अमेरिका ने आपत्ति की। राष्ट्र-परिषद् ने एक जाँच-कमिशन, लार्ड लिटन की अधीनता में, बिठाया। कमिशन की रिपोर्ट थी कि जापान ने ज़्यादती की है। पर, किसी के विरोध का कोई फल न निकला। जापान के छिपे-खुले संरक्षण में मुञ्चुकुओ चीन से अलग हो गया। राष्ट्र-परिषद् पंगु होकर ताकती रही। चीन रोता-कलपता ही रहा। पर कोई फल न निकला। मकदेन में, जरा-सी बात पर चीन-जापान में जो झगड़ा हुआ था, उस झगड़े में कम से कम तीन हजार चीनी और ८०० जापानी काटे गये थे, उसका अन्त मञ्चुकुओ के पृथक् प्रान्त बन जाने से हुआ। जब एक बार राष्ट्र-परिषद् ने भी जापान से कह दिया कि

मञ्चुकुओ में उसकी दस्तन्दाज़ी चीन के प्रभुत्व पर आक्रमण है, अतएव जापान वहाँ से हट जावे—और जब इस आज्ञा को न मानने पर परिषद ने तथा उसके सदस्यों ने जापान का आर्थिक तथा राजनैतिक बहिष्कार (परिषद् की १४ वीं धारा के अनुसार) नहीं किया, तब चीन की आँख पूरी तरह से खुल गई। और उसने समझ लिया कि लुटेरे साम्राज्यवादियों के बीच में वह एकदम अकेला है। उसे अपनी रक्षा आप करनी पड़ेगी। चीन ने नये सिरे से सैनिक तैयारी शुरू की।

जापान चीन की गति देख रहा था। उसने समझ लिया था कि मञ्चुकुओ को प्राप्त करने में जो करोड़ों रुपया स्वाहा किया गया है (और करोड़ों का जो लाभ होगा) उसको सार्थक करने के लिए करोड़ों की रक़म और डुबानी होगी और लाख पचास हज़ार जानें और लेनी-देनी पड़ेंगी। जापान तथा मञ्चुकुओ के बीच में चीन का जेहोल नामक धनी प्रान्त है। चीन जेहोल में अपनी सेना सजा रहा था। जापान ने तुरत ताड़ लिया कि जेहोल को ले लेने में तथा उसे एक स्वतंत्र और 'तटस्थ' राज्य बना देने में ही मञ्चुकुओ का कल्याण है। फलतः उसने चीन पर यह अभियोग लगाया कि वह जेहोल में सैनिक तैयारी कर रहा है। उसने चीन से यह माँग की कि चीन अपनी सेना हटा ले। चीन ने इस अनुचित माँग को अस्वीकार कर दिया। फिर क्या था। 'अपने मित्र मुञ्चुकुओ' राष्ट्र की रक्षा के लिए जापान ने लड़ाई छेड़ दी। चीन पूरी तैयारी नहीं कर सका था। इधर दो-एक चीनी सेनापतियों ने धोखा दिया। जापान को ग़रीब चीनियों को घूस देना खूब आता है। फलतः

चीन हारता गया। फिर भी, जापानियों के छक्के छूट गये। यद्यपि वह चीन को खदेड़ता हुआ पेकिंग के पास तक पहुँच गया था, फिर भी उसने समझ लिया था कि एक बार राष्ट्रीय सेना का पैर जमते ही, जापान को शंघाई की तरह मुँह की खानी पड़ेगी। शंघाई में हार और सन्धि के बाद ज़ापानी समर-सचिव को जान से हाथ धोना पड़ा था। अतएव वर्त्तमान समर-सचिव सतर्क थे। चीन भी सुलह चाहता था, जापान भी। सुलह हो जाने के समाचार मिल गये हैं पर शर्त्तें नहीं मालूम हैं। संभव है जेहोल एक स्वतंत्र प्रान्त बनाकर 'तटस्थ' बना दिया जाय। यानी, चीन का एक अङ्ग और कट जावेगा। जो हो, पर जेहोल प्रान्त में जापानी सेना ने खुलकर, जो भीषण अत्याचार किया है, वह हम कभी नहीं भूल सकते और चीन कभी उसे क्षमा नहीं कर सकता।

चीन का भविष्य

चीन का इस प्रकार अङ्ग-भङ्ग होते देखकर, जापान को इस प्रकार चीन पर जुल्म करते देखकर, राष्ट्रपरिषद् की निरर्थकता को देखकर लोगों को यह सन्देह होता है कि चीन कबतक अपनी स्वतंत्र सत्ता क़ायम रख सकता है? क्या वह एक दिन जापान का संरक्षित राज्य नहीं हो जावेगा? पर यह कोरा भ्रम है। चीन में अब भी ऐसे धुरंधर सेनापति भरे पड़े हैं जो जापान को पीसकर पी जाना चाहते हैं। पर, इनकी शक्ति संघटित नहीं है। ये सेनापति जापान के शत्रु हैं—पर, साथ ही, राष्ट्रीय सरकार का सहयोग न तो चाहते हैं और न सहयोग देंगे। राष्ट्रीय सरकार सबकी शक्ति को एक-सूत्र में ग्रथित नहीं कर सकी है। इसके

अलावा, जापान के पास सुसंघटित सेना है। वह धनी भी है। चीन से लड़ाई छेड़ते समय वह तुरन्त अमेरिका और ब्रिटेन को हवाई जहाज आदि का लम्बा आर्डर दे देता है। इसी लोभ से बड़े राज्य लड़ाई रोकने का प्रयत्न भी पूरी तरह नहीं करते। चीन के पास हवाई जहाजों के लिए पर्याप्त द्रव्य नहीं। रेल-पथ इतना कम है कि सैनिक संघटन हो नहीं सकता। समूचे महा-देश में केवल १२,००० मील रेल-पथ है; ४०,००० मील मोटर-पथ है। इनमें से अधिकांश सड़कें तथा पटरियाँ १९२० के बाद बनी हैं। चीन के पास केवल एक ही वस्तु है—वह है अद्भुत जन-शक्ति !

अस्तु, राष्ट्रीय सरकार से निराश होने का कोई कारण नहीं। १९११ में चीन प्रजातंत्र बना। १९२७ में नवीन राष्ट्रीय सरकार स्थापित हुई। अभी इसके जीवन के छः वर्ष ही बीते हैं। फिर भी इस बीच में इसने बड़ा काम किया है। एक ओर यह ५०,००,०० से ७०,००,०० वर्गवादियों को दबाये हुए हैं (इस समय चीन में अनुमानतः इतने वर्गवादी हैं), दूसरी ओर वह जापान का सामना कर रही है। लिटन रिपोर्ट ने राष्ट्रीय सरकार की बड़ी प्रशंसा की है। उसका कहना है कि १९२२ में चीन-सरकार के हाथ में जितनी शक्ति थी, उससे कहीं अधिक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार इस समय है। विदेशी सम्बन्ध में भी वह काफ़ी सफल रही है। उसने दो 'पट्टे पर दिये' प्रान्त छुड़वा लिये। जक़ात-वसूली की स्वाधीनता प्राप्त कर ली है। कई शक्तियों से बराबरी की सन्धि की है। कई आर्थिक सुधार किये हैं। कर-वसूली का तरीक़ा बड़ा सीधा और सादा

वना दिया है। प्रान्तों द्वारा कर वसूल करने का दुःसाध्य काम सफलतापूर्वक करने लगी है। एक केन्द्रीय वैंक खोला गया है। यदि जापान दम लेने देता तो अर्थ-प्रवन्ध वड़ा ठोस हो जाता। राष्ट्रीय अर्थ-समिति की स्थापना की है जिसका एक अङ्ग है—'केन्द्रीय योजना विभाग'। यह उन्नतिशील कार्य तथा सुधार की योजना वनाती है। राष्ट्र-परिषद् तथा अन्य राष्ट्रों से विद्वान् तथा विशेषज्ञ वुलाकर स्वास्थ्य-शिक्षा आदि विभागों का वड़ा अच्छा संघटन किया जा रहा है। शिक्षा के विषय में मि० आर० एच० टॉने (R H Tawney) के एक लेख से एक महत्वपूर्ण वाक्य उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा:—
"चीनी शिक्षा में जो भी कुछ दोष हो, पर अपने उत्साह और क्रियाशीलता से, इतनी अन्तर्राष्ट्रीय वाधाएँ अकाल, वाढ़, स्थायी तथा अस्थायी आर्थिक संकट होने पर भी, चीन ने शिक्षा-कार्य में जो अद्भुत प्रगति की है, वह इसी दशा में, किसी युरोपीय देश के लिए असम्भव होती!"—सारांश यह है कि राष्ट्रीय सरकार प्रगतिशील है और वह चीन की रक्षा करने में समर्थ होगी।

वास्तविक विपत्ति तो जापान पर मँडरा रही है। हम जापान की दो सैनिक जातियों का उल्लेख कर चुके हैं। इस समय जापान की आन्तरिक स्थिति वास्तव में वड़ी चिन्ताजनक है। वम्वई के 'टाइम्स ऑव इण्डिया' पत्र के टोकियो-स्थित विशेष सम्वाददाता ने मई में जापान की भीतरी दशा का जो चित्र खींचा था, वही सव से ठीक मालूम होता है। उसकी रिपोर्ट का सारांश है—"वर्तमान 'विशेष-अवसर-मंत्रिमण्डल' ने पिछली प्रथा को गहरा धक्का

जापान का संकट

दिया है। जेनरल *अराकी*, सत्सुमा जाति के होते हुए भी प्रधान सेनापति बन बैठे हैं। उन्होंने चोशु जाति के इस हक़ को छीन लिया है कि उसमें से ही साम्राज्य-सेना के प्रधान सेनापति हों। चोशु जाति के जेनरल *उगाकी* को कोरिया का गवर्नर-जेनरल बनाकर भेज दिया गया। स्थल-सेना में सत्सुमा अफ़सर भरे जा रहे हैं। महीनों से चोशु जाति अपना लुप्त पद प्राप्त करने की चेष्टा कर रही है। पर, समर-मंत्री (प्रधान सेनापति) और उनके गण हटाये नहीं जा सकते। वे विरोधी सेनापतियों की हत्या कर अपना बल बढ़ा रहे हैं। चोशु जाति बड़ी अपमानित हो रही है। वह उगाकी को समर-मंत्री यानी प्रधान सेनापति यानी प्रधान मंत्री बनाना चाहती है। पर ऐसा हो जाने का अर्थ होगा—क्रान्ति ! अराकी ने जापान को सब राष्ट्रों से अलग कर रखा है। चीन से लड़ाई हो रही है; राष्ट्र-परिषद् से झगड़ा हो रहा है। इसीलिए जापान के हितैषी और विदेशी मित्र चाहते हैं कि उगाकी की सरकार आवे। क्योंकि, वह वर्त्तमान नीति को एकदम उलट देगी। तभी यह संभव होगा कि जापान सुदूर पूर्व से मित्रता कर ले। बजट ठीक से न तैयार कर सकने के कारण अर्थ-मंत्री ताकाहाशी इस्तीफा देने वाले हैं। तब, मंत्रि-मण्डल अवश्य भंग हो जावेगा। यह हो सकता है कि कि सम्राट् को मजबूर किया जाय कि वे त्याग-पत्र न स्वीकार करें। पर ताकाहाशी वर्त्तमान मंत्रि-मण्डल में सबसे योग्य राजनीतिज्ञ हैं। उन्हें इस प्रकार नहीं दबाया जा सकता।

अस्तु, यह स्पष्ट है कि जापान में सैनिक सरकार गृह-युद्ध उपस्थित कर देगी—और तब जापान को जो पाठ मिलेगा वह

एशिया के हित में होगा। जापान सदैव 'एशिया का ब्रिटेन' नहीं बना रह सकता। चीन को जापान से विशेष भय नहीं है। इस समय अवश्य चीन घबड़ा रहा है। कोई उपाय न देखकर चीनी-युवक फ़ैसिज़्म की ओर झुक रहे हैं। जब उन्होंने जापान को सरलतापूर्वक, जेहोल से लेकर उत्तरी चीन का २५० वर्ग मील विस्तृत प्रदेश रौंद डालते देखा, तो बचाव के लिए अपने देश में ही मुसोलिनी या हिटलर ढूँढने लगे! पर, "पीपुल्स ट्रिब्यून" के एक लेखक के शब्दों में, "चीन का उद्धार फ़ैसिज़्म से न होगा" यह वाक्य सत्य है। चीन का उद्धार जापान स्वयं कर देगा!!!

चीन के अङ्ग-भङ्ग की करुण-कहानी इतने से ही समाप्त नहीं होती। सन् १९३३ में चीन के हाथ से एक बड़ा प्रान्त और भी निकल गया। इसे सिंकियांग या चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। यह तिब्बत और मंगोलिया के बाहरी हिस्से के पश्चिमी भाग के बीच में है। यहाँ की अधिकांश जन-संख्या मुसलमान है। हूणों को पराजित कर यह प्रान्त चीनी-साम्राज्य के अधीन कर लिया गया था। पर, चीन-राज्य के दुर्बल हो जाने पर सन् ६७० में तिब्बत ने चीन से लड़कर उसका अधिकांश भाग छीन लिया था। पर, कुछ समय बाद तुर्किस्तान तथा तिब्बत दोनों ही चीन-साम्राज्य में मिला लिये गये। १९ वीं सदी में मध्य एशिया के मार्ग से रूस और भारत के मार्ग से ब्रिटेन इस प्रान्त की ओर बढ़ा। दोनों चीनी तुर्किस्तान की सीमा पर पहुँच गये। सन् १८५१ में इसके मार्ग से व्यापार करने के विषय में दोनों में सन्धि हुई। १८६५ में ताशकन्द, १८६६ में कोहकन्द तथा १८६८ में समर-

चीनी-तुर्किस्तान

कन्द रूस ने छीन लिया। इधर १८४६ में ब्रिटेन काश्मीर को अपने अधीन कर चुका था। लद्दाख जीतकर वह चीनी तुर्किस्तान के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आ गया।

१८६९ में इस प्रान्त के मुसलमानों ने बलवा किया था। चीन ने बलवा दबाकर इसे पुनः संगठित किया। प्रान्त का क्षेत्रफल ५००,००० वर्ग मील निर्धारित हुआ और जन-संख्या लगभग २० लाख कूती गई। यद्यपि सरकारी और व्यापारी भाषा चीनी है, पर लोग पूर्वी तुर्की बोली बोलते हैं और अधिकांश प्रजा मुसलमान है। जिस समय विदेशी शक्तियाँ चीन को आपस में बांट लेने का विचार कर रही थीं, रूस और ब्रिटेन दोनों ही इस प्रान्त पर अपना हक़ जाहिर कर रहे थे। चीन का शासन तिब्बत तथा मंगोलिया से उठ गया पर यह प्रान्त दृढ़ शासन में बना रहा और चीनी राज्यक्रांति तक का इस पर बहुत कम प्रभाव पड़ा।

ब्रिटेन की आँख इस प्रान्त पर सदैव थी और अभी तक है। ब्रिटेन की ओर से वैज्ञानिक खोज इत्यादि के बहाने कई दल इधर घूम आये थे। इन्होंने इस प्रांत की महत्ता की ओर ब्रिटेन का ध्यान पर्याप्त रूप से आकर्षित कर रक्खा था। १९२८ में चीन के सम्बन्ध में ब्रिटेन तथा जापान की गुप्त सन्धि हो चुकी थी। इधर १९३१ में ब्रिटेन में टोरी दल का शासन शुरू हो गया था। यह एक मार्के की बात है कि एक ओर १९३१ में जापान उत्तरी-पश्चिमी चीन में घुसकर 'मञ्चुकुओ' की रचना के लिए सैनिक जत्थे भेज रहा था, इधर तिब्बतियों की अपने द्वारा शिक्षित सेना लेकर ब्रिटेन ने सिंकियांग के दक्षिणी-पूर्वी पड़ो-

सियों पर अर्थात् चिंघाई (Chinghai) और जेकुआन (Szechuan) पर हमला किया था । पिछले वर्ष तक तातारों को खदेड़ा जाता रहा । यही नहीं, शंघाई की एक ब्रिटिश सेना भी सिंकियांग में मौजूद थी और 'चाइना वीकली रिव्यू' पत्र तथा अन्य उदार विदेशी पत्रों के सम्वाददाताओं का अनुमान है कि ब्रिटेन ने तथा विदेशी शक्तियों ने स्वयं इस वात की चेष्टा की कि चीनी तुर्किस्तान चीन-सरकार से वग़ावत कर स्वतंत्र हो जाय और भारत के ऊपर एक और ब्रिटिश-संरक्षित प्रान्त बन जाय । 'पीपुल्स ट्रिब्यून' में एक लेख छपा था । इसके लेखक का कहना है कि सिंकियांग में जब मुसलमानों का बलवा हुआ था, उस समय चार विदेशियों ने, एक पादरी ने तथा तीन बौद्ध भिक्षुओं ने विद्रोहियों को आर्थिक सहायता दी थी । 'धर्म-प्रचारक' के नाम पर, विदेशी रुपये से सहायता पानेवाले; 'आत्म-रक्षा कमेटी' के आडम्बर में ये विदेशी ख़ुफ़िया चीन के अङ्ग-भङ्ग की तैयारी कर रहे थे ।

नानकिंग-सरकार छोटे-मोटे विद्रोहों की चिन्ता ही नहीं करती थी । वह इसे साधारण गड़बड़-मात्र समझा करती थी। पर धीरे-धीरे वात बढ़ती ही गई । विद्रोहियों ने खुतन और केरिजा नगर लेकर अक्सू प्रदेश पर अधिकार कर लिया । अप्रैल, १९३३ में एकाएक चारों ओर बलवा खड़ा हो गया । २७ अप्रैल को चीनी सरकार को सूचना मिली कि काशग़र भी मुसलमानों के हाथ में आ गया । गवर्नर के सफ़ेद रूसी (बोल्शेविक-विरोधी) सिपाही ही गवर्नर के विरुद्ध उठ खड़े हुए । २७ अप्रैल को ही थीवा और कांसू की घटनाओं का समाचार

भेजनेवाला 'विशेष सम्वाददाता' अपने 'चाइना प्रेस' में लिखता है कि "इस विद्रोह में अन्य शक्तियों का छिपा हाथ है। सबसे अधिक दिलचस्पी रूस और जापान लेते हैं और उनके बाद ब्रिटेन तथा टर्की।" इस सम्वाददाता का कहना है कि इस प्रान्त में जापानी प्रचार बहुत अधिक है। ५ मई को 'चाइना वीकली रिव्यू' में यह छपा था कि काशग़र के विद्रोह, चीनी अधिकारियों के भीषण संहार का समाचार आदि ठीक तरह से चीन को नहीं मालूम हो सका है। चीनी तुर्किस्तान के मुस्लिम-विद्रोह में ब्रिटिश कारख़ानों ने विद्रोहियों को हर्बो-हथियार अच्छी तरह से दिया था और अस्त्र-शस्त्र से मुसलमान विद्रोही ब्रिटेन से पूरी सहायता पाते रहे। यह सहायता सरकारी तौर पर नहीं, पर ब्रिटिश संस्थाओं द्वारा की गई। अभी तीन वर्ष हुए सोवियट रूस ने तुर्की रेलवे का निर्माण पूरा कर उसे अपने हाथ में ले लिया। ब्रिटेन ने इसका उत्तर चीनी तुर्किस्तान पर अपना प्रभाव फैलाकर दिया है।

अस्तु, इधर समाचारपत्रों में काशग़र के विद्रोह का रोमांचकारी समाचार छप रहा था। यह बलवा एकाएक कैसे पनपा, इसका ग़लत कारण हमें बतलाया जा रहा है। यह कहना कि चीनी गवर्नर एक सैयद की लड़की से जबर्दस्ती शादी करना चाहते थे, इसीलिए बलवा हो गया एक ग़लत बात है। बलवा इतनी जल्दी नहीं होता। चीनी तुर्किस्तान का विद्रोह एक साम्राज्यवादी षड्यंत्र का परिणाम है। चीन के दुर्भाग्य से ब्रिटेन भी चीन का असली मित्र नहीं है। चीनी तुर्किस्तान में इस समय घोर अनिश्चितता है। अभी कोई दृढ़ सरकार नहीं स्थापित हो सकी है।

उत्तरी चीनी तुर्किस्तान की क्रान्ति के पहले ही, १९३२ के आदि में, श्याम की क्रान्ति हुई थी। यहाँ के राजा—प्रजाधिपक—एक-मात्र स्वतंत्र बौद्ध नरेश हैं और यह राज्य फ्रेञ्च तथा ब्रिटिश प्रभाव से अपनी रक्षा करता हुआ स्वतंत्र बना हुआ है। पर, असली राजसत्ता जन्मतः ही, परम्परा से ही चले आनेवाले दकियानूसी अधिकारियों के हाथ में थी। अन्य देशों की प्रगति देखकर श्याम की प्रजा भी उन्नति करना चाहती थी। पर, वह परम्परागत राज-सत्ता का सुख लूटनेवालों से परेशान थी। प्रजा राजा के प्रति भक्त थी, अफ़सरों के प्रति नहीं। जनता के असंतोष को सदैव *'लाल-क्रान्ति'* का चिन्ह समझा जाता है। जरा भी आन्दोलन हुआ नहीं कि तुरन्त वर्ग-वाद की गन्ध आने लगती है। श्याम के अफ़सरों ने राजा को समझाया कि वर्ग-वाद का प्रचार बढ़ रहा है। श्याम की 'असेंबली' या 'महासभा' अफ़सरों के अधिकारों को महासभा के अधीन करना तथा राजा के निरंकुश अधिकारों को कम करना चाहती थी। वह ब्रिटेन की तरह वैध राज-सत्ता तथा वैध राज-तन्त्र स्थापित करना चाहती थी; फल यह हुआ कि गत अप्रैल, १९३३ में राजा ने वर्तमान शासन-विधान स्थगित कर असेम्बली भंग कर दी थी।

श्याम की क्रान्ति

फलतः एक दिन एकाएक क्रान्ति हो गई। विद्रोही राजा के भवन को घेर कर खड़े हो गये। राजा के सामने जनता की माँग पेश की गई। राजा के लिए और कोई चारा न था। उसने प्रजा की आज्ञा स्वीकार कर ली। श्याम में नवीन शासन-विधान बनाया गया। राजा के अधिकार सीमित कर दिये गये। फ़ीना-

होल विद्रोही नेता थे। वे प्रधान व्यक्ति थे और उन्हीं को सेना का प्रधान सेनापति बनाया गया। नई सरकार के सामने ही एक बार पुनः हल्की-सी राज्यक्रान्ति हो गई। राजधानी बैंकोक में कुछ उपद्रव हुए। राजा की ओर से एक बार पुनः आश्वासन की आवश्यकता थी। जनता केवल राजा के अधिकार के संकुचित होने से ही सन्तुष्ट नहीं थी। वह अपनी महासभा भी स्थापित करना चाहती थी। फलतः फ़ीबाहोल ने 'पीपुल्स असेम्बली' स्थापित करने का इरादा प्रकट किया। राजा के पास, जो हुशिन में थे, तार भेजकर सेना तथा जल-सेना की राजभक्ति का आश्वासन दिलाया गया। २ अप्रैल के बाद पहली बार, २२ जून को पीपुल्स असेम्बली की बैठक हुई। उसमें मंत्रि-मण्डल की ओर से कहा गया कि रक्तपात-शून्य राज्यक्रान्ति के बाद, पूर्ववत् काम-काज होने लगा है। राजा ने फ़ीबाहोल को ही प्रधान-मंत्री नियुक्त किया। पिछले छः मंत्रियों में से केवल तीन ही हटाये गये। पर, कोई गिरफ़्तार नहीं किया गया। इस समय देश में पूर्ण शान्ति है। प्रजा राजा से सन्तुष्ट है। शासन-कार्य सुचारु-रूप से हो रहा है। श्याम का नवीन जन्म हुआ है। वह क्रमशः एशिया का दूसरा तुर्किस्तान हो जायगा।

एंग्लो-फ़ारसी संधि

फारस ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चक्कर में फँसकर किस प्रकार गिर गया था और रिज़ाशाह पहेलवी ने किस प्रकार उसका उद्धार किया, यह पाठकों को भली-प्रकार विदित है। ब्रिटिश सरकार की समूची सत्ता जल-सेना पर निर्भर करती है। यह युग जल-सेना का है। जल-सेना के लिए पेट्रोल की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अमेरिका की स्टैंडर्ड ऑयल कम्पनी और ब्रिटेन-संरक्षित डच कम्पनी का झगड़ा इसी बुनियाद पर है कि जिसके पास ज्यादा और सस्ता तेल होगा, उसी को उतनी अधिक सहूलियत होगी। रूस के पास बाकू के तेल के सोते हैं। मोसल के तेल के सोतों के कारण तुर्की से तथा विदेशी शक्तियों से इतना झगड़ा हुआ। इसलिए तेल के लिए ब्रिटेन का उत्सुक होना स्वाभाविक है। इसीलिए ब्रिटेन वर्मा को भारत से पृथक् कराकर अपने संरक्षण में रखना चाहता है ताकि वर्मा का तेल उसे मिलता रहे और इसके लिए उसे पराश्रित न होना पड़े। इसीलिए, फारस के उर्व्वर तेल के सोतों के लालच से ब्रिटेन ने उसपर संरक्षण कर रक्खा था और रिजाशाह पहेलवी के पहले, जिस समय फारस में दुर्बल सरकार थी, फारस से तेल निकालने के लिए, एक ब्रिटिश कम्पनी को ठेका दिलवा दिया गया था। यह ठेका पचास वर्ष के लिए था। इसके वदले में यह तय हुआ था कि कम्पनी फारस-सरकार को कुछ रक़म वार्षिक देती रहेगी। पर, यह रक़म कभी न दी गई और फारस की सम्पत्ति से विदेशी फूलते गये। जब फारस में रिजाखाँ का शासन हुआ उन्हें यह बात बहुत खटकी। जनता भी अपना धन विदेशियों के हाथ में नहीं देना चाहती थी। फारस स्वयं अपनी जल-सेना तैयार करना चाहता था अतएव उसे भी पेट्रोल की आवश्यकता थी। रिजाखाँ का यह कहना था कि देश की दुर्बल सरकार से जबरदस्ती यदि कोई ठेका करा लिया जाय तो जनता उसके लिए नैतिक दृष्टि से जिम्मेदार न हो सकती है—न होगी। अन्त में, इस वर्ष उन्होंने यह ठेका रद्द कर दिया। फारसी इस

घटना से इतने प्रसन्न हुए कि उस दिन उन्होंने दीपावली मनाई। वास्तव में देश की अतुल सम्पत्ति पर अपना अधिकार हो जाना बड़ी भारी बात है। पर, ब्रिटिश सरकार इस बात से बहुत चिढ़ी। उसने हर प्रकार का राजनैतिक दबाव डाला। यहाँ तक लक्षण प्रतीत होने लगे कि युद्ध हो जावेगा। पर, रिजाख़ाँ को अपने पक्ष के न्यायोचित होने पर दृढ़ विश्वास था। वह जानते थे कि ब्रिटेन की धमकी केवल बन्दर-घुड़की है। जब ब्रिटेन ने देख लिया कि फ़ारस अपने मत पर दृढ़ है तथा उसे विशेष छेड़ना व्यर्थ एशिया-मात्र को नाराज करना है, उसने अपना दावा खींच लिया। फ़ारस से नवीन सन्धि हुई। कम्पनी ने बक़ाया रक़म चुकता करना स्वीकार किया। आगे से, सदैव अपनी आय में से एक निश्चित भाग फारस-सरकार को देना मंजूर किया। तेल-कम्पनी को नहीं, ब्रिटिश-सरकार को नीचा दिखलाकर फारस ने बहुत बड़ा काम किया। एशिया की स्वच्छन्दता तथा निर्भीकता का यह एक दूसरा ही प्रमाण था।

१९२९ से ३३ तक भारत की दशा में बहुत परिवर्त्तन हो गया है। एक समय आवेगा जब भारत की स्वाधीनता तथा सत्याग्रह का विशद इतिहास लिखा जायगा।

भारत

उस समय भारतीय आन्दोलन की महत्ता का पता लगेगा। इस समय, १९२० की काँग्रेस में पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा करने के बाद से, भारत में नवीन स्फूर्त्ति आ गई है। १९३१ के मार्च से, सत्याग्रह-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भारतीय जन-मत की शक्ति देखकर सरकार के छक्के छूट गये और अन्त में, लार्ड अरविन ने कांग्रेस के साथ समझौता किया।

कांग्रेस की ओर से, भारतीय-शासन-विधान में परिवर्त्तनों पर विचार करने के लिए, लन्दन में होनेवाले गोलमेज-सम्मेलन में महात्मा गान्धी शरीक हुए। पर, भारत-सरकार ने भारत के किसानों की दुर्दशा सुधारने में कांग्रेस का साथ न दिया। यही नहीं, कांग्रेस का विरोध किया। फलतः सत्याग्रह पुनः प्रारम्भ हो गया। पिछली बार ९२ हजार के क़रीब भारतीय जेल गये। द्वितीय सत्याग्रह-संग्राम में भी ७५ हजार जेल गये। ब्रिटिश-सरकार की ओर से भारतीय शासन-विधान की जो प्रस्तावित योजना श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित हुई है, उससे सबको इतना असन्तोष है कि सम्भव है कि अशान्ति की आग पुनः भभके।

अफ़गानिस्तान

इस समय अफ़गानिस्तान में भी अशान्ति के लक्षण प्रतीत हो रहे हैं। एक दल नादिरशाह का विरोध कर रहा है। नादिरशाह की ब्रिटिश-मित्रता तथा स्वच्छन्द वृत्ति उसे पसन्द नहीं। वह देश को अधिक प्रगतिशील देखना चाहता है। फलतः एक षड्यंत्र की गुप्त योजना का अनुमान किया जा रहा है। अमीर के एक भाई जर्मनी में मार डाले गये हैं। इससे देश की अशान्ति का पता चलता है।

फ़िलिपाइन

फ़िलिपाइन में स्वाधीनता का आन्दोलन ठण्डा करने के लिए अमेरिकन कांग्रेस ने ८ वर्ष में उसे पूर्ण स्वाधीनता देने का वादा किया था। किन्तु, राष्ट्रपति हूवर (१९३२) ने कांग्रेस के प्रस्ताव में संशोधन कर उसे १२ वर्ष कर दिया था। फ़िलिपाइन को व्यापार करने की भी स्वाधीनता नहीं है। फलतः वह बड़ा उत्तेजित है और अमेरिका से मुक्त होने के लिए व्याकुल हो रहा है।

तुर्की ने सबसे अधिक उन्नति की है। उसका नवीन प्रजातंत्र १९३३ में अपनी दसवीं वर्षगाँठ मना चुका। तुर्की के सुधारों को पाठक जान गये हैं। वहाँ अब नमाज भी मातृभाषा में—गाकर, बाजे के साथ, होती है। शिक्षा के विस्तार का विशद प्रयत्न किया जा रहा है। समूचे तुर्की का जोर-शोर से अद्भुत विकास हो रहा है। तुर्की ने रूस से ८० करोड़ के लगभग ऋण लेकर राष्ट्र-निर्माण का कार्य और भी जोर-शोर से शुरू किया है।

तुर्की

सीलोन को जो नवीन शासन-विधान मिला है, उससे वह बड़ा क्षुब्ध है और उसके विरोध की आग फूट ही निकलना चाहती है।

सीलोन

संक्षेप में, इस समय समूचे एशिया में एक अद्भुत हलचल और अशान्ति छाई हुई है। अशान्ति से ही क्रान्ति होती है—क्रान्ति से विकास! अतएव एशिया के सुदिन निकट हैं!

[२]

ईरान और ब्रिटेन

एशिया का विगत १०० वर्षों का इतिहास, व्यापारियों एवं धर्म-प्रचारकों के वेश में आकर अपना जाल फैलाने वाले यूरोपीय साम्राज्यवादियों की कूट चालों एवं उनसे छुटकारा पाने के लिए तड़पते हुए राष्ट्रों के प्रबल प्रयत्नों का इतिहास है। अभी महायुद्ध के जमाने तक एशिया की अवस्था बिलकुल दूसरी थी। यह ठीक है कि बीसवीं शताब्दी के आरम्भ के साथ ही उसकी मोह-निशा का अन्धकार दूर होने लगा था और उस समय जापान ने रूस को जो करारी हार दी थी उससे समस्त एशिया में जागृति की एक लहर फैल गई थी। पर उस समय का परिवर्तन ज्यादातर मानसिक था। उसको व्यावहारिक रूप तो महायुद्ध के समय ही प्राप्त हुआ और उसके निश्चित परिणाम १९१९ के बाद के युग में सभी एशियायी देशों में प्रकट हुए।

एशिया के विगत १०० वर्ष

महायुद्ध में सबसे बड़ी बात यह हुई कि संसार की विजयोन्मत्त शक्तियों की कमर टूट गई। आर्थिक कठिनाइयों ने उनको इस योग्य न रक्खा कि वे पहले की भाँति ही लाल आँखें करके पद-दलित राष्ट्रों को चूस सकें। महायुद्ध के कारण जो आर्थिक अकाल विश्व में पड़ा उससे प्रायः सभी देशों की जनता में साम्राज्य-विरोधी भावों के

महायुद्ध की देन

फैलने का मौक़ा मिला। एशिया के जो राष्ट्र अबतक दबे हुए थे उन्होंने भी अवसर का उपयोग किया।

पर एक ओर जब एशियायी राष्ट्र जगते जा रहे थे तब दूसरी ओर उनपर हुकूमत जमानेवाले यूरोपीय साम्राज्यवादी राष्ट्र उनके रक्त से अपनी युद्ध-जनित घटी की पूर्ति करना चाहते थे और जो राष्ट्र महायुद्ध में विजयी हुए थे वे अपने अधीन देशों पर अपना बंधन और मजबूत कर देना चाहते थे।

पर घटनाएँ जिस क्रम से घट रही थीं, उसमें यह सम्भव न हुआ। १९२० से २५ तक फारस में ब्रिटिश पूँजीपतियों ने

फारस में

अपना जाल खूब फैला लिया था और उनके स्वार्थों की रक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार फ़ारस के मामलों में खूब दिलचस्पी लेती थी। १९२० के बाद संसार में वायु-सेना की वृद्धि जोरों से होने लगी। और दिन-दिन यह निश्चित होता गया कि भावी महायुद्ध जमीन पर नहीं, आकाश में लड़ा जायगा। इसके लिए तेल के सोते सबसे आवश्यक उपकरण हैं। सामरिक प्रतियोगिता एवं तत्सम्बंधी नवीन आविष्कारों ने मिट्टी के तेल तथा पेट्रोलियम का महत्व बहुत अधिक बढ़ा दिया है। बाकू के तेल के सोतों में ब्रिटेन ने बहुत धन लगा रखा था पर बोल्शेवी क्रान्ति के बाद रूस की सोवियट सरकार ने उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। फ़ारस की कमजोरी का लाभ उठाकर वहाँ की तेल की खानों से तेल निकालने का पट्टा एक अंग्रेज़ी (एंग्लो-पर्शियन आयल) कम्पनी ने लिखा लिया। सामुद्रिक व्यापार-मार्ग की दृष्टि से भी फारस का महत्व कुछ कम न था और युरोप तक वायु-मार्ग तो उससे

होकर ही निकाला जा सकता था। जैसा कि स्वाभाविक था और जैसा सर्वत्र अंग्रेज व्यापारियों ने किया है, धीरे-धीरे उन्होंने फारस की घरेलू राजनीति में भी दखल देना शुरू कर दिया और शासन की अव्यवस्था से लाभ उठाकर एवं मंत्रियों को घूस दे-देकर अपना प्रभुत्व बढ़ा लिया। धीरे-धीरे एंग्लो-पर्शियन आयल कम्पनी की आड़ में फारस में अंग्रेजों का एक प्रभुत्व-क्षेत्र बन गया।

स्वतंत्र फारस

पर राजनीति में दाँव-पेंच तो चलते ही रहते हैं। अंग्रेज ही एक खिलाड़ी न थे। स्वाधीन होकर रूस भी मैदान में आ गया था और अपनी एशियाई नीति के कारण उसे एशियाई राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त होने लगी थी। उसके प्रभाव से १९२१ की फरवरी में जो क्रान्ति हुई उसने फारस की स्थिति पलट दी। इस समय से फारस के शासन में रिजाखाँ की प्रधानता हुई। धीरे-धीरे वह अपना अधिकार दृढ़ करते गये और बाद में—२५ अप्रैल १९२६ से—स्वयं ईरान की गद्दी पर बैठकर सारा शासन-तंत्र अपने हाथ में कर लिया। वह दृढ़निश्चयी, देश-भक्त और योग्य सेनापति थे अतः धीरे-धीरे उन्होंने अपने देश से विदेशियों के प्रभाव एवं शक्ति को दूर करना शुरू किया।

तनातनी

फारस में ब्रिटेन के विरुद्ध प्रबल भाव फैलते गये। इस में रूस का भी हाथ था पर असल बात तो यह है कि फारस स्वतंत्र हो गया था और एक स्वतंत्र राष्ट्र को, बराबर की मर्यादा से संसार में खड़ा होना चाहता था। उधर अंग्रेजी तेल-कम्पनी फारस के धन से अपना विस्तार करती

गई और जिन शर्तों पर पट्टा दिया गया था उनकी पूर्ति करने की ओर उसने ध्यान न दिया। धीरे-धीरे झगड़े बढ़ने लगे और जब अंग्रेज़ व्यापारी झुकने को तैयार न हुए तो १९३३ के आरम्भ में सम्राट् रिज़ाशाह (पेहलवी) ने पट्टा यह कहकर रद्द कर दिया कि यह पट्टा हमारे देश की दुर्बल अवस्था में दबाव डालकर लिखाया गया था अतः जायज़ नहीं। इसके साथ ही ईरान (फारस) की सरकार ने कम्पनी की सारी जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया।

जब फारस-सरकार ने कंम्पनी की जायदाद पर क़ब्ज़ा कर लिया तब ब्रिटिश-सरकार के कान खड़े हुए और वह बीच में पड़ी। खूब तनातनी हुई; फारस की सरकार को—'उचित कार्रवाई की जायगी' कहकर—धमकी भी दी गई। प्रश्न राष्ट्र-संघ में भेजा गया और दोनों सरकारों के प्रतिनिधि जेनेवा पहुँचे। सारा मामला पूरी तरह संघ की कौंसिल के सामने आया भी न था कि फारस की ओर से जो दृढ़ प्रमाण दिये गये थे उससे संघ की कौंसिल के अध्यक्ष को भी यह विश्वास हो गया कि इसमें फारस-सरकार का कोई क़सूर नहीं है। तेल-कम्पनी स्वयं भारी मुनाफ़ा उठाती रही है पर उसने फारस-सरकार को उचित मुआवज़ा नहीं दिया है। अध्यक्ष ने यह सलाह दी कि अच्छा हो कम्पनी और फारस-सरकार परस्पर समझौता कर लें।

समझौता

अन्त में कम्पनी को झुकना पड़ा और २८ अप्रैल १९३३ को नवीन इक़रारनामों पर फारस-सरकार के प्रतिनिधि और कम्पनी के प्रधान सर जानके डमैन के हस्ताक्षर हो गये। इस इक़रारनामे की मुख्य शर्तें ये हैं—

(१) कम्पनी को तेल निकालने के लिए पहले इक़रारनामे में जितनी जमीन दी गई थी उसकी आधी जमीन में ही सन् १९३८ ईस्वी तक उसे अपना काम चलाना पड़ेगा। उसके बाद १ लाख वर्गमील जमीन उसको दी जायगी।

(२) तेल निकालने के लिए उस क्षेत्रफल में पाइप लाइन बनाने का जो हक़ एकमात्र इसी कम्पनी को अभी तक दिया गया था वह १ मई १९३२ से रद्द हो जायगा।

(३) कम्पनी ईरान में जो तेल बेचेगी या ईरान से तेल की जो रफ़्तनी करेगी उस पर वह हरएक टन तेल पर ४ शिलिंग ईरान को देगी।

(४) कम्पनी अपने हिस्सेदारों को पाँच फ़ीसदी के हिसाब से डिविडेण्ड दे सके इसके लिए ६,७१,००० पौंड मुनाफे में से निकालकर बाकी जो मुनाफ़ा बचेगा उसमें २० प्रतिशत ईरान को मिलेगा। वह मुनाफ़ा ईरान में हुआ हो, चाहे ईरान के बाहर।

(५) इस समय पौण्ड की जो विनिमय दर है उसमें कमी हो तो उसके सम्बन्ध में ईरान-सरकार को घाटा न उठाना पड़े इसकी जिम्मेदारी कम्पनी पर रहेगी।

(६) कम्पनी अगर अपने रक्षित कोष में से अपने हिस्सेदारों को कुछ डिविडेण्ड बाँटेगी तो उस समय उस में से २० सैकड़ा ईरान-सरकार को देना पड़ेगा।

(७) जब इक़रारनामे की मुद्दत पूरी होगी तब कम्पनी के रक्षित कोष में जितना रुपया रहेगा उसमें से २० सैकड़ा ईरान को दिया जायगा।

(८) कम्पनी पहले आठ वर्ष तक ईरान-सरकार को २,२५,००० पौण्ड, फिर दूसरे १५ वर्ष तक ३,००,००० पौंड और उसके बाद *जितनी रक़म तय की जायगी* उतनी रक़म कर देगी।

(९) कम्पनी हर साल जहाँ तक हो अधिक से अधिक ईरानियों को नौकर रखेगी और *हर साल ईरानियों को ग्रेट-ब्रिटेन में शिक्षा देने के लिए १० हज़ार पौंड खर्च करेगी।*

(१०) इस नये इक़रारनामे की मुद्दत ६० साल है।

(११) कम्पनी ईरान-सरकार की मंजूरी बिना और किसी को अपने बदले में नहीं रख सकेगी।

(१२) इक़रारनामे की मुद्दत पूरी हो जाने पर कम्पनी की ख़ास-ख़ास मिलकियत ईरान-सरकार की हो जायगी और मुद्दत के आख़िरी दस वर्षों तक कम्पनी अपनी मिलकियत न तो बेच सकेगी और न ईरान के बाहर ले जा सकेगी।

(१३) कम्पनी जो तेल ईरानके लोगों के हाथ बेंचेगी उसका भाव मेक्सिन या रूमानियन तेल से—इन दोनों में से जिसका भाव सस्ता होगा उससे—१० फी सदी सस्ता होगा और ईरान सरकार को २५ फी सदी सस्ता देगी।

(१४) इस इक़रारनामे के सम्बन्ध में कुछ झगड़ा खड़ा होगा तो वह पंचायत में जायगा।

इन शर्त्तों से स्पष्ट है कि इस मामले में ईरान की गहरी विजय हुई है। जितनी शर्त्तें हैं सब ईरान-सरकार के पक्ष में हैं और उसके गौरव को बढ़ानेवाली हैं। पहले जो शर्तनामा था

उसके अनुसार प्रायः समूचे (प्रायः ५/६) ईरान में तेल निकालने का अधिकार कम्पनी को था पर अब केवल ईरान के तिहाई हिस्से में ही कम्पनी को तेल निकालने का अधिकार रह गया है। यह शर्त्त बड़े महत्व की है और इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ईरान के अन्य भागों में यदि तेल के सोतों का पता चला तो ईरान-सरकार किसी दूसरी कम्पनी को भी उनसे तेल निकालने का ठेका दे सकेगी।

दूसरी महत्वपूर्ण शर्त्त, जो नये इक़रारनामे में रखी गई है, यह है कि जिस क्षेत्र में तेल निकालने का अधिकार कम्पनी को दिया गया है उसमें अभी तक पाइप लाइन लगाने का सर्वाधिकार कम्पनीको ही था, वह छीन लिया जाता है। इसमें भी ईरान को बड़ा लाभ है क्योंकि अब यदि ईरान के उत्तर या अन्य किसी भाग में तेल के सोतें निकलें तो ईरान-सरकार दूसरी कम्पनी को तेल निकालने का अधिकार तो दे ही सकती है पर ज़रूरत पड़ने पर ईरान की खाड़ी या कास्पियन सागर तक अपनी पाइप लाइन भी लगवा सकती है अथवा दूसरों को यह अधिकार दे सकती है।

कम्पनी के मुनाफे में से ५ प्रतिशत हिस्सेदारों के लिए 'डिविडेण्ड' निकालकर जो बचेगा उसका पाँचवाँ भाग अर्थात् २० सैकड़ा ईरान को मिलेगा। यह शर्त्त सब शर्त्तों से अधिक महत्वपूर्ण है। इसके बाद ही तीसरी शर्त्त (जिसके अनुसार ईरान में बिकने या ईरान से बाहर जानेवाले तेल पर ४ शिलिंग प्रति टन की रायलटी ईरान-सरकार को मिलेगी) ईरान के लिए आर्थिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। अनुमान लगाया गया है

कि इसके अनुसार लगभग १० लाख पौण्ड या सालाना एक करोड़ से भी अधिक रुपये की आय ईरान-सरकार को होगी। साढ़ेसात लाख पौण्ड सालाना से कम तो यह किसी हालत में न होगी क्योंकि कम से कम इतनी रकम की तो शर्त करा ही ली गई है।

इन शर्तों पर भली-भाँति ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि ईरान अपनी सारी शक्ति के साथ अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना चाहता है और पूर्व में युरोपीय साम्राज्यवाद दिन-दिन क्षय-ग्रस्त रोगी की भाँति क्षीण हो रहा है। जो देश अभी परतंत्र हैं वे अपने स्वतंत्र एशियाई देशों की इन गौरवपूर्ण विजयों को देखते और कलेजा मसोसकर रह जाते हैं पर इन उदाहरणों से उनके सामने इतना स्पष्ट हो जाता है कि स्वतंत्रता प्राप्त किये बिना संसार के राष्ट्रों की पंक्ति में बराबरी के अधिकार और आदरपूर्ण मर्यादा के साथ नहीं बैठा जा सकता। यदि स्वतंत्र-प्रकृति रिजाशाह फारस में न होते और फारस स्वतंत्र न होता तो यह समझौता सम्भव न था।

रूस की एशियाई नीति भी इसमें बड़ी सहायक हो रही है और ताजे समाचारों से तो यह मालूम होता है कि सोवियट-सरकार सिक्यांग (चीनी तुर्किस्तान) आदि चीनी प्रान्तों से ब्रिटेन का प्रभाव नष्ट करने की एक योजना बना चुकी है। यदि ऐसा हुआ तो इन दो राष्ट्रों की प्रतियोगिता के कारण एशियाई राष्ट्रों का भला ही होगा और वे दिन-दिन अधिकाधिक स्वतंत्रता-लाभ करते जायँगे।

—

सस्ता-साहित्य-मण्डल, अजमेर के प्रकाशन

१—दिव्य-जीवन ।=)
२—जीवन-साहित्य (दोनों भाग) १।)
३—तामिलवेद ।॥)
४—भारत में व्यसन और व्यभिचार १)
५—सामाजिक कुरीतियाँ ॥।) (जब्त)
६—भारत के स्त्री-रत्न (दोनों भाग) १॥।-)
७—अनोखा ! १।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ॥।-)
९—यूरोप का इतिहास (तीनों भाग) २)
१०—समाज-विज्ञान १॥)
११—खद्दर का सम्पत्ति-शास्त्र ॥।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।॥=)
१३—चीन की आवाज़ ।-) (अप्राप्य)
१४—दक्षिण अफ्रिका का सत्याग्रह (दो भाग) १।)
१५—विजयी बारडोली २)
१६—अनीति की राह पर ।≡) (गांधीजी)
१७—सीताजी की अग्नि-परीक्षा ।-)
१८—कन्या-शिक्षा ।)
१९—कर्मयोग ।=)
२०—कलवार की करतूत =)
२१—व्यावहारिक सभ्यता ।)॥
२२—अँधेरे में उजाला ।≡)
२३—स्वामीजी का बलिदान ।-
२४—हमारे ज़माने की गुलामी (जब्त) ।)
२५—स्त्री और पुरुष ॥)
२६—घरों की सफाई ।) (अप्राप्य)
२७—क्या करें ? (दो भाग) १॥=)
२८—हाथ की कताई-बुनाई (अप्राप्य) ॥=)
२९—आत्मोपदेश ।)
३०—यथार्थ आदर्श जीवन (अप्राप्य) ॥-)
३१—जब अंग्रेज़ नहीं आये थे— ।)

३२—गंगा गोविन्दसिंह ॥=)
(अप्राप्य)
३३—श्रीरामचरित्र १।)
३४—आश्रम-हरिणी ।)
३५—हिन्दी-मराठी-कोष २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर— ।।।=)
३८—शिवाजी की योग्यता ।=)
(अप्राप्य)
३९—तरंगित हृदय ,, ॥)
४०—नरमेध १॥)
४१—दुखी दुनिया ॥)
४२—ज़िन्दा लाश ॥)
४३—आत्म-कथा (गांधीजी)
दो खण्ड सजिल्द १॥)
४४—जब अंग्रेज़ आये
(ज़ब्त) १।=)
४५—जीवन-विकास
अजिल्द १।) सजिल्द १॥)
४६—किसानों का बिगुल =)
(ज़ब्त)
४७—फाँसी ! ॥)
४८—अनासक्तियोग तथा
गीताबोध (श्लोक-सहित) ।=)
अनासक्तियोग =)
गीताबोध— -)॥
४९—स्वर्ण-विहान (नाटिका)
(ज़ब्त) ।=)
५०—मराठों का उत्थान
और पतन २॥)
५१—भाई के पत्र १॥)
सजिल्द २)
५२—स्व-गत— ।=)
५३—युग-धर्म (ज़ब्त) १=)
५४—स्त्री-समस्या १॥।)
सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का
मुक़ाबला ॥=)
५६—चित्रपट ।=)
५७—राष्ट्रवाणी ॥=)
५८—इंग्लैण्ड में महात्माजी १)
५९—रोटी का सवाल १)
६०—दैवी-सम्पद् ।=)
६१—जीवन-सूत्र ॥।)
६२—हमारा कलंक ॥=)
६३—बुद्बुद ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग ? १॥)
६५—गांधी-विचार-दोहन ॥।)
६६—एशिया की क्रान्ति १॥)